हिन्दू राज्य तन्त्र

गण शासन-प्रणालीवाले

जिन

कठों, वैशालों और शाक्यों ने

देवों, मृत्यु, नृशंसता और जातिबंधनों से

मुक्त करनेवाले दर्शनों की

घोषणा की थी,

उन्हीं की

स्मृति को समर्पित ।

मज्जेत्त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे।
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टा सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

म० भा० शा० प० ६३। २८। २९।

जिस समय दंडनीति निर्जीव हो जाती है, उस समय तीनों वेद डूब जाते हैं, सब धर्म (अर्थात् सभ्यता या संस्कृति के आधार) (चाहे वे) कितने ही उन्नत क्यों न हों, पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। जब प्राचीन राजधर्म का त्याग कर दिया जाता है, तब वैयक्तिक आश्रम-धर्म के समस्त आधार नष्ट हो जाते हैं।

सब प्रकार के त्याग राजधर्म में ही दिखलाई पड़ते हैं और सब प्रकार की दीक्षाएँ राजधर्म में ही युक्त हैं। सब प्रकार की विद्याएँ राजधर्म में ही सम्मिलित हैं और समस्त लोक राजधर्म के ही अंतर्गत हैं।

भूमिका

यह हिंदू राज्यतंत्र—जो दो खंडों में विभक्त है और जिसके पहले खंड में वैदिक समितियों तथा गणों का और दूसरे खंड में एकराज तथा साम्राज्य शासन-प्रणालियों का वर्णन है—हिंदुओं के वैध-शासन-संबंधी जीवन का खाका है। यह विषय बहुत बड़ा है, परंतु इसका विवेचन नम्र है। इस विषय के प्राचीन ग्रंथ बहुत दिनों से लुप्त हैं; और उनमें जिस मार्ग का प्रदर्शन किया गया था, वह मार्ग बहुत दिनों से लोग भूल गए हैं। वह मार्ग फिर से ढूँढ़कर निकालना पड़ा था। सन् १९११-१३ में दंडनीति के क्षेत्र में प्राचीनों का राजमार्ग ढूँढ़ने के लिये एक संभावित रेखा खींची गई थी। इन पृष्ठों में वही रेखा अधिक प्रशस्त और गंभीर की गई है। और अब पूर्व-पुरुषों का पथ दृष्टिगोचर हो गया है।

विषय और कठिनता

लेखक ने यह जानने के लिये विशेष रूप से अध्ययन किया था कि यदि प्राचीन भारतवासियों ने वैध-शासन-संबंधी कोई उन्नति की थी, तो वह कैसी थी। सन् १९११ और १९१२ में इस अध्ययन के कुछ परिणाम Calcutta Weekly Notes नामक कानूनी सामयिक पत्र तथा कलकत्ते की मासिक 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित

आरंभिक कार्य

किया गया था। सन् १९१२ के हिंदी साहित्य-सम्मेलन में इसी से संबद्ध एक निबंध पढ़ा गया था और सन् १९१३ में 'माडर्न रिव्यू' में An Introduction to Hindu Polity नाम से उसका अनुवाद प्रकाशित किया गया था।

इसकी प्रस्तावना* के प्रकाशित होने से पहले किसी आधुनिक भाषा में इस विषय पर कोई ग्रंथ नहीं था। प्रस्तावना प्रकाशित करने का उद्देश्य पूरा हो गया। अब इस विषय को विश्वविद्यालयों के शिक्षा-क्रम में स्थान मिल गया है। और लेखक समाधानपूर्वक यह देखता है कि प्रायः प्रति वर्ष लोग, चाहे उसकी कृति का ऋण स्वीकृत करके और चाहे बिना किए, उसके निकाले हुए परिणाम उद्धृत करते हैं और बार बार उनका उल्लेख करते हैं। सब लोगों में इस विषय की चर्चा होने लगी है, इसमें प्रतिपादित सत्य मान्य स्वीकृत और गृहीत हो चुका है और अब यह विषय केवल उसी का नहीं रह गया; और ऐसा होना ठीक ही है†।

---

* प्रस्तावना से अभिप्राय पहले प्रकरण से है।

—अनुवादक।

† परंतु श्रीयुक्त बी० के० सरकार का मत कुछ और ही है। वे कहते हैं—"परंतु जायसवाल ने अपने लेखों में जितने उद्धरण दिए हैं, वे सभी उद्धरण बाद के लेखकों ने अपना लिए हैं"। (Political Institution, etc. लेप्जिग् १९२२. पृ० १६.) क्या वे लेखक इसके उत्तर में नहीं कह सकते–"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्"।

विन्सेंट स्मिथ ने लेखक से कहा था कि तुम हिंदू गणों का विस्तारपूर्वक विवेचन करो; और बहुत से मित्रों ने यह अनुरोध किया कि "प्रस्तावना" पुस्तक रूप में प्रकाशित करो। प्राय: उसी समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षा की काउंसिल के सभापति सर आशुतोष मुकर्जी ने उससे कहा था कि प्राचीन भारतीय इतिहास का एक शिक्षा-क्रम प्रस्तुत करो। उन दिनों प्राचीन हिंदू राज्यतंत्र-संबंधी एक विस्तृत ग्रंथ की बहुत बड़ी आवश्यकता समझी जाती थी। सन् १९१७ के अंत में लेखक ने डा० स्मिथ के अनुरोध का पालन करने और उक्त आवश्यकता की पूर्ति करने के विचार से प्रस्तावना को दोहराना आरंभ किया। उसी के परिणाम स्वरूप यह ग्रंथ प्रस्तुत हुआ है। अप्रैल १९१८ में दोहराने का काम समाप्त हो गया और हस्तलिखित प्रति तैयार हो गई। वह प्रति सर आशुतोष मुकर्जी को दे दी गई, जिन्होंने इसे कृपापूर्वक विश्वविद्यालय के शिक्षा-क्रम में रखकर अपने ऊपर इसके प्रकाशन का भार लिया।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना

जब इसके कुछ प्रकरण कंपोज हो गए, तब लेखक को सूचना मिली कि वैज्ञानिक ढंग से साहित्यिक चोरी करने का प्रयत्न हो रहा है। उस समय सर आशुतोष के यहाँ से इसकी हस्तलिखित प्रति चोरी हो गई। जिस संदूक में वह प्रति रखी हुई थी, उसमें से सर आशुतोष की और किसी चीज़

प्रकाशन में विलंब का कारण

पर उस गुप्त आलोचक और प्रशंसक ने हाथ नहीं डाला, केवल इसी की प्रति उड़ा ली। सर आशुतोष ने इस बात की सूचना पुलिस को दी। इसका परिणाम यह हुआ कि एक प्रोफेसर ने यह कहकर उन्हें वह प्रति लौटा दी कि इसे मैंने बरामद किया है। तीन दिन तक कैद में रहने के बाद प्रति को छुटकारा मिला। लेखक के पास और कोई प्रति नहीं थी; उधर कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रेस में प्रकाशन बहुत मंद गति से हो रहा था; और इन मौलिक अन्वेषणों को प्रकाशित कराने के लिये कलकत्ते के कुछ लोगों की बहुत प्रबल कामना थी, इसलिये लेखक ने वह प्रति अपने पास पटने में वापस मँगा ली। उस समय इसे प्रयाग में प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई। इसी बीच में सर शंकरन् नैयर ने इस हस्तलिखित प्रति का भारत सरकार के First Despatch on Constitutional Reforms (५ मार्च १९१९) वाले नोट में उल्लेख किया और कुछ प्रकरण 'माडर्न रिव्यू', फरवरी १९२०, में प्रकाशित भी हो गए। जब पूरा पहला भाग कंपोज हो गया, तब प्रयागवाले प्रेस का अँगरेजी विभाग बिक गया और हस्तलिखित प्रति फिर वापस आ गई। एक तो किसी "बाहरी" शहर में कोई अच्छा प्रेस नहीं मिलता था; और दूसरे लेखक को अपने पेशे से अवकाश नहीं मिलता था। इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण पिछली शरद् ऋतु तक इसके प्रकाशन की कोई नई व्यवस्था न हो सकी।

प्रस्तावना (१९१३) में जो रेखाएँ अंकित की गई थीं, उन्हीं का प्रस्तुत ग्रंथ में ठीक ठीक अनुसरण किया गया है। एक पौर-जानपदवाले प्रकरण को छोड़कर उन रेखाओं में और किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की गई है। बल्कि एक तरह से इस समस्त ग्रंथ को उसी प्रस्तावना का भाष्य कहना चाहिए।

अप्रैल १९१८ में जिस रूप में यह ग्रंथ प्रस्तुत हुआ था, उसी रूप में यह उपस्थित किया जाता है। हाँ, पौर-जानपदवाला प्रकरण, जो लेखक ने अप्रैल १९२० में 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित कराया था, उसमें अभिधान राजेंद्र (१९१९) के आधार पर §२७, पृ० ४५ की पादटिप्पणी की अंतिम पंक्ति और परिशिष्ट ग तथा घ अवश्य बढ़ाए गए हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र का समय

कौटिल्य अर्थशास्त्र का समय वही रक्खा गया है, जो पहले दिया गया था, यद्यपि डा० जोली ने अर्थशास्त्र के अपने संस्करण के कारण होनेवाले वाद-विवाद के आधार पर हाल में उसमें कुछ परिवर्तन किया है। यह विषय महत्त्वपूर्ण था, इसलिये प्रस्तुत लेखक ने यहाँ उस पर फिर से विचार किया है*। डा० जोली ने जो परिणाम निकाले हैं, उनसे सहमत होने में वह असमर्थ है।

---

* देखो परिशिष्ट ग; पहले खंड के अतिरिक्त नोट।

लेखक के दयालु मित्रों में से डा० ए० बैनर्जी शास्त्री और डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी, जिन्होंने इसके प्रूफ देखे हैं और मूल्यवान् सूचनाएँ दी हैं, श्रीयुक्त एच० चकलादार और श्रीयुक्त बटकृष्ण घोष, जिन्होंने उद्धरणों का मूल से मिलान किया है, और डा० कालिदास नाग तथा प्रो० अरुण सेन, जिन्होंने इसकी अनुक्रमणिका तैयार की है, धन्यवाद के पात्र हैं; उसके मित्र स्व० श्रीयुक्त हरिनंदन पांडेय ने उसे हस्तलिखित प्रति प्रस्तुत करने में सहायता दी थी।

कृतज्ञता-प्रकाश

पटना, नवम्बर १९२४. } **काशीप्रसाद जायसवाल।**

अनुवादक का निवेदन

आठ नौ वर्ष पहले की बात है, एक दिन संध्या समय काशी नागरीप्रचारिणी सभा में मान्यवर श्रीयुक्त (अब राय साहब) बा० श्यामसुंदरदासजी बी० ए० के हाथ में मैंने अँगरेजी के कुछ प्रूफ देखे थे। पूछने पर मालूम हुआ था कि श्रीयुक्त काशी-प्रसादजी जायसवाल ने एक ग्रंथ लिखा है, जो छप रहा है। उसी का यह प्रूफ है; और जायसवालजी इसका हिंदी अनुवाद कराने का विचार कर रहे हैं। मैंने वे प्रूफ कुछ उलट-पुलटकर देखे थे। उसी समय मेरे मन में यह कामना उत्पन्न हुई थी कि यदि मुझे इसका हिंदी अनुवाद करने का अवसर मिलता, तो बहुत अच्छा होता। परंतु साथ ही उस समय मुझे यह भी ध्यान आया था कि यह विषय बहुत गूढ़ है और इसका हिंदी अनुवाद करना मेरी अल्प योग्यता तथा सामर्थ्य के बाहर है। मेरी वह इच्छा और वह विचार मन ही मन दबा रह गया। फिर उस बात की मेरे सामने कभी कोई चर्चा नहीं हुई। मैं भी वह बात कुछ दिनों में बिलकुल भूल गया।

प्राय: तीन वर्ष पूर्व मेरे परम प्रिय मित्र स्वर्गीय श्रीयुक्त पं० राधाकृष्णजी झा एम० ए० ने प्रस्तुत पुस्तक की छपी हुई और तैयार प्रति मेरे पास भेजी और मुझसे कहा कि आप इसका अनुवाद करके भेज दें। मैंने बहुत डरते-डरते

अनुवाद में हाथ लगाया; क्योंकि मुझे यह मालूम हो चुका था कि हिंदी के दो एक नामी और लब्धप्रतिष्ठ ग्रैजुएट लेखकों ने इसके दो एक प्रकरणों का अनुवाद किया था, परंतु वह अनुवाद जायसवालजी को पसंद नहीं आया था। मैं सोचता था कि कहीं मुझे भी इसी प्रकार विफलता न हो। परंतु सौभाग्यवश मेरा अनुवाद ठीक समझा गया। केवल ठीक ही नहीं समझा गया, बल्कि जब मैं पहले खंड का अनुवाद लेकर पटने गया, तब उसे देखकर जायसवालजी ने उसकी बहुत अधिक प्रशंसा की और कहा कि यदि मैं स्वयं ही इसका अनुवाद करता, तो वह भी शायद इतना अच्छा न होता। मैंने समझ लिया कि जायसवालजी सज्जन और उदार प्रकृति के आदमी हैं; केवल मेरा उत्साह बढ़ाने के लिये ऐसा कह रहे हैं। जायसवालजी ने दो ही तीन दिन अनुवाद को इधर-उधर से उलट पुलट कर देखा था और उक्त सम्मति दी थी। परंतु अपनी दुर्बलताएँ तथा त्रुटियाँ मैं स्वयं जानता था; इसी लिये मेरा पूरा पूरा संतोष नहीं हुआ था। मैंने जायसवालजी से निवेदन किया कि आप कम से कम एक बार इसे आद्योपांत पढ़ जायँ; और यदि कहीं आवश्यकता समझें तो इसमें काट छाँट भी कर दें। उन्होंने इसे मंजूर भी कर लिया और अनुवादित प्रति अपने पास रख ली। परंतु उन्हें इसके दो चार पृष्ठ से अधिक देखने का अवकाश नहीं मिला और उन्होंने इसके दोहराने का काम स्वर्गीय झा जी पर छोड़ दिया। झा जी ने भी इसके

समय समय पर हिंदू भारत के अनेकानेक राजनीतिज्ञों और शासकों ने प्रस्तुत किया था। इस प्रकार के अवशिष्ट ग्रंथों में से एक ग्रंथ कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र * (ई०पू० ३००) है जिसमें पूर्व या आरंभिक मौर्यों के साम्राज्य-शासन-विधान आदि दिए हुए हैं। यह स्पष्ट है कि यह ग्रंथ प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों आदि के आधार पर प्रस्तुत हुआ था। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में ऐसे अठारह या उन्नीस आचार्यों के नाम दिए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी आचार्य हैं जिनका उल्लेख अन्यान्य स्थानों में हुआ है। उदाहरण स्वरूप महाभारत को लीजिए जिसमें हिंदू राजनीति विज्ञान† का संक्षिप्त

पारिभाषिक साहित्य

---

* सन् १६०६ में मैसूर राज्य की Bibliotheca Sanskrita की सं० ३७ में प्रकाशित और श्रीयुक्त शाम शास्त्री द्वारा संपादित। सन् १६१५ में मैसूर में प्रकाशित श्रीयुक्त शाम शास्त्री द्वारा अनुवादित कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र संतोषजनक नहीं है। अनेक स्थानों में मूल संदिग्ध है। ट्रावनकोर सरकार द्वारा प्रकाशित कामंदकीय नीतिसार की टीका में उद्धृत किए हुए अंशों से मिलान करने पर जान पड़ता है कि इस प्रकाशित मूल से उसमें अनेक स्थानों में बहुत अंतर है। डा० सोराबजी तारापुरवाला कृत Notes on the Adhyakshaprachara (१६१४) भी देखो।

कौटिल्य ग्रंथकार का नाम नहीं बल्कि गोत्र-संज्ञा है। (J. B. O. R. S. II. 80 और कामंदक पर शंकराचार्य्य I. 6.)

† शांतिपर्व अध्याय ५८ और ५६। यह संभव है कि गौरशिरा का समय कौटिल्य के समय के कुछ बाद हो। गौरशिरा के प्राचीन होने

इतिहास दिया है और जिसमें इन आचार्यों के अतिरिक्त एक और आचार्य—गौरशिरा—का उल्लेख है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक और आचार्य का उल्लेख है जिसका नाम आदित्य* दिया है। आचार्यों और लेखकों की इस विस्तृत सूची से पता चलता है कि कौटिल्य के समय से शताब्दियों पहले इस देश में राजनीति शास्त्र का अध्ययन होता था; और जिस समय कल्पसूत्रों की रचना समाप्त हो रही थी, उस समय तक यह एक प्रामाणिक विषय हो गया था† ।

आरंभिक काल

यदि हम यह मान लें कि ये सब आचार्य बीस बीस वर्ष के भी अंतर पर हुए थे, तो भी हमें यह मानना पड़ेगा कि हिंदू राजनीति शास्त्र-संबंधी साहित्य की रचना का आरंभ ईसा से ६५० वर्ष पूर्व हुआ

के संबंध में एक यह बात अवश्य है कि उसका उल्लेख प्राचीन लेखकों के वर्ग में हुआ है। इस समय शांतिपर्व जिस रूप में पाया जाता है, वह रूप उसे कामंदकीय के उपरांत प्राप्त हुआ है; और जान पड़ता है कि कामंदकीय के रचयिता से उस समय लोग परिचित थे। देखो अध्याय १२३। इसके अतिरिक्त नीचे के § ३ (पृष्ठ ९) की पहली पाद-टिप्पणी (†) भी देखो।

* आश्वलायन गृह्यसूत्र ३, १२, १६।

† सब से पहले जिन धर्मसूत्रों की रचना हुई थी, उनसे भी पहले अर्थशास्त्र-संबंधी साहित्य विद्यमान था। देखो आपस्तंब धर्मसूत्र २, ५, १०, १४. राजा पुरोहितं धर्मार्थकुशलम्। हरदत्त ने भी लिखा है—धर्मशास्त्रेष्वर्थशास्त्रेषु च कुशलम् पुरोहितं.........

था। समय-संबंधी इस निर्णय का समर्थन जातकों से भी होता है, जिनका रचना-काल बुद्ध से पूर्व (अर्थात् ईसा पूर्व ६०० से भी और पहले) माना जाता है। उन जातकों में यह बात स्वीकृत की गई है कि अर्थ अर्थात् अर्थशास्त्र का अध्ययन कृतकार्य मंत्रियों के पथ-प्रदर्शन के लिये आवश्यक और एक मुख्य विज्ञान है*।

पारिभाषिक शब्द

§ ३ जो ग्रंथ राजनीतिक सिद्धांतों अथवा शासन-कार्यों से संबंध रखते थे, वे आरंभ में दंडनीति और अर्थ-शास्त्र कहलाते थे। दंडनीति का अर्थ है शासन-संबंधी सिद्धांत† और अर्थ-शास्त्र का अभिप्राय है जनपद-संबंधी शास्त्र। कौटिल्य ने अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—"अर्थ का अभिप्राय है मनुष्यों की बस्ती; अर्थात् वह प्रदेश जिसमें मनुष्य बसते हों। अर्थशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो"‡।

---

* फास्बोल कृत जातक भाग २. ३०, ७४।

† शांतिपर्व अध्याय ५८, श्लोक ७७—७८। (कुंभकोणम् की छपी प्रति श्लोक ८०—८१।)

‡ मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति। अ० १५ पृ० ४२४। यहाँ वृत्ति की व्याख्या या स्पष्टीकरण उसके उपरांत आनेवाले मनुष्यवती शब्द से हो जाता है। इसलिये उसे वृत्तिर्वर्तनम् (भावे क्तिन्) मानना चाहिए। पालन का अर्थ केवल भरण-पोषण ही नहीं बल्कि वृद्धि भी है। इसका

उषना* ने अपने ग्रंथ का नाम दंडनीति और बृहस्पति† ने अपने ग्रंथ का नाम अर्थशास्त्र रखा था और ये दोनों ग्रंथ प्राचीन काल में बहुत प्रसिद्ध थे। महाभारत‡ में दंडनीति नामक एक ग्रंथ का, बल्कि यों कहना चाहिए कि विश्वकोष का, उल्लेख है जिसका रचयिता प्रजापति कहा गया है। यह विषय राज-शास्त्र + अथवा राजधर्म भी कहलाता है।

महाभारत में राजनीतिक ग्रंथ ई० पू० ४०० से ई० प० ५०० तक

महाभारत के शांतिपर्व में इस विषय का विवेचन राजधर्म के ही नाम से किया गया है। महाभारत की आधारभूत-सामग्री प्रायः प्राचीन ही है; परंतु ईसवी पाँचवीं शताब्दी तक उसमें वृद्धि होती गई थी; फिर भी उसका बहुत कुछ रूप ई० पू० १५० में ही निश्चित हो गया था ×।

समर्थन दंडनीति शब्द की उस व्याख्या से भी हो जाता है जो कौटिल्य ने की है (१, ४, पृ० ६) और जो इस प्रकार है—दंडनीतिः अलब्ध-लाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्धनी आदि आदि। और नीतिवाक्यामृत २ के इस वाक्य से इसका समर्थन होता है। अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितविवर्धनम् चेत्यर्थानुबंधः। नीतिवाक्यामृत २।

* मुद्राराक्षस, १।

† वात्स्यायन कामसूत्र, १।

‡ शांतिपर्व अ० ५६ (बंगाल) (५८ कुंभकोणम्) कामशास्त्र, १।

\+ शांतिपर्व अ० ५८ (बंगाल) (५७ कुंभकोणम्)।

× शांतिपर्व का समय जानने के लिये मेरा "टैगोर लेक्चर्स" में का पहला व्याख्यान देखो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो ग्रंथकार ऐतिहासिक व्यक्ति माने गए हैं, वे शांतिपर्व में दैवी विभूति और पौराणिक

जान पड़ता है कि प्राचीन शब्द "अर्थ" और "दंड" का स्थान आगे चलकर नीति और नय शब्दों ने ले लिया। कामंदक ने अपनी पद्यमय रचना का नाम नीति-सार रखा है। जो ग्रंथ शुक्र का बनाया हुआ माना जाता है और जो अपने वर्तमान रूप में एक प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ का दोहराया हुआ संस्करण है और जो कदाचित् उष्णा की प्राचीन दंडनीति के आधार पर बना है, उसका नाम भी नीतिसार—शुक्र नीतिसार—है*। पंचतंत्र नामक ग्रंथ में, जिसमें राजकुमारों तथा भावी राजनीतिज्ञों के लिये छोटी छोटी कहानियों में राजनीति के सिद्धांत बतलाए गए हैं, इस साहित्य का नाम 'नय-शास्त्र' दिया गया है†।

ई० चौथी और पाँचवीं शताब्दी के ग्रंथ

माने गए हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि शक और तोखरी लोग हिंदू राजाओं के अधीन हुए थे (अ० ६५)। पर यह घटना ईसवी पाँचवीं शताब्दी के आरंभ की है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कामंदक के समय में महर्षियों का बनाया हुआ राजनीति विज्ञान संबंधी जो ग्रंथ प्रचलित था (८, २३) वह शांतिपर्व के समाप्त होने के समय अप्राप्य हो गया था। (अ० ३४३, ९२ कुंभकोणम्।)

* मध्य युग तथा उसके उपरांत के धर्म-शास्त्र के टीकाकारों ने इस ग्रंथ का उल्लेख किया है और उसमें से अनेक अंश उद्धृत किए हैं। इस समय जो संस्करण प्रचलित है, उसमें मुझे वे उद्धरण नहीं मिले। इससे जान पड़ता है कि सत्रहवीं शताब्दी के लगभग अवश्य ही यह ग्रंथ फिर से दोहराया गया होगा। इसमें अधिकांश में प्राचीन सिद्धांत ही दिए गए हैं।

† नय-शास्त्र-कर्तृभ्यः। पंचतंत्र अध्याय १।

यह बात जानकर और भी आनंद तथा कुतूहल होता है कि मुसलमानों के शासन-काल में जिस प्रकार हिंदू धर्मशास्त्र का अध्ययन प्रचलित था, उसी प्रकार हिंदू राजनीति का अध्ययन भी प्रचलित था। मुझे यह जानकर आनंदयुक्त आश्चर्य हुआ कि चंडेश्वर, मित्र मिश्र और नीलकंठ आदि प्रसिद्ध धर्मशास्त्र निबंधकारों ने इन दिनों में भी हिंदू राजनीति संबंधी ग्रंथों की रचना की थी। इनमें से एक ग्रंथ का नाम राजनीतिरत्नाकर है और दूसरे का नाम वीरमित्रोदय राजनीति है। इसी प्रकार एक मयूख भी है जिसका नाम राजनीतिमयूख* है। अंतिम काल के इन ग्रंथों के महत्व के संबंध में केवल यही कहा जा सकता है कि ये ग्रंथ बिलकुल

हिंदू धर्मशास्त्रकारों के चौदहवीं से अठारहवीं शताब्द तक के ग्रंथ

---

* काशी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ स्व० बा० गोविंददास के पुस्तकालय में इस ग्रंथ की एक प्राचीन प्रति है। वीरमित्रोदय राजनीति काशी की चौखंभा संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुई है। चंडेश्वर के राजनीतिरत्नाकर का संपादन बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के लिये मैं (मूल ग्रंथकार) कर रहा हूँ।

चंडेश्वर से पहले दो और संग्रहकर्त्ता हो गए थे जिन्होंने हिंदू राजनीति-संबंधी सिद्धांतों का संग्रह किया था। इनमें से एक तो कल्पतरु का प्रसिद्ध ग्रंथकर्त्ता लक्ष्मीधर था और दूसरा कामधेनु का ग्रंथकर्त्ता था। इन आचार्यों ने क्रमशः राजनीतिकल्पतरु और राजनीतिकामधेनु की रचना की थी। चंडेश्वर ने अपने ग्रंथ में इन दोनों ग्रंथों में से उद्धरण दिए हैं।

पतन-काल के बने हुए हैं। इन्हें हम पुराणों के राजनीति-विज्ञान-संबंधी अंशों के वर्ग में रख सकते हैं। निबंधकारों और पुराणों में कोई मौलिकता नहीं है। पुराणों में कुछ प्रसिद्ध ग्रंथकारों के ग्रंथों के कतिपय अध्यायों का उद्धरण मात्र है। उदाहरणार्थ अग्नि पुराण में पुष्कर नामक एक ग्रंथकार के ग्रंथ से अनेक बातें लेकर रख दी गई हैं*। मुसलमानी शासन-काल के हिंदू न्यायाधीशों के संबंध में जान पड़ता है कि उनका सब से अधिक जोर सामग्री संग्रह करने की ओर था; और उनकी रचनाओं का सब से अधिक महत्व इसी बात में है कि उनमें ऐसे ऐसे आचार्यों के ग्रंथों के उद्धरण पाए जाते हैं जिनका और किसी प्रकार पता ही नहीं चलता। इसके अतिरिक्त पद्धति के संबंध की जो बहुत सी बातें प्राचीन काल से चली आती थीं, वे सब भी उन्होंने देखी सुनी थीं और वे उनके संबंध में प्रत्यक्ष जानकारी रखते थे। मुख्यतः इस विषय का विवेचन करनेवाले ग्रंथों के उपरांत दूसरी महत्वपूर्ण और उत्तम सामग्री हमें धर्म-शास्त्रों के उन अध्यायों में मिलती है जिनमें राजधर्म का विवेचन किया गया है; और उनमें शासन-संबंधी ऐसे नियमों का उल्लेख है, जिनकी व्याख्या धर्म-शास्त्रकारों ने की है।

पुराणों में राजनीति, ई० छठी और सातवीं शताब्दी

धर्मग्रंथों में राजनीति, ई० पू० ४०० से ई० प० ५०० तक

---

* यही बात मत्स्य पुराण के अध्याय २१५—२७ के संबंध में भी है।

§ ४ इस अवसर पर हमें मध्य युग के एक और प्रकार के ग्रंथों को भी भूल न जाना चाहिए। उनमें से एक छोटा सा ग्रंथ बृहस्पतिसूत्र है जिसका संपादन अभी हाल में डाक्टर एफ० डब्ल्यू० थामस ने किया है। यह भी सूत्रों में रचा हुआ अर्थशास्त्र-संबंधी ग्रंथ है। यद्यपि इसके अनेक अंशों की रचना निस्संदेह बहुत प्राचीन सामग्री के आधार पर हुई है, तथापि अपने वर्तमान रूप में वह मध्य युग की ही रचना मानी जा सकती है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इससे हमें बहुत सी महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। इसी प्रकार ईसवी दसवीं शताब्दी के सोमदेव का रचा हुआ नीतिवाक्यामृत भी सूत्रों में ही है। इसमें प्राचीन आचार्यों की अनेक उत्तम बातों का संग्रह है*। ये सूत्र साधारणतः उद्धरण मात्र हैं जिन्हें इस जैन ग्रंथकार ने "राजनीतिक सिद्धांतों का अमृत" बतलाया है; और उसका यह कथन बहुत कुछ ठीक भी है।

आरंभिक मध्य युग के ग्रंथ

---

* सोमदेव ने मनु का एक सूत्र उद्धृत किया है, जिसके द्वारा उसने यह दिखलाया है कि उनका मनु धर्मशास्त्र का कर्ता स्वायंभुव मनु नहीं है। उसने मानव धर्मशास्त्र से यह उद्धरण दिया है—

यदाह वैवस्वतो मनुः। उञ्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं संभावयंति। तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति। इति। नीतिवाक्यामृत ६।

§ ५ हमने नीतिशास्त्र के ऐसे ग्रंथों को नहीं लिया है जिनमें राजनीति का भी उल्लेख किया गया है। छत्रपति महाराज शिवाजी के गुरु स्वामी रामदास कृत दासबोध और गुरु गोविंदसिंह कृत हिंदी ग्रंथों के संबंध में इस विषय में लोगों में मतभेद हो सकता है; और कुछ लोग कह सकते हैं कि इनकी गणना राजनीति-शास्त्र का विवेचन करनेवाले ग्रंथों में नहीं होनी चाहिए। जो अनेक विचार प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक जान पड़ते हैं, उनके संबंध में भी बहुत से विशेष धर्मनिष्ठ यही कहेंगे कि इनका राजनीति से कोई संबंध नहीं है और ये शुद्ध धार्मिक विचार हैं। इसलिये उत्तम यही है कि हम अपने वर्तमान अनुशीलन में इस प्रकार के ग्रंथों को बिलकुल छोड़ ही दें।

नीति और धर्म संबंधी ग्रंथ

दूसरा प्रकरण

समिति

वैदिक काल की सार्वभौम संस्था

§ ६ जब हम हिंदू जाति के सब से प्राचीन साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें वेदों से पता चलता है कि बिलकुल आरंभिक काल में भी—जिसका पता चलता है—राष्ट्रीय जीवन के सब कार्य सार्वजनिक समूहों और संस्थाओं आदि के द्वारा हुआ करते थे। इस प्रकार की सब से बड़ी संस्था हमारे वैदिक काल के पूर्वजों की "समिति" थी। समिति का अर्थ है—सब का एक जगह मिलना या एकत्र होना। यह समिति जन-साधारण अथवा विशः* की राष्ट्रीय सभा थी;

समिति सब लोगों की प्रतिनिधि थी

---

* वैदिक काल में हिंदू समाज जनों अथवा वर्गों में विभक्त था। यथा—अनु, यदु, कुरु। पर साथ ही वे लोग यह भी समझते थे कि हम सब लोग एक ही जाति के हैं; क्योंकि वे सब लोग अपने आपको आर्य कहते थे। वर्गों के लोग "विशः" कहलाते थे, जिससे वैश्य शब्द निकला है और जिसका अर्थ है—सर्वसाधारण में से एक। वैदिक समाज की बातें जानने के लिये ज़िमर कृत Alt-indisches Leben देखो। इसके अतिरिक्त मैक्डानल और कीथ कृत Vedic Index के अंतर्गत "आर्य" और "जन" आदि शीर्षक लेख भी देखो।

क्योंकि हमें पता चलता है कि सब लोगों का समूह अथवा समिति ही राजा का पहली बार भी और फिर से भी चुनाव करती थी* । यह माना जाता था कि समिति में सभी लोग उपस्थित हैं ।

§ ७ इस समिति के द्वारा क्या क्या कार्य होते थे, इस बात का पता अनेक भिन्न भिन्न स्थानों से लगाया जा सकता है। हम अभी ऊपर इस बात का उल्लेख कर आए हैं कि समिति का सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य राजा चुनना था† । जो राजा एक बार निर्वासित कर दिया जाता था, वह भी फिर से चुना जा सकता था‡ । इस प्रकार राजकीय संघटन की दृष्टि से यह समिति सर्वप्रधान संस्था होती थी । अथर्व वेद (६.६४.) में, जिसमें एकता के लिये प्रार्थना की गई है, तथा ऋग्वेद (१०. १६१. ३.) में समान समिति और राज्य की समान नीति या मंत्र (समानो मंत्रः समितिः समानी) के लिये प्रार्थना की गई है; और यह भी प्रार्थना की गई है कि सब लोग

समिति के कार्य

---

* विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु । ऋग्वेद, १०.१७३.१. अथर्व वेद, ६. ८७.१ ।

ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह; अथर्व वेद; ६. ८८.३ ।

त्वां विशो वृणतां राज्याय अथर्व वेद; ३. ४.२ ।

इसके अतिरिक्त देखो अथर्व वेद; ३. ३.४.५. और § २०४ ।

† नास्मै समितिः कल्पेत । अथर्व० ५, १६, १५ ।

‡ वैदिक राजत्व के संबंध में २३ वाँ प्रकरण देखो ।

एकचित्त होकर एक ही व्रत तथा उद्देश्य (समानं व्रत सह चित्तमेषाम्) रक्खें*। इससे प्रकट होता है कि राज्य संबंधी विषयों अथवा मंत्रों पर समिति में विचार हुआ करता था।

राजा भी समिति में उपस्थित हुआ करता था और उसके लिये ऐसा करना आवश्यक समझा जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक मंत्र आया है जिसका अर्थ है—"जिस प्रकार एक सच्चा राजा समिति में जाता है (राजा न सत्यः समितीरियानः)†।

राजा और समिति

इससे यही तात्पर्य निकलता है कि समिति में उपस्थित होना राजा का कर्तव्य होता था; और यदि वह उसमें उपस्थित नहीं होता था, तो समझा जाता था कि वह सच्चा राजा नहीं है। इस बात का महत्व आगे चलकर उस समय दिखलाया जायगा, जब हम वैदिक काल की राज्याभिषेक संबंधी रीतियों पर विचार करेंगे। संभवतः जब तक समिति का अस्तित्व था, तब तक समिति के सम्मुख राजा के अपने आपको उपस्थित करने की प्रथा भी प्रचलित थी। छांदोग्य उपनिषद् में, जो वैदिक काल के ग्रंथों में प्रायः बहुतों के बाद का है, एक स्थान पर इस बात का उल्लेख है कि श्वेतकेतु आरुणेय गौतम एक

---

* सब का समान मंत्र हो, समान समिति हो, समान व्रत हो और समान विचार हों। ब्लूमफील्ड S. B. E. ४२.१३६।

† ऋग्वेद ९, ९२, ६। मिलाओ—यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। ऋग्वेद १०, ९७, ६।

बार पंचालों की समिति देखने गए थे और उस समय वहाँ उनका राजा (प्रवाहण जैवाल) भी समिति में उपस्थित था* ।

§ ८ समितियों में जो वाद-विवाद होते थे, उनमें वक्ता इस बात के आकांक्षी होते थे कि समिति में जो लोग उपस्थित हों, उन्हें हमारे भाषण सुंदर और प्रिय जान पड़ें (ये संग्रामा: समितयस्तेषु चारु वदेम ते †)। प्रत्येक वक्ता यह चाहता था कि मैं समिति में अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध कर दिखलाऊँ और कोई मेरा प्रतिवाद न कर सके‡ । अथर्व वेद २, २७ में नीचे लिखी जो प्रार्थना है, उसका संबंध भी इसी प्रकार के वाद-विवाद से है—

वाद-विवाद

"मेरा विपक्षी विवाद में मुझे न जीत सके......जो लोग मेरे विरुद्ध होकर विवाद करें, तू उनके विवाद को दबा दे, उन्हें शक्तिहीन कर दे ।"

---

* छान्दोग्य उप० ५, ३ । मिलाओ बृहदारण्यक उप० ६, २ और देखो नीचे का § ९ ।

† अथर्व वेद ७, १२, १ और १२, १, ५६ ।

‡ जब वह समिति में पहुँचे, तब उसे कहना चाहिए—"मैं श्रेष्ठ (अपने विपक्षियों से) होकर यहाँ आया हूँ । मैं यहाँ श्रेष्ठ होकर आया हूँ, जिसमें यहाँ कोई मेरा प्रतिवाद न कर सके ।" अभिभूरहमागमम् विराड प्रतिवाश्याः ।—पारस्कर गृह्य सूत्र ३, १३, ४ में उद्धृत एक वैदिक मंत्र । देखो S. B. E २९. पृ० ३६३ ।

"हे इंद्र, जो हम लोगों का शत्रु हो, तू उसके कथन को दबा दे। हम लोगों को अपने बल से उत्साहित कर। विवाद में मुझे श्रेष्ठ बना* ।"

समिति के राजनीति से इतरेतर कार्य

§ ९ ऊपर श्वेतकेतु का जो उल्लेख किया गया है, उससे यह भी सिद्ध होता है कि समिति में समय समय पर राजनीति के अतिरिक्त और और विषयों पर भी वाद-विवाद हुआ करते थे। श्वेतकेतु एक बहुत बड़े विद्वान् युवक थे, जिन्होंने छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार† चौबीस ही वर्ष की अवस्था में सब प्रकार के धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। छांदोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि यह युवक अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरांत तुरंत ही समिति में गया था, जो पंचालों की परिषद् भी कहलाती थी। (पञ्चालानां समितिमेयाय, पञ्चालानां परिषदमाजगाम।) पंचाल जाति की समिति में क्षत्रिय (राजन्य) राजा प्रवाहण जैवलि (अथवा जैवल) ने उससे दर्शनशास्त्र-संबंधी पाँच प्रश्न किए थे। पर वह अभिमानी तथा विवादेच्छु युवक (कुमार) उनमें से एक प्रश्न का भी उत्तर न दे सका और जैवालि के यह कहने पर उसे वहाँ से

---

* S. B. E. ४२. १३७–८।

† छांदोग्य उप० ६ (प्रपाठक) १। मिलाओ आपस्तंब धर्मसूत्र १, २, ५—६।

चले जाना पड़ा—"भला जो आदमी ये सब बातें नहीं जानता, वह कैसे कह सकता है कि मैंने शिक्षा प्राप्त की है"* ; यहाँ इस बात का पता चलता है कि समिति एक प्रकार से राष्ट्रीय विद्यापीठ का भी काम करती थी।

समिति विकसित समाज की संस्था थी

§ १०. यह बात विशेष ध्यान रखने की है कि ऋग्वेद के केवल उन्हीं अंशों में समिति का उल्लेख पाया जाता है जो सब से बाद के समझे जाते हैं। इससे हम यह अभिप्राय निकाल सकते हैं कि यह समिति आरंभिक वैदिक युग की नहीं थी, बल्कि परवर्ती विकसित तथा उन्नत समाज की थी। वाद विवाद की उन्नत अवस्था, वाद विवाद करने का पूर्ण अधिकार, दूसरों की सम्मति पर विजय प्राप्त करने की वक्ता की चिंता आदि बातें उच्च कोटि की उन्नति और सभ्यता की सूचक हैं। जरमनी में इस प्रकार की जो सार्वजनिक समितियाँ हुआ करती थीं, उनमें केवल रईस या सरदार ही बोला करते थे; और वहाँ उपस्थित रहनेवाले सर्व साधारण किसी विषय में अपनी मूक सम्मति केवल शस्त्रों की झंकार से ही सूचित किया करते थे†। वाद विवाद की कला से वे तब तक अपरिचित ही थे। अतः पश्चिमी युरोप की आरंभिक काल की सार्वजनिक समितियों के साथ इन समितियों की

* छांदो० उप० ५, ३; बृहदार० उप० ६, २।

† Tacitus, *Moribus et Populis Germani* C. II.

तुलना करना, जैसा कि कुछ युरोपियन विद्वानों ने किया है, ठीक नहीं है।

समिति की अधिक उन्नत अवस्था की सूचक दूसरी बात यह है कि सभा की भाँति, जिसका उल्लेख हम अभी आगे चलकर करेंगे, इस समिति का भी एक पति या ईशान होता था। उदाहरण के लिये पारस्कर गृह्यसूत्र ३. १३. ४. में उद्धृत मंत्र दिया जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि इस समिति का ईशान अपने बल में अद्वितीय है *।

समिति का सभापति

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह बात स्पष्ट है कि यह समझा जाता था कि समिति में सभी लोग उपस्थित हैं। परंतु, उदाहरणार्थ, जब श्वेतकेतु पंचालों की समिति में, जहाँ बड़े बड़े दार्शनिक और राजनीतिज्ञ बैठे हैं, जाता है, तब यह बात बहुत ही कम संभव है कि जाति के सभी लोग प्रतिनिधित्व के किसी सिद्धांत के बिना ही समिति में स्वयं उपस्थित हों। हमें पता चलता है कि वैदिक युग में लोग प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का आदर करते थे और अनेक प्रकार से उसका उपयोग भी करते थे। वहाँ राज्याभिषेक के अवसर पर ग्रामणी अथवा गाँव का मुखिया प्रतिनिधि रूप में उपस्थित होता

समिति का संघटन

* S. B. E. २९. ३६२। मूल—अस्याः पर्षद ईशानः सहसा सुदुष्टरो जन इति।

है* । अभिषेक में व्यापारियों और वणिकों आदि के भी प्रतिनिधि मिलते हैं । अथर्व वेद के एक मंत्र से, जिसमें भूमि की स्तुति की गई है और जिसमें सारे देश की समितियों का उल्लेख है (१२. १. ५६. ये संग्रामा समितयः†), यह पता चलता है कि जो जो एकत्र होते थे, वे (संग्रामाः) समस्त ग्राम (संग्राम) होते थे । यह बात बहुत ही प्रसिद्ध है कि गाँव के सब लोग मिलाकर एक समझे जाते थे । शर्यात मानव अपने ग्राम समेत घूमा करता था (शतपथ ब्रा० ४. १. ५. २. ७‡) । परवर्ती कालों में धर्म-शास्त्रों से पता चलता है कि यह 'गाँव' मुकदमे लड़ा करता था; यहाँ तक कि 'गाँव' पर जुरमाना भी होता था । ग्रामणी ही ग्राम-संघटन का सर्वस्व हुआ करता था, यहाँ तक कि गाँवों के नाम भी स्वयं उनके नेता या ग्रामणी के नाम पर होते थे+ । तैत्तिरीय संहिता में एक स्थान पर इस बात का भी उल्लेख है कि परस्पर निर्णय करने के लिये उत्सुक ग्राम के सब लोग मिलकर एकत्र होते हैं (संग्रामे संयत्ते समय-

---

* देखो § २११ ।

† ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

‡ मिलाओ—"अनेक वाक्यों में ग्राम शब्द इस प्रकार आया है जिससे उसका व्युत्पत्तिक अर्थ "मनुष्यों का समूह" जान पड़ता है ।" मैक्डनल और कीथ कृत Vedic Index १. २४५.

+ देखो काशिका ५. ३. ११२. 'देवदत्तो ग्रामणीरेषां त इमे देवदत्तकाः' ।

कामः*)। जान पड़ता है कि यदि बिलकुल आरंभ में ही नहीं, ते भी कम से कम परवर्ती काल में समिति के संघटन के मुख्य आधार ग्राम ही होते थे।

समिति का ऐतिहासिक वर्णन

§ ११. समिति का जीवन-काल या आयु बहुत दीर्घ हुआ करती थी। स्वयं वैदिक काल में ही वह अनादि समझी जाती थी और प्रजापति की कन्या कही जाती थी†। इससे जान पड़ता है कि उस समय भी वह एक प्राचीन संस्था रही होगी। उसके निरंतर अस्तित्व का प्रमाण पहले ते ऋग्वेद और अथर्व वेद से तथा तदनंतर छांदोग्य उपनिषद् (ई० पू० ८०० अथवा ७००) से लगता है और इसका समय वैदिक काल का प्रायः अंतिम अंश है। ये सब उल्लेख मिलाकर कई शताब्दियों तक पहुँचते हैं। यह संस्था अंतिम वैदिक काल तक नहीं रह गई थी; और उस युग में इसका अस्तित्व नहीं था, जिसके अंत में साम्राज्यों का उदय या आरंभ हुआ था। इस बात का प्रमाण पारस्कर गृह्य सूत्र (ई० पू० ५००) से चलता है, जिसमें समिति (जिसका दूसरा नाम उस समय परिषत् अथवा

---

* २. १. ८. ४. मिलाओ—आर्थीये सुहृद्भिरैकमत्यं समयः। शत्रुभिः संधिरित्यन्ये। तैत्तिरीय संहिता पर भट्ट भास्कर मिश्र।

युद्ध कार्य के लिये सब ग्रामों के एकत्र होने के कारण ही संग्राम शब्द का दूसरा अर्थ 'युद्ध' हुआ था।

† अथर्व वेद ७. १२।

पर्षत् पड़ गया था*) का उल्लेख स्मृति रूप में किया गया है (पा० गृ० सूत्र ३. १३. ४)। पारस्कर में, जैसा कि उसके आरंभिक वाक्य (अथातः सभाप्रवेशनम्) से सूचित होता है, प्राचीन समिति शब्द का व्यवहार सभा के लिये किया गया है। जातकों के समय (ई० पू० ६००) से पहले ही समिति का अंत हो जाता है। इस प्रकार हमें समिति का बहुत पुराना इतिहास ऋग्वेद के अंतिम काल से लेकर प्रायः (ई० पू० ७००) तक का मिलता है; और जान पड़ता है कि उसका अस्तित्व प्रायः एक हजार वर्ष तक अथवा उससे भी अधिक समय तक था। साम्राज्य युग में हमें समिति का कहीं पता नहीं चलता; परंतु उसके बदले में हमें दूसरी संस्था मिलती है। जैसा कि हम आगे चलकर (प्रकरण २७ में) दिखलावेंगे, यह संस्था समिति के भस्मावशेष से उत्पन्न हुई थी।

---

* परिषत् का शब्दार्थ है—महाधिवेशन। समिति के अधिवेशन से स्वयं समिति का ही बोध होने लगा था। कहीं कहीं पर्षत् रूप भी पाया जाता है। (मिलाओ बौधायन धर्म्मसूत्र १. १. ६.)

तीसरा प्रकरण

सभा

§ १२. वैदिक युग में तथा उसके उपरांत इसी प्रकार की एक और संस्था थी जो "सभा" कहलाती थी। यह समिति की बहन और प्रजापति की दो कन्याओं में से एक कही गई है*। यह भी एक सार्वजनिक संस्था थी। सभा में सब के एक मत होने के संबंध में जो प्रार्थना की गई है, उससे जान पड़ता है कि सभा

सभा—प्रधान सार्वजनिक संस्था

---

* अथर्व वेद ७, १२.

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥१॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे संतु सवाचसः॥ २॥
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिंद्र भगिनं कृणु॥ ३॥
यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा।
तद्व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥ ४॥

अनुवाद—

(१) प्रजापति की दोनों कन्याएँ समिति और सभा साथ साथ और मिलकर मेरी सहायता करें। जिनके साथ मैं मिलूँ, वे मेरे साथ सहयोग करें। हे पितरो, जो लोग एकत्र हों, उनके साथ मैं सुचारु रूप से बोलूँ।

में होनेवाला विरोध अथवा मतभेद भी उतना ही अधिक अप्रिय और भयंकर समझा जाता था, जितना कि समिति में का विरोध या मतभेद समझा जाता था। इसमें सभा को नरिष्टा कहा गया है। सायण ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि नरिष्टा बहुत से लोगों के उस निर्णय अथवा निश्चय को कहते हैं जिसका उल्लंघन न हो सके।

उसके प्रस्ताव

(नरिष्टा; अहिंसिता परैरनभिभाव्या... बहवः संभूय यद्येकं वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलंध्यम् अतः अनतिलंध्यवाक्यत्वात् नरेष्टेति नाम।) अतः अनतिलंध्य (जिसका उल्लंघन न हो सके) होने के कारण इसका नाम नरिष्टा पड़ा है। इस शब्द का उच्चारण करके वक्ता इसके संबंध में कहता है कि जो लोग तुझमें एकत्र होकर बैठे

---

(२) हे सभा, हम लोग तेरा नाम जानते हैं। अवश्य ही तेरा नाम नरिष्टा है। जो लोग तुझमें आकर बैठें, वे मेरे साथ मिलकर—मेरे अनुकूल बातें करें।

(३) इस सभा में जो लोग आकर एक साथ बैठे हैं, उनसे मैं बल और ज्ञान प्राप्त करूँ। हे इंद्र, मुझे तू सफल कर।

(४) यदि तुम्हारा मन कहीं दूर चला गया हो अथवा वह कहीं इधर उधर बँध गया हो, तो मैं उसे इस ओर प्रवृत्त करता हूँ। तुम्हारा मन आकर मुझमें रमे। [Sacred Books of the East के अथर्व वेद ४२. १३८ में जो अनुवाद दिया गया है, उसी का यह अनुवाद है। अंतर केवल यही है कि उसमें नरिष्टा शब्द का अर्थ "आनंद" अथवा "लोगों के लिये सब से अधिक अनुकूल" किया गया है (पृ० ५४४)]

हैं, वे मेरे अनुकूल ही बोलें। इससे यह सिद्ध होता है कि सभा में सब लोग स्वतंत्रतापूर्वक वाद विवाद करते थे; सभा का निश्चय सब लोगों के लिये बंधन रूप होता था और कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता था। तात्पर्य यह कि सभा का भी उतना ही अधिक महत्व था जितना कि समिति का था।

§ १३. सभा का समिति के साथ अवश्य ही कुछ न कुछ संबंध था। परंतु इस समय जो कुछ सामग्री प्राप्त है, उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह संबंध किस प्रकार का था अथवा उसका ठीक ठीक स्वरूप क्या था। संभवतः वह चुने हुए लोगों की एक स्थायी संस्था होती होगी और समिति के अधीन रहकर काम करती होगी। सभा शब्द का शब्दार्थ है—वह समूह जिसमें सब लोग एक साथ मिलकर प्रकाशमान हों*। जो लोग उसमें बैठने के अधिकारी होते थे, वे मानों प्रकाश या शोभा से समन्वित होते थे।

सभा का संघटन

उनका विशेष रूप से उल्लेख होता था†। वे विशेष आदर या सम्मान के पात्र होते थे‡। सभा का एक प्रधान अधिकारी होता था जो सभापति कहलाता था+।

---

* मिलाओ जयराम का—सहधर्मेण सद्भिर्वा भातीति सभा। पारस्कर गृह्य ३. १३. १।

† अथर्व वेद ७. १२; शुक्ल यजुर्वेद १६. २८.

‡ मिलाओ शुक्ल यजुर्वेद १६. २४. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च।

+ देखो § १४—की दूसरी पाद-टिप्पणी।

जान पड़ता है कि सभा में 'वृद्ध' भी होते थे। दूसरी प्राचीन संस्थाओं की कार्यकारिणी सभाओं में भी हमें 'वृद्ध' तथा 'पितर' मिलते हैं जो कार्यकारी अधिकारी होते थे (देखो § ४३)। ऊपर उद्धृत की हुई स्तुति में पितरों का जो उल्लेख है, वह संभवतः सभा के पितरों या वृद्धों का ही है। और कदाचित् यही भाव सायण ने इस रूप में प्रदर्शित किया है (हे पितरः पालकाः... पितृभूता वा हे सभासदो जनाः) ;

सभा का न्याय-संबंधी कार्य

§१४. सभा का एक कार्य तो बिलकुल ही स्पष्ट है। यह सभा राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य करती थी। पारस्कर गृह्य सूत्र में सभा को 'आपत्ति' और 'घोरता' कहा है*। यह आपत्ति और घोरता अपराधियों के लिये ही होती थी; और कदाचित् इसी लिये सभा के ये नाम भी ठीक इसी प्रकार पड़े थे, जिस प्रकार आजकल के फौजदारी न्यायालय अपराधियों

---

* ३. १३. नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि। जयराम ने इसका अनुवाद 'शब्द करनेवाला' और 'चमकनेवाला' किया है। (नदनशीला दीप्ता), क्योंकि उसके साथ न्याय किया गया है (धर्मनिरूपणात्)। परंतु ओल्डेनबर्ग ने S. B. E. २९. ३६२. में इसका अनुवाद आपत्ति और घोरता ही किया है। यदि जयराम का मत ही ठीक हो, तो यहाँ त्विषि से अग्नि का अभिप्राय होगा, जो धर्मशास्त्रों के अनुसार न्यायालयों में रखी जाती थी। इसका समर्थन कदाचित् इस बात से भी होता है कि वैदिक परिभाषा में 'सभ्य' आग को भी कहते हैं। (अथर्व० ८. १०. ५.)। देखो § १६ की तीसरी पाद-टिप्पणी। विदथ में भी अग्नि

(Criminals) के नाम पर Criminal Courts कहलाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद के पुरुषमेध में समाचर अथवा सभा की ओर जानेवाले को न्याय का आखेट (धर्माय सभाचरम ३०. ६.) कहा गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद (१०. ७१. १०) में सभा से लौटकर सफलतापूर्वक आनेवाले के मित्रों को प्रसन्न और आनंदित कहा गया है और स्वयं लौटकर आनेवाले को कलंक या अपराध से रहित बतलाया गया है।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥

शुक्ल यजुर्वेद में इस बात का भी उल्लेख है कि सभा में किए हुए अपराधों के लिये लोग पश्चात्ताप करते हैं *।

जातकों में बहुत प्राचीन काल से चला आया हुआ एक पद्य या गाथा है जिसमें कहा गया है कि जिस सभा में अच्छे लोग (संतो) न हों, वह सभा ही नहीं है; जो लोग धर्म्म (न्याय) की बात नहीं कहते, वे अच्छे आदमी ही नहीं हैं; और जो लोग राग-द्वेष आदि को छोड़कर न्याय की बातें करते हैं, वे ही अच्छे आदमी हैं।

रखी जाती थी। नादि का अर्थ यदि नदनशील या शब्दकारी किया जाय, तो इसका संकेत उस रूप की ओर हो सकता है जो उसे वाद विवाद के कारण प्राप्त होता था।

* यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ २०, १७.

न सा सभा यत्थ न संति संतो न ते संतो ये न भणंति धंमं ।
रागं च दोसं च पहाय मोहं धंमं भणंता च भवन्ति संतो ॥*

§१५. वैदिक साहित्य में सभा शब्द अनेक अर्थों में आया है। उदाहरण स्वरूप कहीं उससे सभामंडप का अभिप्राय है, कहीं साधारण घर या मकान का, कहीं द्यूतगृह का, और कहीं राजकीय न्यायालय का। परंतु संघटन संबंधी जिस अर्थ में हमने यह शब्द लिया है, उस अर्थ में यह ऋग्वेद में बहुत आगे चलकर एक स्थान पर अर्थात् १०. ७१. १०. में आया है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसलिये समिति के आरंभ काल की भाँति सभा का आरंभ काल भी ऋग्वेद काल के बिलकुल अंत में समझना चाहिए। उसका अस्तित्व भी प्रायः उतने ही समय तक था, जितने समय तक समिति का अस्तित्व था। आगे चलकर जब सब प्रकार के अधिकार आदि राजाओं और सम्राटों आदि में केंद्रीभूत हो गए थे, तब भी, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, राजा की न्यायसभा में प्राचीन काल की अपनी अनेक मूल बातें बची रह गई थीं;

सभा ऋग्वेद काल के अंत में थी

---

* जातक ५. ५०९. इस पद्य का पहला चरण व्यास ने अपनी स्मृति में कानूनी सभा की व्याख्या में दिया है (अपरार्क य० २. ४.)। उसमें संतो (सज्जन या भला आदमी) के स्थान पर व्यास ने वृद्धाः शब्द दिया है, जिससे जान पड़ता है कि सभा में संभवतः पहले केवल वृद्ध अथवा बड़े बूढ़े ही रहा करते होंगे।

और न्याय-संबंधी कार्यों में उसकी कुछ पुरानी मुख्य मुख्य बातें ज्यों की त्यों बनी थीं।

§१६. केवल समिति और सभा ही वैदिक युग की सार्व-जनिक संस्थाएँ नहीं थीं। उन दिनों धार्मिक जीवन की व्य-वस्था विदथ सभा* के द्वारा होती थी, जो समिति से भी पहले से चली आती थी†। जान पड़ता है कि सर्व साधारण की यही सब से पहली और मूल संस्था थी जिससे सभा, समिति और सेना की सृष्टि हुई थी; क्योंकि हमें विदथ का संबंध नागरिक, सैनिक और धार्मिक तीनों प्रकार के कार्यों के साथ दिखाई देता है (राथ‡)। सेना, जिसमें प्राचीन काल में सभी लोग सैनिक होते थे, स्वयं एक संस्था समझी जाती थी और संघटनात्मक समूह के रूप में होती थी।

विदथ और सेना

तं सभा च समितिश्च सेना च (अथर्व वेद १५ ६ २) +

---

* अथर्व वेद १. १३. ४ (व्हिटने ने इसका अनुवाद 'काउन्सिल' किया है।)

† ऋग्वेद १. ६० (जहाँ अग्नि को विदथ का केतु या झंडा कहा गया है।) जिम्मर (पृ० १७७) का अनुमान है, जो कदाचित् ठीक नहीं है, कि यह समिति से छोटी संस्था थी। (मैकडनल और कीथ)

‡ विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे। ऋग्वेद ३. ३८.५. ऋग्वेद १७. १. ४. और ३. २६. ६. इसके अतिरिक्त देखो विदथ के संबंध में मैकडनल और कीथ ५. १.

+ इससे तथा पृथिवी सूक्त (अथर्व वेद १२. १.५६.) से यही प्रमा-णित होता है कि सभा भी सेना की भाँति एक स्वतंत्र संस्था थी। कुछ

अभी तक सेना के संबंध में विशेष बातों का पता नहीं लगा है; और फिर इस पुस्तक में हमारा विशेष विचारणीय विषय हिंदू राजनीति का केवल नागरिक अंश ही है।

वैदिक युग के उपरांत की प्रवृत्ति

§ १७. इसके परवर्ती काल में चरणों के द्वारा शिक्षा की अलग व्यवस्था होती थी। यही चरण मानों वैदिक युग की शिक्षा संबंधी प्रधान केंद्र संस्था (Faculty) होती थी। जान पड़ता है कि शिक्षा संबंधी परिषद् आगे चलकर साधारण राष्ट्रीय परिषद् या समिति से अलग हो गई थी। इसी प्रकार आर्थिक या व्यापारिक जीवन का केंद्र व्यापारिक संघों में स्थापित हो गया था, जिनके अस्तित्व का पता जातकों और धर्म-सूत्रों में मिलता है। इस प्रकार वैदिक युग के परवर्ती काल में देश का राष्ट्रीय जीवन भिन्न भिन्न स्वाधीन संस्थाओं के रूप में व्यक्त होता था; और निरंतर इसी की उन्नति तथा विकास के द्वारा वैदिक युग की क्रमागत संस्थाओं ने आगे चलकर वर्गीय संस्थाओं का रूप धारण किया था।

विद्वानों का यह मत है कि यह वह भवन है जिसमें समिति का अधिवेशन होता था; पर वास्तव में यह बात नहीं है।

चौथा प्रकरण

हिंदू प्रजातंत्रों का आरंभ
और
प्रजातंत्र संबंधी हिंदू पारिभाषिक शब्द

§ १८. पिछले पैराग्राफ में हम कह आए हैं कि वैदिक युग के परवर्ती काल में लोगों की प्रवृत्ति अपने अपने वर्ग का स्वतंत्र शासन करने की ओर हो चली थी। हमारे इस कथन का दूसरा प्रमाण हिंदू प्रजातंत्र है। वैदिक युग के आरंभ में केवल राजाओं के द्वारा ही शासन हुआ करता था। परंतु वैदिक युग के उपरांत यह साधारण राज्य-व्यवस्था छोड़ दी गई थी और, जैसा कि मेगास्थनीज ने भी परंपरा से चली आई हुई दंत-कथाओं के आधार पर लिखा है, राजा के द्वारा शासन करने की प्रथा तोड़ दी गई थी और भिन्न भिन्न स्थानों में प्रजातंत्र शासन की स्थापना हो गई थी*। जैसा कि हम आगे चलकर हिंदू राजकीय शासन के प्रकरण में बतलावेंगे†, महाभारत का भी यही मत है कि वैदिक युग में केवल राजा

प्रजातंत्र वैदिक युग के परवर्ती हैं

* Epitome of Megasthenes, Diod II 38; Mc Crindle, Megasthenes, pp. 38, 40.

† देखो दसवाँ प्रकरण।

के द्वारा ही शासन करने की प्रथा थी। ऋग्वेद तथा अथर्व वेद में आई हुई स्तुतियों, महाभारत के मत तथा ईसवी चौथी शताब्दी में मेगास्थनीज की सुनी हुई परंपरागत बातों से यही सिद्ध होता है कि भारत में राजकीय शासन के बहुत बाद और आरंभिक वैदिक युग के उपरांत प्रजातंत्र शासन की प्रथा चली थी। प्रजातंत्र शासन के प्रमाण परवर्ती वैदिक साहित्य, ऋग्वेद के ब्राह्मण भाग, ऐतरेय तथा यजुर्वेद और उसके ब्राह्मण तैत्तिरीय में मिलते हैं। सुभीते और स्पष्टता के विचार से हम पहले परवर्ती इतिहास के कुछ अधिक प्रसिद्ध प्रजातंत्रों का उल्लेख करके तब उन प्रजातंत्री संस्थाओं का उल्लेख करेंगे जिनका वर्णन उक्त वैदिक ग्रंथों आदि में आया है।

हिंदू राज्यों की राजा-रहित शासन-प्रणालियों के उल्लेख से इस जाति के संघटनात्मक या शासन-प्रणाली संबंधी इतिहास के एक बहुत बड़े अंश की पूर्त्ति होती है। यह मानों उस इतिहास का एक बहुत बड़ा प्रकरण है। अतः इस विवेचन में हम इस विषय पर विशेष ध्यान देंगे।

हिंदू प्रजातंत्रों के प्राचीन पारिभाषिक शब्द

§ १६. प्रोफेसर रहीस डेविड्स ने अपने Budhist India नामक ग्रंथ में दिखलाया है कि शासन का प्रजातंत्री स्वरूप महात्मा बुद्ध के देश में तथा उसके आस-पास पाया जाता था। परंतु उसमें यह नहीं बतलाया गया है कि हमारे यहाँ के साहित्य में हिंदू प्रजातंत्रों के संबंध के पारिभाषिक

शब्द भी सुरक्षित हैं। इनमें से जिस पहले शब्द ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था, वह 'गण' शब्द है। हिंदू साहित्य की जैन शाखा के आचारांग सूत्र में मुझे दोरज्जाणि और गणरायाणि ये दो शब्द मिले थे (२. ३. और १. १०.)*। उस समय मुझे इस बात का ध्यान हुआ कि ये शासन प्रणालियों के व्याख्यात्मक शब्द हैं। दोरज्जाणि वे राज्य थे जिनमें दो शासक शासन करते थे। इसी प्रकार गणरायाणि वे राज्य होंगे जिनमें गण या समूह का शासन होता होगा। दूसरे अनेक स्थानों में मुझे केवल गण शब्द ही गण राज्य के स्थान में मिला था। और अधिक अनुसंधान करने पर मेरे इस विचार का समर्थन करनेवाले प्रमाण भी मिल गए कि गण से प्रजातंत्र का अभिप्राय लिया जाता था; और उन दिनों इसके जो दूसरे अर्थ प्रचलित थे, (उदाहरण स्वरूप फ्लीट तथा दूसरे विद्वानों ने इसका अर्थ "Tribe" तथा बुह्लर ने व्यापारियों अथवा कारीगरों आदि का संघ या सभा किया है) वे गलत थे। आगे चलकर मुझे यह भी जान पड़ा कि इसी अर्थ में व्यवहृत होनेवाला दूसरा शब्द संघ था। जिन प्रमाणों के आधार पर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, उनमें से कुछ प्रमाण

---

* अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा। इन शब्दों के महत्व के संबंध में देखो § १०० और १०१। गण राज्य का उल्लेख वराहमिहिर ने भी किया है। बृहत्संहिता ५.

उस मूल निबंध में भी दे दिए गए थे जो प्रस्तुत पुस्तक के नाम के शीर्षक में प्रकाशित हुआ था*। अब मेरे पास कुछ ऐसी नई सामग्री भी आ गई है जिससे इन दोनों शब्दों के महत्व पर और भी प्रकाश पड़ता है।

§२०. पहले यह जान लेना आवश्यक है कि गण शब्द का ठीक ठीक अर्थ क्या है। गण का मुख्य अर्थ है—समूह, और इसलिये गण-राज्य का अर्थ होगा—समूह के द्वारा संचालित राज्य अथवा बहुत से लोगों के द्वारा होनेवाला शासन। यहाँ बौद्धों के धर्मग्रंथों से हमें सहायता मिलती है। बुद्ध भगवान् से पूछा गया था कि भिक्खुओं की संख्या किस प्रकार जानी जाय†।

गण शब्द का महत्व

'जो भिक्खु भिक्षा के लिये गए थे, उनसे उस समय लोगों ने पूछा था कि महाराज कुल कितने भिक्खु हैं।'

'भिक्खुओं ने उत्तर दिया—भाई यह तो हम नहीं जानते।'

'इससे लोग बहुत चिंतित हुए। उन्होंने यह बात भगवान् बुद्ध से कही।'

बुद्ध ने यह व्यवस्था की कि उपोसथ के दिन सब भाइयों की गणना होगी; और यह गणना गण के ढंग पर अथवा मताधिकारपत्र एकत्र करके की जाया करे।

---

* माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, १९१३।

† महावग्ग, २, १८. देखो S. B. E. XIII. के पृ० २६९ में ह्रीस डेविड्स और ओल्डेनबर्ग का किया हुआ अनुवाद।

'हे भिक्खुओ! मैं यह निर्धारित करता हूँ कि तुम गण की रीति पर उपोसथ के दिन भिक्खुओं की गणना करो (गणमग्गेन गणेतुम); अथवा तुम शलाकाएँ (मताधिकारसूचक) लो।'

एक स्थान पर एकत्र होने पर सब भिक्खुओं की गणना की जाती थी; और वह गणना या तो गण की गणना के ढंग पर होती थी और या उस ढंग से होती थी जिस ढंग से आजकल गोटी के द्वारा मत एकत्र किए जाते हैं* और इनमें मताधिकारसूचक शलाकाएँ ली जाती थीं। इस संबंध में हमें महावग्ग के गणपूरक† शब्द पर भी ध्यान देना चाहिए। गण-पूरक उस प्रधान अधिकारी को कहते थे जो किसी समाज के जुड़ने पर उसका कार्य आरंभ होने से पहले यह देखा करता था कि नियमानुसार पूरक संख्या पूरी हो गई है या नहीं। गणपूरक का साधारण अर्थ होता है—'गण की पूर्त्ति करने-वाला'। इससे सिद्ध होता है कि गण लोगों का समूह या समाज होता था; और उसे गण इसलिये कहते थे कि उसमें उपस्थित होनेवाले लोग या तो कुछ विशिष्ट संख्या में होते थे और या उनकी गणना की जाती थी। तात्पर्य यह कि गण-राज्य उस शासन-प्रणाली को कहते थे जो बहुत से लोगों के समूह या पार्लिमेंट के द्वारा होती थी। इस प्रकार गण का

---

* देखो ग्यारहवें प्रकरण में विचार की कार्य-प्रणालीवाला अंश।

† गणपूरको वा भविस्सामीति। महावग्ग ३. ६. ६. मिलाओ S. B. E. खण्ड १३; पृ० ८०७।

दूसरा अर्थ पार्लीमेंट या सिनेट हो गया; और प्रजातंत्र राज्यों का शासन उन्हीं के द्वारा होता था, इसलिये गण का एक अर्थ स्वयं प्रजातंत्र राज्य भी हो गया।

§२१. पाणिनि ने अपने व्याकरण (३. ३. ८६) में (संघोद्धौ गणप्रशंसयोः।) कहा है कि संघ शब्द (साधारण संघात* शब्द के विरुद्ध हन् धातु से निकला है। ३. ३. ७६.) गण के अर्थ में आता है। पाणिनि ने जहाँ जहाँ व्यक्तिगत संघों का उल्लेख किया है, वहाँ वहाँ उन्होंने उन्हीं वर्गों या उपवर्गों के नाम लिए हैं जो विजयस्तंभों तथा दूसरे प्रमाणों के आधार पर प्रजातंत्री प्रमाणित हो चुके हैं†। पाणिनि के समय में संघ शब्द से गण का अभिप्राय लिया जाता था; और जान पड़ता है कि उस समय धार्मिक संघों का उतना अधिक महत्व नहीं स्थापित हुआ था और न उनकी उतनी अधिकता ही थी। वास्तव में, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, धार्मिक संघ तो राजनीतिक संघ का अनुकरण मात्र था। प्रसिद्ध प्रजातंत्री संस्थाओं को कौटिल्य ने संघ कहा है‡। इसलिये इस विषय में संदेह का कोई विशेष स्थान नहीं रह जाता कि आरंभ में संघ शब्द से प्रजातंत्र का ही अभिप्राय लिया जाता था। बौद्धों का सब से पुराना ग्रंथ स्वयं पाली पिटक भी इस बात

---

* गणप्रशंसयोः किम् । संघातः। काशिका पृ० २१४ (बनारस १८९८)

† देखो पृष्ठ ३६ का दूसरा नोट (†)

‡ देखो सातवाँ प्रकरण।

का समर्थन करता है। मज्झिम निकाय (१. ४. ५. ३५.) में संघ और गण शब्द साथ ही साथ आए हैं और बिना किसी प्रकार की गड़बड़ी या संदेह के उनसे बुद्ध के समय के प्रजातंत्रों का अभिप्राय निकलता है; 'इमेसम पि हि भो गोतम संघानम्, गणानम् सेयथिदम् वज्जिनम् मल्लानम्' अर्थात्—'हे गोतम, यह बात संघों और गणों के संबंध में है; जैसे वज्जि और मल्ल'' इस प्रकार संघ और गण शब्दों से, जिनका व्यवहार पाणिनि के समान ही यहाँ भी हुआ है, पर्याय रूप में ही प्रजातंत्र का अर्थ निकलता है। उस समय के गण और संघ प्रजातंत्र ही थे। उस समय के धार्मिक संप्रदाय धीरे धीरे इन शब्दों को ग्रहण कर रहे थे और उसका दूसरा धार्मिक या धर्मसंस्था संबंधी अर्थ उस समय अपना रूप ही धारण कर रहा था*।

गण शब्द से शासन-प्रणाली का बोध होता था, परंतु संघ शब्द से स्वयं राज्य का अर्थ लिया जाता था। जैसा कि पतंजलि ने कहा है, वह संघ इसलिये कहलाता है कि वह एक संस्था या एक समूह है (संहनन†)। जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, एक राजनीतिक समूह या संस्था के रूप में संघ के उसी प्रकार राजचिह्न या 'लक्षण'‡ आदि होते

---

* देखो म० नि० १. ४. ५. में संघी और गणी शब्दों का प्रयोग और नीचे § २३ का नोट।

† संहनने वृत्तः; पाणिनि पर पतंजलि का भाष्य ५. १. ५९. कीलहार्न खण्ड २. पृ० ३५६. (दूसरा संस्करण)।

‡ देखो § ४१।

थे, जिस प्रकार किसी राजा या सार्वजनिक नागरिक संस्था के होते थे।

§ २२. मॉनियर विलियम्स के संस्कृत-अँगरेजी कोष में गण शब्द का एक गलत अर्थ दिया गया है जिसके कारण संस्कृत साहित्य के अनेक आधुनिक विद्वानों को बहुत धोखा हुआ है। मॉनियर विलियम्स ने इस शब्द के अँगरेजी अनुवाद में अँगरेजी का 'Tribe' शब्द दिया है। गुप्त वंश के शिलालेखों का जो अनुवाद डा० फ्लीट ने किया है, उसमें उन लेखों में आए हुए मालव गण के संबंध में उन्होंने उसका यही अर्थ लिया है। जब इस शब्द का मेरा किया हुआ अर्थ प्रकाशित हुआ, तब भारतीय भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् इँग्लैंड-निवासी डा० एफ० डब्ल्यू० थामस ने लोगों को सुझाया कि गण शब्द का 'Tribe' वाला अर्थ अब लोगों को छोड़ देना चाहिए। और जब डा० फ्लीट ने आग्रहपूर्वक कहा कि इस शब्द का मेरा किया हुआ 'Tribe' अनुवाद ही ठीक है, तब डा० थामस ने उनसे कहा कि आप कहीं संस्कृत साहित्य में इस शब्द का व्यवहार इस अर्थ में दिखलाइए। पर डा० फ्लीट को अपने कथन के समर्थन में रघुवंश और महाभारत के हाल के छपे हुए अँगरेजी अनुवादों के अतिरिक्त और कोई आधार ही न मिला। डा० थामस ने उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि सेंटपिटर्सबर्गवाले कोष तथा कुछ आधु-

गण के संबंध में इँग्लैंड में मतभेद

निक कोषों ने 'Tribe' वाला अर्थ न कभी ग्राह्य किया और न उसे कभी प्रामाणिक ही समझा*। और फिर इसके उपरांत मुझे जो और नई सामग्री मिली है, उसके कारण तो इस संबंध में किसी प्रकार के मतभेद के लिये स्थान ही नहीं रह गया।

गण के संबंध में पाणिनि

§ २३. जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, पाणिनि ने गण और संघ दोनों शब्दों को समानार्थक ही माना है। यह कोई नहीं कह सकता कि यहाँ संघ शब्द का अँगरेजी के 'Tribe' शब्द के साथ किसी प्रकार का संबंध हो सकता है। फिर आगे चलकर आया है कि नए गणों की सृष्टि हुई†। तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि नई 'Tribe' की सृष्टि हुई? इस प्रकार के किए हुए अर्थ पर तो जल्दी कोई विचार ही नहीं हो सकता।

गण के संबंध में जातक

§ २४. जातकों के पहले और दूसरे भागों में दो वाक्य ऐसे आए हैं जिनसे हमें गण शब्द का महत्व समझने में बहुत अधिक सहायता मिलती है। उन वाक्यों में इस बात का वर्णन है कि श्रावस्ती के गृहस्थों ने बौद्ध भिक्षुओं का किस प्रकार आतिथ्य-सत्कार

---

* जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी १९१४, पृ० ४१३ और १०१०; १९१५ पृ० ५३३; १९१६ पृ० १६२।

† देखो पंद्रहवाँ प्रकरण। देखो सामन्नफल सुत्त § २—७, जहाँ नई शाखाओं के आचार्य 'संघी चेव गणी च' अर्थात् 'संघ के संस्थापक और गण के संस्थापक' कहे गए हैं। इससे भी 'Tribe' वाले अर्थ के सिद्धांत का खंडन होता है।

किया। तीन तीन चार चार गृहस्थ एक साथ मिल गए; और कहीं कहीं तो महल्ले भर के लोग एक साथ मिल गए और सब ने मिलकर भिक्षुओं के आतिथ्य-सत्कार का प्रबंध किया। कुछ अवस्थाओं में बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर भिक्षुओं के आतिथ्य का प्रबंध किया; और उनका यह मिलना गण-बंधन* के अनुसार था। यहाँ गण शब्द का वास्तविक अभिप्राय खुल जाता है; और वह अभिप्राय है—लोगों का एक संस्था या साधारण सभा समिति के रूप में मिलकर एक हो जाना। स्वयं बंधन शब्द से ही यह सिद्ध होता है कि गण का संघटन कृत्रिम था; और यह भाव Tribe या उपजातिवाले भाव के, जिसमें संघटन बिलकुल स्वाभाविक होता है, विपरीत है।

गण के संबंध में महाभारत

§ २५. इस विषय का सब से अच्छा विवेचन महाभारत के शांतिपर्व के १०७ वें अध्याय में है जिसमें स्पष्टतम शब्दों में यह बतलाया गया है कि गण वास्तव में क्या था। आगे चलकर चौदहवें प्रकरण में मैंने वह सारा अध्याय ही अनुवाद सहित दे दिया है। उस अध्याय के अनुसार गण अपनी सफलतापूर्ण परराष्ट्र-नीति के लिये, अपने धनपूर्ण राजकोष के लिये, अपनी सदा प्रस्तुत रहनेवाली सेना के लिये,

---

* जातक १, ४२२. कदाचि तीनि चत्तारि एकतो हुत्वा, कदाचि गणबंधनेन, कदाचि वीथि-सभागेन, कदाचि सकल नगरम् छंदकं संहरित्वा। जातक २, ४५. गणबंधनेन बहु एकतो हुत्वा।

अपनी युद्ध-निपुणता के लिये, अपने सुंदर राजनियमों के लिये और अपनी सुव्यवस्था के लिये प्रसिद्ध थे। उसमें राज्य की नीति अथवा मंत्र तथा गण के बहुसंख्यक लोगों द्वारा उस नीति के संबंध में विवेचन होने का भी उल्लेख किया गया है। अन्यान्य अनेक विशेषताओं में से ये विशेषताएँ किसी उपजाति अथवा व्यापारियों की संस्था के संबंध में नहीं हो सकतीं। इनका संबंध तो प्रजातंत्र अथवा बहुत से लोगों द्वारा शासित होनेवाले राज्य के संबंध में ही हो सकता है। उसका साधारण अर्थ है—समूह* और पारिभाषिक अर्थ है—प्रजातंत्र अथवा समूह द्वारा शासन।

गण के संबंध में धर्मशास्त्र और अमरकोश

धर्मशास्त्रों के टीकाकारों के समय से बहुत पहले ही राजनीतिक संस्था के रूप में गण का अंत हो चुका था। परंतु उन टीकाकारों ने कभी गण को उपजाति अथवा Tribe समझने की भूल नहीं की। वे उन्हें कृत्रिम जन-समूह या संस्था ही समझते थे। अर्थात् वे उनका वही अर्थ लेते थे जो डा० जोली ने अपने नारद के अनुवाद (S. B. E. खण्ड ३३, पृ० ६ का नोट) में लिया है; अर्थात् गण एक साथ रहनेवालों का समूह या सभा

---

* दिव्यावदान में भी इस शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार हुआ है जिसमें मंत्रियों के समूह को मंत्रियों का गण कहा गया है। पृ० ४०४ और ४२६।

है*। वास्तव में डा० जोली ने नारद के सातवें श्लोक में गण का अर्थ समूह किया है और गणार्थम्† का अर्थ 'समाज की ओर से' दिया है। यद्यपि यह अर्थ नारद के पारिभाषिक भाव के नितांत अनुकूल नहीं है, तथापि वह उसके मूल भाव के बहुत कुछ समीप पहुँच गया है और बहुत कुछ उसी के अनुकूल है।

आरंभिक गुप्त काल के कोशकार अमर ने (जो संभवत: चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में हुआ था) अपने कोश में राजक और राजन्यक इन दोनों पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा करते हुए कहा है कि राजक का अर्थ राजाओं का गण और राजन्यक का अर्थ (क्षत्रियों, साधारण शासकों) का समूह है। (उसमें लिखा है...अथ राजकम्। राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणाम् गणे क्रमात्। २, ८. और ११, ३–४।)

गण के संबंध में अवदानशतक

§ २६. अवदानशतक में कहा गया है कि गण राज्य किसी राजा के राज्य का बिलकुल उलटा या विपरीत है। बुद्ध के समय में उत्तरी भारत के मध्य देश के वणिक् दक्षिण भारत में गए थे। जब दक्षिण के राजा ने उनसे पूछा—'हे वणिको, वहाँ (उत्तर भारत में) कौन राजा है'? तब उन्होंने उत्तर दिया—

* मिलाओ जगन्नाथ, 'आदिशब्दो गणसंघादिसमूहविवक्षया' जोली की नारद स्मृति (मूल) पृ० १६३ का नोट। नीलकंठ ने अपने व्यवहार-मयूख (संविद् व्यतिक्रमवाला अध्याय) में गण और संघ को एक ही बतलाया है।

† S. B. E. खण्ड ३३, पृ० ३४६, श्लोक २४।

'महाराज, कुछ देशों में तो गण का शासन है और कुछ देशों में राजाओं का* ।' यहाँ राजा द्वारा होनेवाले शासन को गण द्वारा होनेवाले शासन का विपरीत बतलाया गया है। मानों उस समय राज्यों के यही दो विभाग अथवा रूप थे। और यदि राजा के द्वारा होनेवाले शासन के विपरीत कोई शासन हो सकता है, तो वह प्रजातंत्र शासन ही है।

जैन व्याख्या

§ २७. एक जैन ग्रंथ में 'गण' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मानव समाज के संबंध में 'गण' मनुष्यों का ऐसा समूह है जिसका मुख्य गुण है मन-युक्त अथवा विवेक-युक्त होना। उस ग्रंथ के अनुसार इस पारिभाषिक शब्द का कुछ दुरुपयोग भी होता है। उसके सदुपयोग के संबंध में दिए हुए उदाहरण इस प्रकार हैं— 'मल्लों का गण' (एक प्रसिद्ध प्रजातंत्री समाज जिसका आगे चलकर उल्लेख किया गया है †) और 'पुर का गण' (देखो पौर के संबंध में अठाइसवाँ प्रकरण)। उसके दुरुपयोग के उदाहरण स्वरूप टीकाकार ने वसुओं का गण (वसु देवताओं का गण) दिया है। उसका अ-सामाजिक उपयोग संगीत में

---

* एड० स्पेयर, पेट्रोग्रेड १६०२, भाग २, पृ० १०३. 'अथ मध्य-देशाद्वणिजो दक्षिणापथं गताः। तैः राज्ञो महाकप्फिणस्य प्राभृत-मुपनीतम्। राज्ञा उक्तं भो वणिजः कस्तत्र राजेति। वणिजः कथ-यन्ति। देव केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीना इति।' इस उद्ध-रण के लिये मैं श्रीयुक्त रामप्रसाद चन्द का अनुगृहीत हूँ।

† देखो सातवाँ प्रकरण।

मिलता है (भाव गण)। टीका के अनुसार असंघटनात्मक गणों में (समूह बनाने के) उद्देश्य या विवेक का अभाव होता है; जैसे वसुगण (वसु देवताओं का समूह)*। असंघटनात्मक समूह के संबंध में इस शब्द का व्यवहार ध्यान देने योग्य है। संघटनात्मक गण ही वास्तविक गण है और जैन ग्रंथकार की दृष्टि में वह गण मन से युक्त होता है। मल्लों अथवा पौरों के राजनीतिक समूह की भाँति वह मनुष्यों का एक संघटित और विवेकयुक्त समूह होता है। वह समूह कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार संघटित होता है और उस समूह या भीड़ भाड़ के विपरीत होता है, जो यों ही अथवा संयोगवश एकत्र हो जाती है।

§ २८. जब हम इस वाक्य पर महाभारत में दिए हुए गण संबंधी विवेचन और जातक तथा अवदान में आए हुए उल्लेखों पर विचार करते हैं और यह देखते हैं कि पाणिनि ने संघ

---

* सचित्तादि समूहो लोगम्मि गणो उ मल्लपूरादि।

कुप्पावयणम्मि लोउत्तर ओसन्नगीयाण। जैन प्राकृत विश्वकोश में उद्धृत किया हुआ अंश। अभिधान-राजेंद्र (रतलाम १९१९, खंड ३, पृ० ८१२) में इसकी व्याख्या में कहा गया है—सचित्तसमूहो यथा मल्लगणः। ....अचित्तसमूहो यथा वसुगणः कुप्रवचने द्रव्यगणो यथा चरकादिगणः। चरकः परिव्राजकः। (पृ० ८१४)

मिलाओ अचित्त के संबंध के पाणिनि ४, २, ४७ और ४, ३, ९६ जहाँ राजनीतिक राजभक्ति को सचित्त (चित्त, विचार या विवेकयुक्त) माना गया है। साथ ही देखो § ११८ तथा उसके नोट।

श्रौर गण को समानार्थी ही बतलाया है, तब हमें गण के वास्तविक महत्व के संबंध में किसी प्रकार के संदेह का स्थान नहीं रह जाता।

अब हम इन पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर स्वयं प्रजातंत्रों के संबंध में विचार करते हैं।

पाँचवाँ प्रकरण

पाणिनि में प्रजातंत्र

§ २६. पाणिनि ने अपने समय के हिंदू प्रजातंत्रों के संबंध में सब से अधिक महत्वपूर्ण बातें बतलाई हैं; और मेरी समझ में उसका समय ई० पू० ५००के लगभग है*। उसने संघ शब्द के भिन्न भिन्न अनेक रूप बनाने के अनेक नियम दिए हैं। उन नियमों की संख्या की अधिकता से पता चलता है कि पाणिनि काल के लोग तत्कालीन प्रजातंत्रों को कितना

संघ के संबंध में पाणिनि

---

* पाणिनि का यह काल उसके किए हुए राजनीतिक उल्लेखों के आधार पर निश्चित किया गया है और इस विषय का विवेचन एक स्वतंत्र निबंध में हो सकता है। तो भी यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है कि पाणिनि मखली खानाबदोशों से परिचित था (मस्करिन् ६, १, १५४; M. V. पृ० २५६; मस्करिन्; देखो इस शब्द के संबंध में पतंजलि का कथन।) मखली गोशाल के समय, जो बुद्ध का समकालीन था, मखली लोग आजीवकों में सम्मिलित हो गए थे और उसी समय से वे आजीवक कहलाने लगे थे। अंग स्वतंत्र राज्य नहीं रह गया था और कोशल तब तक स्वतंत्र था (४, १, १७०-१७५) इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाणिनि के अनुसार उसके समय में संघ शब्द का व्यवहार केवल प्रजातंत्र के अर्थ में होता था। उसमें यवनों की लिपि का भी उल्लेख है; और अब

अधिक महत्व देते थे। अन्यान्य महत्वपूर्ण प्राचीन संस्थाओं की भाँति प्रजातंत्रों ने भी प्राचीन वैयाकरणों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। इसके अतिरिक्त पाणिनि इस बात का भी पता देता है कि उसके समय में देश के किन किन भागों में प्रजातंत्रों का कहाँ कहाँ तक विस्तार था।

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, पाणिनि के अनुसार संघ एक पारिभाषिक शब्द है, जिससे राजनीतिक संघ का अभिप्राय सूचित होता है; अथवा जैसा कि स्वयं उसने कहा है, वह गण या प्रजातंत्र है। वह धार्मिक संघ से परिचित नहीं था; और यह धार्मिक संघ, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे (§४३), उसी राजनीतिक संघ के अनुकरण पर बना था। पाणिनि के समय में या तो बौद्ध और जैन संघों का अस्तित्व ही नहीं था (और उस दशा में पाणिनि का समय ई० पू० लगभग ६०० होगा) अथवा उस समय तक उन्होंने कोई महत्व ही नहीं प्राप्त किया था। यह बात ध्यान रखने की है कि कात्यायन (ई० पू० ४००)* के समय

इसका भी समाधान हो सकता है, क्योंकि जैसा आगे चलकर बतलाया गया है, मेरे अनुमान से उन यवनों का संबंध नीसा के हेलेनिक नगर राज्य से हो सकता है जो काबुल नदी के किनारे स्थित था और जो सिकंदर के समय से बहुत पहले वर्तमान था। इसके अतिरिक्त देखो भारत में बने हुए पारसी सिक्कों पर अंकित यूनानी अक्षर। रैप्सन कृत Indian Coins. प्लेट नं० १।

* J. B.O.R.S. खण्ड १; पृ० ८२ और ११६।

में भी संघ का वही पारिभाषिक अर्थ लिया जाता था जो पाणिनि के समय में प्रचलित था; क्योंकि उसने पाणिनि ३, ३, ८६ के संबंध में असम्मतिसूचक कोई वार्तिक नहीं दिया है। कौटिल्य (ई० पू० ३००) ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार किया है; पर उसमें इतना अंतर अवश्य है कि वह उसका व्यवहार बिलकुल साधारण अर्थ में भी करता है (पृ० ३६, ४६, ४०७); और वह अर्थ है—बहुत से लोगों की मिलकर बनाई हुई समिति, सभा या संस्था आदि।

संघ में जातियाँ

§ ३०. पाणिनि ने ५, ३, ११४ से ११७ तक वाहीक देश के संघों के संबंध में तद्धित के नियम दिए हैं। यदि किसी विशिष्ट संघ के अंतर्भुक्त व्यक्तियों का कहीं उल्लेख हो, तो इन नियमों के अनुसार यह जाना जा सकता है कि वे लोग ब्राह्मण थे, क्षत्रिय थे अथवा किसी और जाति के थे। उदाहरण के लिये मालव लोगों का प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए, जिन्हें सिकंदर के इतिहासलेखकों ने मल्लोई कहा है*। मालव संघ का जो सदस्य क्षत्रिय या ब्राह्मण न होगा, वह मालव्याः कहलावेगा;

* यूनानी लेखकों ने जिन Oxydrakai तथा Malloi का उल्लेख किया है, उन्हें व्याकरण के क्षुद्रक और मालव निश्चित करने का श्रेय सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर को प्राप्त है, जिन्होंने सब से पहले पुराने विद्वानों के निर्धारण की भूल सुधारी थी। उन विद्वानों ने Oxydrakai को पहले शूद्र समझा था। देखो इंडियन एंटीक्वेरी भाग १, पृ० २३।

और जो क्षत्रिय होगा, वह मालवः कहलावेगा। परंतु दोनों का बहुवचन मालवाः ही होगा*। इससे सिद्ध होता है कि उस समय तक हिंदू समाज अपनी पूर्ण और विकसित अवस्था तक पहुँच चुका था; और वह उस आरंभिक अवस्था में नहीं था जिसमें जंगली उपजातियों के लोग (Tribe) रहा करते हैं।

संघ के संबंध में कात्यायन

§ ३१. कात्यायन ने पाणिनि के ४, १, १६८ के अपने वार्तिक में कहा है कि (अन् प्रत्ययवाले) इस नियम का व्यवहार उसी क्षत्रिय के राष्ट्रीय नाम का व्युत्पत्तिक रूप बनाने में होगा, जो क्षत्रिय किसी संघ का सदस्य न होगा; क्योंकि यह नियम केवल एकराज के निवासी अथवा अधीनस्थ क्षत्रियों के ही संबंध में है†।

* आयुधजीविसंघाञ् ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ॥५॥३॥११४॥ काशिका...वाहीकेषु य आयुधजीविसंघस्तद्वाचिनः प्रातिपदिकाद्ब्राह्मणराजन्यवर्जितात्स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति। ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम्। राजन्ये तु रूपग्रहणमेव...क्षौद्रक्यः क्षौद्रक्यो क्षुद्रकाः। मालव्यः। मालव्यौ। मालवाः...पृ. ४५५—४५६।

† जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् ॥ ४ ॥ १ ॥ १६८ ॥ कात्यायन—क्षत्रियादेकराजात्संघप्रतिषेधार्थम्।

हिंदू राजनीति में एकतंत्री शासन को एकराज कहते हैं। वैदिक साहित्य में जहाँ राज्याभिषेक संबंधी रस्में दी गई हैं, वहाँ इस शब्द की व्याख्या की गई है। अब यह मान लिया गया है कि उसका अर्थ एकाधिकारी राजा अथवा Monarch है। (देखो मैकडनल और कीथ कृत Vedic Index भाग १ पृ० ११६) इसका शब्दार्थ होता है पूर्ण और एकाधिकारी राजा। (देखो, अर्थशास्त्र ११, १. पृ० ३७६।)

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संघ में जो भाव है, वह एकराजवाले भाव का विरोधी है। साथ ही इससे यह भी अभिप्राय निकलता है कि संघ या हिंदू प्रजातंत्र के सदस्य ब्राह्मण भी होते थे क्षत्रिय भी होते थे तथा और अन्यान्य जातियों के लोग भी होते थे। अर्थात् संघ में किसी एक ही जाति अथवा वर्ग के लोग नहीं होते थे।

§ ३२. पाणिनि ने अपने व्याकरण में नीचे लिखे संघों या प्रजातंत्रों के नाम दिए हैं—

पाणिनि के आयुध-जीवी संघ

१. वृक*,

२. दामनि† आदि,

इस संबंध में पतंजलि ने लिखा है—

क्षत्रियादेकराजादिति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। संघप्रतिषेधार्थम्। संघान्माभूत्। पञ्चालानामपत्यम् विदेहानामपत्यमिति॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। न ह्यन्तरेण बहुषु लुकं पञ्चाला इत्येतद्भवति। यस्तस्मादुत्पद्यते युवप्रत्ययः स स्यात्। युवप्रत्ययश्चेत्तस्य लुक्तस्मिंश्चालुग्भविष्यति॥ इदं तर्हि क्षौद्रकानामपत्यम् मालवानामपत्यमिति॥ अत्रापि क्षौद्रक्यः मालव्य इति, नैतत्तेषां दासे वा भवति कर्मकरे वा। किं तर्हि। तेषामेव कस्मिंश्चित्। यावता तेषामेव कस्मिंश्चिद्यस्तस्मादुत्पद्यते युवप्रत्ययः स स्यात्। युवप्रत्ययश्चेत्तस्य लुक्तस्मिंश्चालुंग्भविष्यति॥

अथ क्षत्रियग्रहणं किमर्थम्। इह मा भूत्। विदेहो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं वैदेहिः—कीलहार्न, खंड २; पृ० २६८-६९।

* वृकाट्टेण्यण् ॥५॥३॥११५॥ इस सूत्र का संबंध पहलेवाले सूत्र से है जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

† दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः ॥५॥३॥११६॥

३ से ८. } त्रिगर्त्तषष्ठ* अथवा छः त्रिगर्त्तों का समूह जिनके नाम किसी प्राचीन श्लोक के आधार पर काशिका में इस प्रकार दिए गए हैं†—

(क) कौंडोपरथ,

(ख) दांडकी,

(ग) कौष्टकी,

(घ) जालमानि,

(ङ) ब्राह्मगुप्त और

(च) जानकी।

९. यौधेय‡ आदि और

१०. पर्श्व‡ आदि।

पाणिनि ने इन संघों को आयुधजीवी कहा है। कौटिल्य ने इसके बदले में इन्हें शस्त्रोपजीवी कहा है। अब प्रश्न यह है कि

---

* दे० पृष्ठ ४६ का दूसरा नोट।

† आहुस्त्रिगर्त्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी।
कौष्टकिर्जालमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथजानकिः॥ पृ० ४९६.

‡ पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ ॥५॥३॥११७॥ काशिका में, इस सूत्र के उपरांत, कहा गया है कि इसी ११७वें सूत्र से आयुधजीवी संघ का विवरण समाप्त होता है। ४, १, १७८ में (जिसे सूत्र १६८ के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए) पाणिनि ने यौधेय को जनपद कहा है जिसका अर्थ राष्ट्र, देश अथवा राजनीतिक समाज है।

पाणिनि के बतलाए हुए पर्श्व वाहीक देश में रहते थे (देखो § ३४) और उनमें ब्राह्मण तथा राजन्य लोग थे। पर्श्वों का उल्लेख वेदों में भी है। ६, १. पृ० ५०४-५।

इन शब्दों का अर्थ क्या है। यों पहले पहल देखने में तो यही जान पड़ेगा कि इन शब्दों का अर्थ है--'शस्त्र अथवा आयुध के द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करनेवाले'। और माडर्न रिव्यू में प्रकाशित अपने पहले निबंध में मैंने भी इन शब्दों का यही अर्थ लिया था। पर दो कारणों से यह अर्थ ठीक नहीं ठहरता। अर्थशास्त्र में बतलाया गया है कि शस्त्रोपजीवी संघों के विरुद्ध या विपरीत भाववाले राजशब्दोपजीवी संघ हैं। स्वयं कौटिल्य ने ही आगे चलकर इस संबंध में जो और विवेचन किया है (पृ०३७७)*, उसके अनुसार राजशब्दोपजीवी का अर्थ है—वे संघ जिनके शासक राजन् या राजा का शब्द या उपाधि धारण करते हैं। शिलालेखों, सिक्कों तथा ग्रंथों आदि से हमें पता चलता है कि कुछ भारतीय प्रजातंत्र राज्यों में चुने या नियुक्त किए हुए शासक राजा की उपाधि धारण किया करते थे†। अतः यहाँ 'उपजीवी' का अर्थ 'जीविका निर्वाह करनेवाले' नहीं हो सकता; क्योंकि प्रजातंत्र कभी राजा की उपाधि धारण करके जीविका का निर्वाह नहीं कर सकता। उपजीव क्रिया का एक और प्रसिद्ध अर्थ है जो कौटिल्य के दोनों प्रकार के प्रजातंत्रों के संबंध में बहुत अच्छी तरह लग सकता है।

आयुधजीवी का अभिप्राय

---

* राजशब्दिभिरवरुद्धमवक्षिप' वा......अर्थशास्त्र; ११; पृ० ३७७.

† देखो १८ वाँ प्रकरण और § ५१.

वह अर्थ है—'मानना' या 'धर्म आदि का पालन करना'। मनु ने १०, ७४ में इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। उसमें कहा गया है कि ब्राह्मण को छः कर्मों का पालन करना चाहिए जिनमें से एक कर्म दान देना भी है*। यदि हम उपजीवी शब्द को इस अर्थ में लें, तो इससे यह भाव निकलता है कि जो संघ अस्त्र शस्त्र का व्यवहार करते थे अथवा युद्ध-कला में निपुण हुआ करते थे, वे शस्त्रोपजीवी कहलाते थे; और जो संघ राजशब्दोपजीवी कहलाते थे, उनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे। यही बात हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि शस्त्रोपजीवी संघों में जो लोग होते थे, वे सब युद्ध-विद्या में बहुत निपुण हुआ करते थे; और राजशब्दोपजीवी संघों के शासक या प्रधान सदस्य राजा की उपाधि धारण करते थे (देखो § ५६)।

§ ३३. मकदुनिया या मैसिडोनिया के लेखकों† ने ऐसे अनेक प्रजातंत्रों का उल्लेख किया है, जिनमें से वैयाकरणों के

---

* ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्म्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्म्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्म्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥ मनु, १०.
कुल्लूक, उपजीवेयुः = अनुतिष्ठेयुः।

† देखो यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित हिंदू प्रजातंत्रों के संबंध में ८ वाँ प्रकरण।

अनुसार दो आयुधजीवी या शस्त्रोपजीवी संघ हैं। ये दोनों क्षुद्रक और मालव हैं। इनके राज्यों की सीमा भी बहुत विस्तृत थी और आबादी भी बहुत अधिक थी। इन राज्यों में अनेक नगर थे। वे सब बहुत ही संपन्न और धन-धान्य-पूर्ण थे। यूनानी लेखकों ने जो विवरण दिए हैं, उनसे कहीं यह बात सूचित नहीं होती कि ये लोग धन के लोभ में दूसरों के लिये लड़ते फिरते थे। ये दोनों ही बड़े बड़े राज्य थे जो अपनी वैभव-संपन्नता तथा नागरिक व्यवस्था के लिये प्रसिद्ध थे। परंतु यहाँ प्रश्न यह है कि क्या इन लेखकों ने भी इन राज्यों के लोगों में कुछ ऐसी बातें देखी थीं जो आयुधजीवियों के लिये आवश्यक हैं। हम कहते हैं कि हाँ, अवश्य देखी थीं; और उन लोगों के लेखों आदि से इस शब्द का वही अर्थ होता है जो हमने ऊपर दिया है। वे लेखक कहते हैं कि इन स्वतंत्र समाजों के लोग युद्ध-विद्या में निपुण होने के लिये बहुत अधिक प्रसिद्ध थे*। यूनानी लेखकों ने एक और संघटन का उल्लेख किया है जिसमें एक कानून या राजनियम ऐसा भी था जो नागरिकों को युद्ध-संबंधी कार्यों या अभ्यास आदि के लिये कुछ निश्चित अथवा परिमित समय ही व्यतीत करने के लिये बाध्य करता था। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि कुछ लोग ऐसे भी होते थे जो अपना सारा या बहुत अधिक समय केवल इसी काम में लगाया करते थे जिसके कारण राज्य

---

* देखो आगे आठवाँ प्रकरण।

को नियम बनाकर उन्हें रोकना पड़ता था* । तात्पर्य यह कि उपजीव से यहाँ अभिप्राय राजकीय अभ्यास या कार्य का था। पाणिनि के आयुधजीवी संघों से उन्हीं संघों का अभिप्राय लेना चाहिए जो युद्ध-कला में विशारद होना अपना प्रधान और मुख्य सिद्धांत मानते थे। अपने समकालीन लोगों या राज्यों की दृष्टि में उनके राजकीय संघटन की यही सर्वप्रधान विशेषता थी। ऐसे ही कुछ और प्रकार के प्रजातंत्र थे जिनके यहाँ ऐसे नियम थे जिनके अनुसार राज्य के चुने हुए राष्ट्रपति अथवा शासन-कार्य करनेवाले मंडल या वर्ग के प्रत्येक सभासद अपने आपको राजा कह सकते थे† ।

---

* देखो मौसिकनो के संबंध में स्ट्रैबो १५; ३४. और § ४१.

† आरंभ में मैंने राजशब्दोपजीवी का जो अर्थ किया था, वह अर्थ ठीक नहीं था और इस अवसर पर मैं उसे ठीक कर लेता हूँ। पहले मैं समझता था कि इस प्रकार के प्रजातंत्र के सभी निवासी राजा कहे जाते थे। परंतु अब मुझे पता चला है कि यह बात नहीं थी। बौद्ध ग्रंथों आदि में जिन प्रजातंत्रों का उल्लेख है और जिनके संबंध में हम आगे चलकर विवेचन करेंगे, उन प्रजातंत्रों में केवल चुने हुए सभापति को ही राजा कहते थे। हाँ, उस प्रजातंत्र के नागरिक भी साधारणतः इसलिये राजा कहे जाते थे कि वे अपने प्रजातंत्र के अंग होते थे। उनके राजा कहे जाने का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उनमें से प्रत्येक के राजा चुने जाने की संभावना हुआ करती थी।

§ ३४. इसके अतिरिक्त पाणिनि ने यह भी कहा है कि ये सब प्रजातंत्र वाहीक देश में थे। यह वाहीक देश कहाँ था? इस बात का पता लग चुका है कि महाभारत में जिन वाहीक लोगों का उल्लेख है, वे पंजाब में रहते थे*। परंतु अभी तक वाहीक देश के महत्व पर विचार नहीं किया गया है। मेरा मत है कि वाहीक का अर्थ है—नदियों का प्रदेश†; और इस दशा में वाहीक देश के अंतगत सिंध और पंजाब दोनों होने चाहिएँ। महाभारत के अनुसार भी यही प्रदेश वाहीक के अंतर्गत आते थे। उसमें लिखा है कि वाहीक वे लोग थे जो पाँचों नदियों तथा छठे सिंधु नद की तराई में रहते हैं‡। व्याकरण में दिए हुए वाहीक प्रजातंत्रों

वाहीक देश कहाँ था

---

* देखो सिल्वेन लेवी का लेख इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ३५, (१९०६) पृ० १८ में।

† यह शब्द 'वह्' धातु से निकला जान पड़ता है जिसका अर्थ 'बहना' है। वाहिनी का एक अर्थ नदी भी होता है।

‡ पंचानां सिंधुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः। कर्णपर्व ४४.७. पाणिनि के संबंध में नागेश का प्रदीपोद्योत 'एङ् प्राचां देशे' १. १. ७५,

"शतद्रुविपाशैरावती वितस्ता चंद्रभागेति पंचनद्यः सिंधुः षष्ठस्तन्मध्यदेशो वाहीक इति तद्व्याख्यातारः।"

महाभारत के अनुसार सारा पंजाब एक ही शासक के अधीन था और वह शासक शाकल में रहता था; और सब लोग धर्मभ्रष्ट होते जा रहे थे। इससे मेनांडर और उसके बाद का समय सूचित होता है।

का जो कुछ इतिहास हम लोगों को ज्ञात है, उसके आधार पर कह सकते हैं कि सिंध देश भी वाहीक के अंतर्गत ही था। उदाहरण के लिये क्षुद्रकों और मालवों का कुछ अंश सिंध में भी था*। काशिका में वे वाहीक संघों के उदाहरणों के अंतर्गत रखे गए हैं†। वाहीक देश हिमालय से दूर या अलग था अर्थात् उसमें पहाड़ी प्रदेश सम्मिलित नहीं थे‡। छः त्रिगर्त्त हिमालय पर्वत के ठीक नीचे पंजाब में जम्मू या काँगड़े के आसपास थे।

पाणिनि में और प्रजातंत्र

§ ३५. इन सैनिक प्रजातंत्रों के अतिरिक्त पाणिनि ने छः और ऐसे समाजों के नाम दिए हैं जिनके संबंध में दूसरे स्वतंत्र साधनों से|| यह पता चलता है कि उस समय उनमें भी प्रजातंत्र शासन प्रचलित था। उनके नाम इस प्रकार हैं—

---

* देखो महाभारत कर्णपर्व ४०, ४१. जहाँ मद्रों और सिंधु-सौवीरों को एक साथ कर दिया गया है। J. R. A. S. १९०३, पृ० ८६९ में विंसेंट स्मिथ का लेख देखो।

† वाहीकेषु य आयुधजीविसंघस्तद्वाचिनं...कौंडीबृस्यः। क्षौद्रक्यः। मालव्यः... पृ० ४५५-६.

‡ महाभारत में वाहीक देश हिमालय से दूर या अलग बतलाया गया है (कर्णपर्व ४४. ६)। पाणिनि ने भी पार्वतेयों को अलग ही लिया है ४. ३. ९१.

|| यहाँ जिन प्रजातंत्रों के नाम आए हैं, उनके विवरण के लिये आगे के प्रकरण देखो।

(१) मद्र *
(२) वृजि
(३) राजन्य †
(४) अंधकवृष्णी ‡
(५) महाराज +
(६) भर्ग ||

यद्यपि पाणिनि ने इन सब को कहीं संघ नहीं कहा है, तथापि नियमों से सिद्ध होता है कि पाणिनि को यह बात

---

* मद्रवृज्योः कन् ॥ ४ ॥ २ ॥ १३१ ॥

† राजन्यादिभ्यो वुञ् ॥ ४ ॥ २ ॥ ५३ ॥ साथ ही दूसरे प्रसिद्ध प्रजातंत्री समाजों के नामों के लिये इस पर गणपाठ देखो।

‡ राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु ॥ ६ ॥ २ ॥ ३४ ॥

+ महाराजाट्ठञ् ॥ ४ ॥ ३ ॥ ९७ ॥ देखो आगे महाराज जाति के संबंध में किया हुआ विवेचन §§ ११८, और १२८ में।

|| न प्राच्यभर्गादि-यौधेयादिभ्यः ॥ ४ ॥ १ ॥ १७८ ॥

यहाँ भर्ग लोग प्राच्य या पूर्वी कहे गए हैं। महाभारत, सभापर्व ३०. १०. १४ के अनुसार ये लोग वत्सों की सीमा और दक्षिणी मल्लों के बीच में थे; और ये दोनों विदेहों से बहुत दूर नहीं थे। यौधेयों की भाँति ये लोग भी उस समय एक राजनीतिक वर्ग के ही रूप में थे और इसी लिये पाणिनि ने इन्हें उन्हीं के समूह में रखा है (४. १. १६८-७८)। बौद्ध ग्रंथों में भर्गों का उल्लेख प्रजातंत्रवालों के समूह में है और उनका विस्तार कोशल से पूर्व में कोशांबी तक बतलाया गया है और उन्हें वत्सों के ठीक बाद ही रखा गया है। (Buddhist India पृ० २२ और जातक ३, १५७.)

ज्ञात थी कि इन सब में भी प्रजातंत्र शासन-प्रणाली ही प्रचलित है। हम आगे चलकर इन सब के संबंध में विचार करेंगे, इसलिये यहाँ इनका विस्तृत वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

§ ३६. पाणिनि ने जिन अंधक-वृष्णियों का उल्लेख किया है, उन पर अलग विचार होना चाहिए। पुराणों के अनुसार ये वही हैं जो सात्वत् हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सात्वतों में भौज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी, और उनके शासक भोज कहलाते थे*। महाभारत में अंधकों के शासक भोज कहे गए हैं; और स्वयं यादवों का एक उपवर्ग या विभाग भी भोज कहलाता था†। वृष्णियों की शासन-प्रणाली में कोई राजा नहीं होता था, इस बात का पता हमें इस दंतकथा से भी लगता है कि उन्हें इस बात का शाप मिला था कि उनमें के लोग कभी राजा के रूप में अभिषिक्त न होंगे। महाभारत के सभापर्व (३७; ५) में कहा गया है कि दशार्ण वृष्णी लोग राजा-रहित थे। उनका संघ था, इस बात का प्रमाण कौटिल्य से भी मिलता है जिसमें इस बात का उल्लेख है कि प्राचीन काल में द्वैपायन को रुष्ट करने के कारण वृष्णी संघ पर आपत्ति

अंधक-वृष्णी संघ

---

* ऐतरेय ब्राह्मण ८; १४.

† सभापर्व, अध्याय १४; शांतिपर्व, अध्याय ८१.

आई थी* । महाभारत में अंधक-वृष्णी संघ के संबंध में एक प्राचीन कथा भी दी गई है† । उनमें कोई प्रजातंत्री राजा नहीं था, इस बात का प्रमाण उनके सिक्कों से भी मिलता है जो ई० पू० पहली शताब्दी की लिपि में हैं और जो उनके गण के नाम से अंकित हैं‡ ।

'राजन्य' का शासन-प्रणाली में महत्व

§ ३७. वृष्णियों के सिक्कों में एक विशेषता है जिसके कारण दूसरे प्रजातंत्रों के सिक्कों से वे पृथक् हैं। जिन प्रजातंत्रों में चुना हुआ राजा नहीं होता था, उनके सिक्के उनके गण के नाम से अंकित होते थे+। जैसे—आर्जुनायनों के गण की जय हो, मालवगण की जय हो, यौधेयगण की जय हो। ऐसे यौधेय सिक्कों में एक प्रकार के सिक्के अपवाद रूप भी हैं जो मंत्रधरों और गण दोनों के नाम से

---

* अर्थशास्त्र १, ६, ३, पृ० ११.

† देखो परिशिष्ट क जिसमें सारी कथा अनूदित और उद्धृत है।

‡ कनिंघम कृत Coins of Ancient India पृ० ७०; प्लेट ४; जरनल रायल एशियाटिक सोसायटी; १९००; पृ० ४१६, ४२० और ४२२ (रैप्सन)।

+ कनिंघम कृत Coins of Ancient India पृ० ७७, ८९ प्लेट ६—७.

विंसेंट स्मिथ कृत Catalogue of Coins in the Indian Museum, Calcutta. भाग १, पृ० १६६, १७०.

अंकित हैं*। वृष्णियों के सिक्के इनमें से किसी प्रकार के सिक्कों से नहीं मिलते। वे वृष्णियों के राजन्य और गण के नाम से अंकित हैं†। वृष्णि-राजन्न-गणस्य। अब इस बात का पता लगाना आवश्यक है कि शासन-प्रणाली में राजन्य शब्द का महत्व और अर्थ क्या है। यह बात मानने के लिये प्रमाण हैं कि वृष्णियों के संबंध में इस शब्द का कुछ विशिष्ट अर्थ था। अब हमें यह देखना चाहिए कि वह अर्थ क्या है और इस शब्द का क्या महत्व है।

§ ३८. पाणिनि से हमें पता चलता है कि अंधक-वृष्णियों में दो राजन्य थे‡। पाणिनि ने उनका उल्लेख करने का एक विशेष नियम दिया है, ६, २ (३४)। काशिका + में इस पर वार्तिक करते हुए कहा गया है कि इस नियम का उपयोग अंधकों और

---

* हार्नेले, एशियाटिक सोसायटी बंगाल का कार्य-विवरण १८८४; पृ० १३८-४०.

मंत्रधरों के संबंध में विशेष जानने के लिये एकराजता के प्रकरण में § २०२ में मंत्रियों के संबंध का विवेचन देखो।

† न्न के बदले में ञ पढ़ो। मिलाओ खरोष्ठी राजञ (जरनल रायल एशियाटिक सोसायटी, १९००, पृ० ४१६.)

‡ राजन्यबहुवचन-द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु। ६. २. ३४.

+ काशिका—"राजन्यवाचिनां बहुवचनांतानां यो द्वंद्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्तते तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। श्वाफल्कचैत्रकाः (दीक्षित के अनुसार) शिनि-वासुदेवाः।...अंधकवृष्णय एते न तु राजन्याः राजन्यग्रहणमिहाभिषिक्तवंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्। एते च नाभिषिक्तवंश्याः।......बहुवचनग्रहणं किम्। संकर्षण-वासुदेवौ।..." पृ० ५४६-७.

वृष्णियों के सदस्यों के लिये नहीं होता, बल्कि उनके केवल राजन्यों के लिये ही होता है; और राजन्य किसी वंश के वे नेता होते हैं जो शासन का अधिकार प्राप्त कर लेते अथवा शासक हो जाते हैं। इस प्रकार के द्वैध शासकों के कई वर्गों के नाम साहित्य में रक्षित हैं। शिनि और वसुदेव तथा श्वाफल्क और चैत्रक आदि राजन्यों के वर्गों के नाम काशिका* में आए हैं और अक्रूर के वर्ग तथा वासुदेव के वर्ग का उल्लेख कात्यायन में है†। महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि वासुदेव और उग्रसेन बभ्रु अपने वर्गों का नेतृत्व करते थे (§ १९७)।

§ ३९. जान पड़ता है कि वृष्णि-अंधक का संयुक्त संघ था जिसका शासनाधिकार दो राजन्यों को प्राप्त था और दोनों के प्रतिनिधि स्वरूप दोनों के अलग अलग वर्ग थे; और कदाचित् अमर का राजन्यक भी यही था ‡। कात्यायन ने अक्रूर के

---

* काशिका पृ० ४४६. चैत्रक-रोधक कदाचित् पूरा नाम था। काशिका में ऐसा ही दिया है। परंतु दीक्षित ने रोधक शब्द छोड़ दिया है और आगे चलकर काशिका में भी ऐसा ही किया गया है।

† देखो कात्यायन कृत पाणिनि का वार्तिक ४. २. १०४. अक्रूर-वर्ग्यः। अक्रूरवर्गीणः। वासुदेववर्गीणः।

वर्ग के संबंध में विशेष बातें जानने के लिये जानपद के प्रकरण में § २४८ देखो। उसका वास्तविक अर्थ है—शासन-सभा या कांउसिल। बृहस्पति ने (विवाद-रत्नाकर पृ० ५६६ में) गण, पूग तथा इसी प्रकार की और संस्थाओं को वर्ग कहा है। मित्र मिश्र ने वर्गिन् की व्याख्या करते हुए उसे गण कहा है (वीरमित्रोदय पृ० १२)। देखो

वर्ग तथा वासुदेव के वर्ग का जो उल्लेख किया है, वह अवश्य ही प्राचीन साहित्य के आधार पर है। अक्रूर अंधकों का नेता था; और जान पड़ता है कि वह किसी समय संयुक्त राज-सभा के दो सभापतियों में से एक सभापति था। महा-भारत में श्रीकृष्ण ने कहा है * कि मेरा अधिकार या ऐश्वर्य केवल आधे भाग पर ही है, मैं अर्धभोक्ता हूँ। श्रीकृष्ण के इस कथन का अभिप्राय भी इस बात से खुल जाता है कि संयुक्त राज्यों में दो सभापति हुआ करते थे। महाभारत में एक प्रवाद के आधार पर यह भी कहा गया है कि अक्रूर के वर्ग के श्रीकृष्ण बहुत अधिक विरोधी थे और वे उसकी बहुत निंदा किया करते थे। जान पड़ता है कि जैनसूत्र में विरुद्ध राज्य का जो उल्लेख है, वह भी अंधक-वृष्णियों के इसी प्रकार के द्वैध शासन के संबंध में है †।

§ ४०. कहीं वासुदेव और उग्रसेन का, कहीं अक्रूर और वासुदेव का और कहीं शिनि और वासुदेव का उल्लेख मिलता है। इससे जान पड़ता है कि दो संयुक्त राज्यों के वर्गों में प्रायः

नीलकंठ का मयूख १ जिसमें वर्ग को एक संस्था कहा है और पाणिनि ५. १. ६० जिसमें वर्ग का अर्थ शासन-सभा दिया गया है और जिसके सदस्यों की गणना हुआ करती थी। अमर ने क्षत्रियों के गण या सिनेट को राजन्यक तथा राजाओं के गण को राजक कहा है (२. ८. ४.)। देखो § २५. साथ ही देखो आगे चलकर अराजक के संबंध में § १०१.

* देखो परिशिष्ट क § १९७.

† आचारांग सूत्र २. ३. १०. में विरुद्ध राज्य।

परिवर्तन भी हुआ करता था। इस बात से यह पता चलता है कि अंधक राजन्य और वृष्णि राजन्य निर्वाचित शासक थे। राजन्य और गण दोनों के नाम से सिक्के अंकित किए जाते थे। कुछ ऐसे सिक्के भी पाए गए हैं जिन पर केवल राजन्य का ही नाम अंकित है और राज्य या गण के नाम का कोई उल्लेख नहीं है*। राजन्य शब्द का जो अर्थ हमने लिया है, उसके आधार पर यदि देखा जाय तो बहुत संभव है कि ये सब सिक्के प्रजातंत्र राज्यों के ही हों।

प्रजातंत्रों के अंक और लक्षण

§ ४१. पाणिनि के नियम ४. ३. १२७ से यह ध्वनि निकलती है कि संघ के अंक और लक्षण हुआ करते थे†। अंक का अर्थ है 'चिह्न' और लक्षण का भी प्रायः यही अर्थ है। मैं तो यही कहता हूँ कि परवर्ती संस्कृत में जिसे लांछन कहते थे, वह पाणिनि का यही लक्षण है। यह लांछन पताकाओं आदि पर चिह्न स्वरूप हुआ करता था। लक्षण भी संघ राज्यों का चिह्न ही था जिसका व्यवहार वे अपनी मुद्राओं और संभवतः सिक्कों तथा पताकाओं आदि पर भी किया करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में (२, १२; पृ० ८४)

* देखो कनिंघम कृत Coins of Ancient India पृ० ६६, प्लेट ४.

† संघाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् ॥४॥३॥१२७॥ देखो काशिका, पृ० ३४०. गार्गः संघः। गार्गोङ्कः। गार्गं लक्षणम्।

जहाँ चाँदी और ताँबे के सिक्के अंकित करने के नियम आदि दिए गए हैं, वहाँ सिक्के ढालनेवाले प्रधान अधिकारी को लक्षणाध्यक्ष कहा गया है। उक्त अधिकारी को यह पदवी संभवतः इसलिये मिली थी कि वह सिक्कों पर लक्षण अंकित करता था। जान पड़ता है कि यह बात उस समय के सिक्कों की ढलाई के संबंध की है जब कि सिक्कों पर शासक की मूर्ति की कौन कहे, उसका नाम तक अंकित नहीं होता था। अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार लक्षण राजकीय अथवा राजचिह्न है। मैं तो यह समझता हूँ कि ये अंक वही चिह्न हैं जो समय समय पर बराबर बदलती रहनेवाली सरकारें अथवा राज्य धारण किया करते थे। जब कोई नया शासक अथवा शासकों का समूह निर्वाचित होता था, तब वह अपना कोई विशिष्ट अंक निर्धारित करता था; और जब वह अधिकारच्युत हो जाता था, तब उसका अंक परित्यक्त कर दिया जाता था। हिंदू धर्मशास्त्रों में हमें दस्तखत या हस्ताक्षर के लिये हस्तांक शब्द मिलता है*। कालिदास ने गीत के संबंध में गोत्रांक शब्द का व्यवहार किया है जिसका अर्थ है, वह गीत जिसमें उसके बनानेवाले का नाम भी हो†।

---

* प्राड्विवाकादि-हस्तांकं मुद्रितं राजमुद्रया। वीरमित्रोदय में उद्धृत वृद्ध वशिष्ठ का वाक्य; पृ० २६९. (जीवानंदवाला संस्करण)

† उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।

—मेघदूत २.८९

अंक शब्द का व्यवहार कौटिल्य के समय से*, बल्कि उससे और पहले से, कालिदास के समय से, होता आया है†; और इसके बाद भी इसका व्यवहार अक्षरों या अंकों आदि के द्वारा अंकित करने के अर्थ में होता रहा है। कौटिल्य में हमें एक शब्द राजांक मिलता है। राजकीय गोशाला के साँड़ आदि इसी राजांक से दागे या अंकित किए जाते थे। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि अंक एक व्यक्तिगत चिह्न है। ई० पू० ४२५—४५० के नेपाल के सिक्कों पर दिए हुए मानांक और गुणांक शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं, जिनका अर्थ होता है—राजा मान का अंक या राजा गुण का अंक‡। प्रजातंत्र राज्यों के सिक्कों पर जो स्थायी तथा बदलते रहनेवाले चिह्न और लेख आदि मिलते हैं, उनका रहस्य भी अंक शब्द का यह अर्थ मान लेने से खुल जाता है। और भी पहले के अंक-चिह्नों से अंकित तथा बिना लेखों के जो सिक्के मिलते हैं, उनके संबंध में यही कहा जा सकता है कि संघ संभवतः उन पर

* अर्थशास्त्र २. २९. पृ० १२९.

† णामाङ्किदं। (शकुन्तला)

‡ वॉल्श द्वारा उद्धृत लेवी का कथन। जरनल रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०८. पृ० ६७८—७९. रैप्सन, Corpus Inscriptionum २३.

काशिका (पृ० ३०४) में अंकों का एक उदाहरण 'नाना' दिया है। कुशन वंश के कुछ सिक्कों पर यह 'नाना' अंकित मिलता है। जान पड़ता है कि काशिका का संकेत इसी लेख की ओर है।

अपने विशिष्ट अंक अक्षर चिह्नों में अथवा और किसी रूप में दे दिया करते थे; और अपने लक्षण किसी पशु, नदी, नगर या इसी प्रकार के किसी और पदार्थ के रूप में दे दिया करते थे। बहुत करके पशु तो लक्षण और लेख उनका अंक होता होगा। इसमें संघटन संबंधी ध्यान देने योग्य बात यह है कि संघ के संयुक्त अथवा द्वैध होने का और भी अधिक प्रमाण उनके संयुक्त चिह्नों आदि से हो जाता है*।

§ ४२. इसके अतिरिक्त पाणिनि के ३. ३. ४२ वाले सूत्र से पता चलता है कि प्रजातंत्र के दो विभाग हुआ करते थे—एक

राजनीतिक निकाय संघ का एक विप्रकार है

तो वह जिसमें उत्तर और अधरवाली अवस्था नहीं होती थी और दूसरे वे जिनमें यह अवस्था होती थी †। इसका अभिप्राय हम यह समझ सकते हैं कि एक प्रजातंत्र तो

---

* कात्यायन यह भी बतलाता है कि पाणिनि का ४. ३. १२७. वाला सूत्र नगरवाले अर्थ में घोष शब्द के लिये भी प्रयुक्त होगा। घोषग्रहणमपि कर्त्तव्यम् (भट्टोजी दीक्षित)। इससे हमें यह भी पता चलता है कि नगरों और म्युनिसिपैल्टियों आदि के भी इसी प्रकार के लक्षण और चिह्न आदि हुआ करते थे। कुछ स्थानों में, जैसे सोहगौरा के शिलालेख में, इस प्रकार के लक्षण पहचाने भी गए हैं। फ्लीट, जरनल रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०७. पृ० ५२८। अब व्याकरण से उसके पारिभाषिक नाम लक्षण का भी अर्थ खुल गया।

† संघे चानौत्तराधर्ये (३. ३. ४२.) सूत्र ३. ३. ८६. भी इसी के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। इस अंतिम सूत्र में यह बत-

वह होता था जिसमें छोटी और बड़ी दो प्रतिनिधि सभाएँ होती थीं और दूसरा वह जिसमें केवल एक ही प्रतिनिधि सभा होती थी। पहली तरह के प्रजातंत्र के लिये पाणिनि ने अनौत्तराधर्य शब्द का व्यवहार किया है और इसके संबंध में यह नियम दिया है कि जो संघ इस प्रकार का होता था, वह काय या निकाय कहलाता था जिसका अर्थ होता है—एक शरीर*। पाली में निकाय शब्द इसी प्राथमिक अर्थ में लिया जाता है और उसका अर्थ होता है—भाईचारा (Childers)। इस बौद्ध भ्रातृमंडल में केवल एक ही प्रतिनिधि सभा होती थी। जान पड़ता है कि बौद्धों ने यह शब्द राजनीतिक परिभाषा में से लिया था। व्याकरण साहित्य में इन तीन राजनीतिक निकायों के नाम मिलते हैं—शापिंडि निकाय, मौंडि निकाय और चिक्कलि निकाय†।

जैसा कि हम आगे चलकर (§४३) बतलावेंगे, बौद्धों ने अपने वर्ग के लिये राजनीतिक परिभाषा में से केवल निकाय शब्द ही नहीं लिया था, बल्कि स्वयं संघ शब्द भी उन्होंने इसी प्रकार उसमें से ग्रहण किया था।

लाया गया है कि संघ का अर्थ, जैसा कि पाणिनि ने समझा और बतलाया है, राजनीतिक संघ या गण है।

* देखो इससे पहले का सूत्र ३. ३. ४१. निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः।

† देखो पाणिनि पर काशिका ६. २. ६४ (पृ० ५२६) निकाय की संज्ञा के लिये पाणिनि का यह नियम है—संज्ञायां गिरिनिकाययोः।

छठा प्रकरण

बौद्ध संघ का प्रजातंत्र से आरंभ और बौद्ध साहित्य में प्रजातंत्र

(ई० पू० ५००—४००)

§ ४३. महात्मा बुद्ध का जन्म ऐसे लोगों में हुआ था जो प्रजातंत्र का भोग करते थे। उनके चारों ओर पास पड़ोस में संघ ही थे और वे उन्हीं में पले थे। उन्होंने जिस वर्ग या समाज की स्थापना की थी, उसका नाम भिक्षु संघ अथवा भिक्खुओं का प्रजातंत्र रखा था। संभवत: अपने समकालीन आचार्यों के अनुकरण पर उन्होंने अपना धार्मिक संघ स्थापित करने में राजनीतिक संघ का नाम और साथ ही संघटन या रचना-प्रणाली भी ग्रहण की थी। और यही कारण था जिससे उनका धर्म और भिक्षु-संघटन इतने अधिक दिनों तक चला। पाली सूत्रों* में स्वयं बुद्ध के जो शब्द दिए गए हैं, उन्हीं से यह पता चल सकता है कि राजनीतिक तथा धार्मिक संघों के संघटन में किस प्रकार का और कितना ऐतिहासिक

बौद्ध संघ राजनीतिक संघ से लिया गया है

* दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त। र्‌हीस डेविड्स का अनुवाद। Dialogues of the Buddha भाग २, पृ० ७९—८५. Sacred Books of the East. भाग ११, पृ० ३-६.

संबंध है। जब मगध के राजा की ओर से भेजा हुआ उसका महामंत्री महात्मा बुद्ध से इस विषय में परामर्श लेने गया था कि वज्जियों (पाणिनि के वृजियों), लिच्छवियों और विदेहों* पर आक्रमण करना चाहिए या नहीं, तब बुद्ध ने मगध से आए हुए महामंत्री को नहीं बल्कि अपने सर्वप्रधान शिष्य को संबोधन करके यह उत्तर दिया था —

हे आनंद, तुमने सुना है कि वज्जि लोग पूरी, भरी हुई और बहुत जल्दी जल्दी सभाएँ करते हैं।

आनंद ने इसके उत्तर में कहा—हाँ।

बुद्ध ने मगध से आए हुए महामंत्री को सुनाने के उद्देश्य से वज्जियों की शासन-प्रणाली के संबंध में इसी प्रकार के सात प्रश्न किए। इस संबंध में बुद्ध का जो कुछ कथन था, वह स्वयं उन्हीं के शब्दों में यहाँ दिया जाता है।

१. हे आनंद, जब तक वज्जि लोग पूरी पूरी और जल्दी जल्दी सभाएँ करते हैं;

२. जब तक वे लोग एकमत होकर मिलते हैं और एक साथ मिलकर उन्नति करते हैं और वज्जियों का कार्य (वज्जीकरणीयानि अर्थात् वज्जियों के राजकार्य) एकमत होकर करते हैं;

३. जब तक वे कोई ऐसा नियम नहीं बनाते हैं जो पहले से नहीं चला आता है, जब तक वे किसी निश्चित

---

* इन सब का विवरण जानने के लिये आगे की पंक्तियाँ देखो।

नियम का उल्लंघन नहीं करते हैं और जब तक वे वज्जियों की प्राचीन काल की स्थापित पुरानी संस्थाओं के अनुकूल कार्य करते हैं;

४. जब तक वे लोग वज्जि वृद्धों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं और जब तक वे उनकी बातों को सुनना अपना कर्त्तव्य समझते हैं;

५. जब तक वे अपने समाज की स्त्रियों और बालिकाओं को बल प्रयोग करके अथवा भगा लाकर अपने पास नहीं रखते हैं (अर्थात् जब तक उनमें बल प्रयोग नहीं बल्कि कानून की मर्यादा चलती है);

६. जब तक वे वज्जीय चैत्यों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं (अर्थात् अपने धर्म में दृढ़ निष्ठा रखते हैं);

७. जब तक वे अपने अर्हतों का उचित रक्षण और पालन करते हैं (अर्थात् मर्यादा का पालन और धर्म का आचरण करते हैं);

तब तक वज्जियों के पतन की कभी आशंका नहीं करनी चाहिए, बल्कि हर तरह से उनके उन्नत तथा संपन्न होने की ही आशा करनी चाहिए।

यह सुनकर महामंत्री ने धीरे से कहा—तब तो मगध के महाराज वज्जियों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। अब तो उनमें केवल मतभेद (मिथुभेद) उत्पन्न करनेवाली नीति का अवलंबन ही संभव है।

ज्यों ही वह महामंत्री भगवान् बुद्धदेव से बिदा होकर वहाँ से गया, त्यों ही भगवान् ने समस्त भिक्षु-संघ को सभा-मंडप में बुलाया और उन सब लोगों को संबोधन करके कहा—

हे भिक्षुओ, मैं तुमको बतलाऊँगा कि किसी समाज के कल्याण के लिये सात बातों की आवश्यकता है।

बुद्ध भगवान् ने फिर उन्हीं सातों बातों को कुछ आवश्यक परिवर्तन के साथ दोहराया जो वज्जी लोग किया करते थे, जो सातों बातें प्रसिद्ध थीं और जिनका समर्थन आनंद ने किया था।

१. जब तक भिक्षु लोग पूरी पूरी और जल्दी जल्दी सभाएँ करते हैं;

२. जब तक वे लोग एकमत होकर चलते हैं और एक साथ मिलकर उन्नति करते हैं, और एकमत होकर संघ के कर्तव्यों का पालन करते हैं;

३. जब तक भिक्षु लोग कोई ऐसी मर्यादा नहीं खड़ी करेंगे जिसके संबंध में अभी तक व्यवस्था नहीं दी गई है और जब तक वे किसी निश्चित मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे और जब तक वे संघ के आज तक के निर्धारित नियमों का पालन करते रहेंगे;

४. जब तक सब भिक्षु संघ के सब वृद्धों, पितरों और नेताओं की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते रहेंगे और उनकी बातें सुनना अपना कर्तव्य समझते रहेंगे;

५. जब तक सब भिक्षु लोग उस प्रलोभन के फेर में नहीं पड़ेंगे.........

६. जब तक सब भिक्षु लोग एकांतवास में ही सुख मानेंगे;

७ जब तक सब भिक्षु लोग अपने मनों को इस प्रकार संस्कृत करेंगे......तब तक कभी यह नहीं समझना चाहिए कि भिक्षुओं का पतन होगा, बल्कि यही समझना चाहिए कि निरंतर उनकी उन्नति होती रहेगी।

§ ४४. बौद्ध संघ के जन्म का इतिहास सारे संसार के त्यागियों के संप्रदायों के जन्म का इतिहास है। इसलिये भारतीय प्रजातंत्र के संघटनात्मक गर्भ से बुद्ध के धार्मिक संघ के जन्म का इतिहास केवल इस देशवालों के लिये ही नहीं बल्कि शेष सारे संसार के लिये भी विशेष मनोरंजक होगा।

इसमें संदेह नहीं कि बुद्ध का यह काम अनुकरण मात्र अथवा यों कहना चाहिए कि ऋण स्वरूप लिया हुआ था। पर साथ ही इसमें भी संदेह नहीं कि इसके मूल में एक मौलिक विचार था जिसकी कल्पना केवल बहुत बड़ा विचार-शील या मनस्वी ही कर सकता था। साधारण आदमी इस प्रकार के अनुकरण की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसकी मौलिकता इस बात में थी कि उन्होंने एक राजनीतिक संस्था के संघटन को धार्मिक संस्था के लिये परिवर्तित किया था और इस प्रकार उस धर्म को स्थायी रूप देने के उद्देश्य से राजनीतिक ढंग के संघटन की कल्पना की थी।

§ ४५. जिन प्रजातंत्रों ने बौद्ध साहित्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था, वे वही प्रजातंत्र थे जिनके मध्य में बुद्ध आरंभ से थे और जीवन व्यतीत करते थे। वे प्रजातंत्र पूर्व में कोशल और कौशांबी के राज्यों तक तथा पश्चिम में अंग राज्य तक फैले हुए थे। अर्थात् उनका विस्तार गोरखपुर और बलिया के जिलों से भागलपुर जिले तक और मगध के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण तक था। वे सब प्रजातंत्र राज्य इस प्रकार थे—

उल्लिखित प्रजातंत्र

(क) शाक्यों का राज्य जिनकी राजधानी गोरखपुर जिले के कपिलवस्तु नामक नगर में थी और जिसमें उनके बहुत ही समीपवर्ती राज्य भी सम्मिलित थे।

(ख) कोलियों का रामग्राम।

(ग) लिच्छवियों का राज्य जिनकी राजधानी वैशाली में थी, जिसे आजकल बसाढ़ कहते हैं और जो मुजफ्फरपुर जिले में है।

(घ) विदेहों का राज्य जिनकी राजधानी मिथिला (जिला दरभंगा) में थी। ये अंतिम दोनों मिलकर वृजी अथवा वज्जी कहलाते थे*।

(ङ) मल्लों का राज्य जो बहुत दूर तक विस्तृत था और जो दक्षिण में शाक्यों तथा वृजियों के राज्य तक चला गया था,

* मि० पांडेय ने मुझसे कहा है कि थारू लोग चंपारन के आर्य निवासियों को बजी कहा करते हैं। [देखो Journal of the B. and O. Research Society, भाग ६, पृ० २६१.]

अर्थात् जो आधुनिक गोरखपुर जिले से पटने तक चला गया था और जो दो भागों में विभक्त था। इनमें से एक की राजधानी कुशीनगर (कुसिनारा) तथा दूसरे की पावा में थी।

(च) पिप्पलीवन के मोरिय तथा

(छ) अल्लकप्प के बुली जो दोनों छोटे छोटे वर्ग अथवा समाज थे*। इन दोनों ने बौद्ध धर्म के इतिहास में कोई विशेष महत्वपूर्ण अथवा उल्लेख योग्य कार्य नहीं किया था। ये दोनों कुशीनगर के मल्लों के पड़ोसी थे। परंतु उनकी ठीक ठीक सीमाओं का अभी तक पता नहीं चला है†। और

(ज) भग्ग (भर्ग) जो कौशांबी के वत्सों के राज्य के पड़ोसी थे‡।

राजनीतिक दृष्टि से इन सब में से वृजी और मल्ल सब से अधिक महत्व के थे। वृजियों का उल्लेख पाणिनि और कौटिल्य दोनों ने किया है। महाभारत तथा पाली लेखों आदि के अनुसार भर्गों का राज्य वत्सों के राज्य से बिलकुल सटा हुआ और पूर्व ओर था (§३५ का नोट)। उनका केंद्र एक पहाड़ी गढ़ी (शिशुमार पहाड़ी) में था जो आधुनिक मिरजापुर जिले में अथवा उसके आसपास कहीं थी।

* (क) से (छ) तक के लिये देखो महापरिनिब्बान सुत्तन्त ६. २१—२७; र्हीस डेविड्स कृत Dialogues of the Buddha, पृ० २.१७९-९०.

† Buddhist India पृ० २२—२३। जातक, भाग ३, पृ०१५७.

‡ Buddhist India पृ० ८, ९ और २२.

पाणिनि ने उन्हें एक स्वतंत्र जनपद अथवा राजनीतिक जाति के रूप में पाया था; और उन्हें इतना अधिक महत्वपूर्ण समझा था कि जिस प्रकार उसने पंजाबवाली जातियों की सूची में सर्वप्रधान स्थान यौधेयों को दिया था, उसी प्रकार उसने पूर्वी जातियों में इन भर्गों को स्थान दिया था। जान पड़ता है कि बुद्ध भगवान् के अंतिम दिनों में ये अपने पड़ोसी वत्सों के राजा की अधीनता में चले गए थे और (जातक तथा विनय* के अनुसार) जिसका लड़का बोधि उन पर शासन करता था। पर फिर भी ये लोग बिलकुल अलग ही गिने जाते थे।

शाक्य वह जाति थी जिसमें बुद्ध भगवान् ने जन्म लिया था। बुद्ध शाक्य गण के सभापति के पुत्र थे। ये लोग कोशल के राजा की अधीनता में थे और बुद्ध के जीवन-काल में ही कोशल के राजा ने उनकी स्वाधीनता नष्ट कर दी थी। जान पड़ता है कि उनकी कार्उसिल अथवा शासन सभा में ५०० सदस्य थे†। कहते हैं कि शाक्यों में एक नियम यह भी था कि प्रत्येक नागरिक केवल एक ही स्त्री के साथ विवाह कर सकता था‡।

---

* जातक, भाग ३, पृ० १५७ भाग ५, पृ० २. १२७, ४, १६६-१६८ और Buddhist India पृ० ८।

† देखो § ४६ का नोट.

‡ राकहिल कृत Life of the Buddha प्रकरण २, पृ० १४-१५.

§ ४६. इन प्रजातंत्रों के शासन-विधान का ठीक ठीक वर्णन करने के लिये मैं यहाँ सब से अधिक उत्तम यही समझता हूँ कि रहीस डेविड्स का वह वर्णन उद्धृत कर दूँ जो उन्होंने शाक्यों के शासन-विधान के संबंध में दिया है; क्योंकि मेरी समझ में बौद्ध साहित्य के संबंध में कुछ कहने के वही सब से बड़े अधिकारी हैं। प्रजा-तन्त्री शासन-विधानों का मैंने विशेष रूप से अध्ययन किया है, इस-लिये केवल एक ही बात में मेरा इन बड़े विद्वान् से मतभेद है; और वह यह कि वे उनको clan या वर्ग कहते हैं, पर मैं उन्हें clan मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। हमें जो प्रमाण मिलते हैं, उन्हें देखते हुए इन सब को clan कहना समुचित नहीं जान पड़ता; जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, ईसवी छठी और सातवीं शताब्दी के भारतीय प्रजातंत्र समाज की **असभ्य गोष्ठी** वाली अवस्था से बहुत आगे बढ़ चुके थे। वे गण और संघ आदि राज्य थे जिनमें से संभवतः बहुत से राज्यों का संघटन राष्ट्रीय अथवा गोष्ठी के आधार पर हुआ था, जैसा कि सभी प्राचीन तथा आधुनिक राज्यों का हुआ करता है।

उनका शासन-विधान

प्रोफेसर रहीस डेविड्स कहते हैं*—"इस वर्ग की शासन और न्याय व्यवस्था (वास्तव में इन्हें clan नहीं बल्कि राज्य कहना चाहिए) ऐसी सार्वजनिक सभाओं में हुआ करती थी जिसमें छोटे बड़े सब प्रकार के लोग उपस्थित हुआ करते

---

* Buddhist India; पृ० १९.

थे। इस सभा का अधिवेशन कपिलवस्तु में वहाँ के संथा-गार* या सार्वजनिक भवन में हुआ करता था। जिस सार्व-जनिक सभा में राजा पसेनदि के प्रस्ताव पर विचार हुआ था, वह इसी प्रकार की सार्वजनिक सभा थी (Buddhist India पृ० ११)। जब अंबट्ठ अपने काम से कपिलवस्तु गया था, तब वह इसी संथागार में गया था जहाँ उस समय शाक्यों का अधिवेशन हो रहा था†। और वह मल्लों का संथागार ही था जिसमें बुद्ध भगवान् के निर्वाण की सूचना देने के लिये आनंद गया था। उस समय मल्ल लोग वहाँ एकत्र होकर इसी विषय पर पहले से विचार कर रहे थे‡।

---

* यह शब्द संस्कृत संस्थागार से निकला है जिसका अर्थ House of Communal Law है।

† Dialogues of the Buddha. १.११३. में अनुवादित अंबट्ठ सुत्तंत। वह वाक्य इस प्रकार है—"हे गौतम, एक बार पोक्खर-सादि के किसी कार्य्य से मुझे कपिलवस्तु जाना पड़ा था। वहाँ मैं शाक्यों के संथागार में गया था। उस समय वहाँ बड़े बड़े मंचों पर वृद्ध और युवक अनेक शाक्य बैठे हुए थे।" शाक्यों के इसी प्रकार के अधिवेशन का उल्लेख करते हुए ललितविस्तर में कहा गया है—'शाक्यगण का अधि-वेशन हो रहा है'। "सर्वे शाक्यगणं सन्निपत्यैव मीमांसते राजा शुद्धो-दनः......शाक्यगणेन सार्धं संस्थागारे निषण्णोऽभूत्। (१२. पृ० ११५. Biblothica Indica वाला संस्करण)। संभवतः शाक्यगण के ५०० सदस्य थे (१२)। वृद्ध और युवक कहने का तात्पर्य कदाचित् यह है कि वृद्ध और साधारण दोनों प्रकार के सदस्य उपस्थित थे।

‡ महापरिनिब्बान सुत्तंत ६. २३.

"पदाधिकारी के रूप में एक ही प्रधान चुना जाता था। यह हम नहीं जानते कि उसका निर्वाचन किस प्रकार होता था और कितने दिनों तक के लिये होता था। वही प्रधान सब अधिवेशनों का सभापति होता था; और जिस समय अधिवेशन नहीं होते थे, उस समय वह राज्य-संचालन का सब कार्य करता था। वह राजा की उपाधि धारण करता था जो संभवतः रोम के कांसल या यूनान के आरकन के रूप में होता होगा। लिच्छवियों में जिस प्रकार एक ही अधिकारी इस प्रकार के तीन भिन्न भिन्न अधिकारियों का काम करता था, उस प्रकार का अधिकारी हमें और कहीं नहीं मिलता। उपयुक्त वास्तविक राजाओं के जो जो कर्तव्य या कार्य कहे जाते हैं, उस प्रकार के पूर्ण अधिकार-प्राप्त और कार्य करनेवाले राजा या शासक भी हमें और कहीं नहीं मिलते। परंतु हम एक अवसर पर सुनते हैं* कि बुद्ध का एक चचेरा भाई भद्दाय राजा था। एक और दूसरे वाक्य में यह कहा गया है कि बुद्ध के पिता शुद्धोदन, जो और स्थानों पर एक साधारण नागरिक की भाँति शुद्धोदन शाक्य ही कहे गए हैं, राजा कहलाते हैं।"

§ ४७. जातक में लिच्छवी शासकों को गणशासक अर्थात् प्रजातंत्री शासक कहा गया है†। लिच्छवियों की जिस

---

* विनय पिटक २. १८१.

† वेसालिनगरे गण-राजकुलानाम् अभिसेक पोक्खरणीम्। जातक ४. १४८.

राजव्यवस्था का प्रोफेसर र्‌हीस डेविड्स ने उल्लेख किया है, उसका विस्तृत विवरण बाद के एक ग्रंथ में दिया गया है जिसका नाम "अट्ठ कथा" है*। उसमें राजा, उपराजा और सेनापति इन तीन मुख्य अधिकारियों का उल्लेख है। इससे भी पहले के एक ग्रंथ (जातक, १. पृ० ५०४) में एक चौथे अधिकारी का भी उल्लेख है जो भांडागारिक था। इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि ये चारों शासनविभाग के सब से बड़े अधिकारी थे और इन्हीं चारों का सर्वप्रधान शासनकारी मंडल होता था। जातक में कहा गया है कि राजधानी वैशाली नगरी में थी और उसमें तेहरे अथवा तीन प्रकार के बंधन होते थे। शासन (रज्जम्) अधिवासियों (वसंतानम्) के हाथ में था जिनकी संख्या ७७०७ थी और जिनमें से प्रत्येक शासक (राजानम्) होने का अधिकारी होता था। वही लोग सभापति या राजा (राजानो), उपसभापति या उपराजा (उपराजानो), सेनापति (सेनापतिनो). तथा भांडागारिक होते थे†। जातक का अभिप्राय यह जान पड़ता है

लिच्छवियों की राजव्यवस्था

* बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के जरनल, भाग ७ (१८३८) पृ० ६६३ में टर्नर का लेख।

† तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंतानं येव राजूनं सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च। [.] राजानो होंति तत्तका; ये व उपराजानो तत्तका सेनापतिनो तत्तका, तत्तका भंडागारिका। जातक १. ५०४.

कि ७७०७ अधिवासी, जो प्राय: मूल वंशों के होते होंगे, शासक वर्ग में के होते थे। अर्थात् वही लोग थे जो शासन करनेवाले प्रधान अधिकारी हुआ करते थे (होंति = होना)। कुल जनसंख्या बहुत अधिक थी जो बहिर्गत तथा अंतर्भुक्त दो विभागों में विभक्त थी*। इन सब की संख्या १६८००० थी। गण राजाओं का भी राज्याभिषेक हुआ करता था†।

§ ४८. अट्ठ कथा में लिखा है कि वैशालीवाले जिस समय अपने संथागार में आते थे, उस समय उनके संथागार में घड़ियाल बजाया जाता था‡। इन शासकों की राजसभा में केवल राजनीतिक और सैनिक विषयों पर ही नहीं बल्कि कृषि तथा व्यापार संबंधी विषयों पर भी विचार और वादविवाद हुआ करता था।

एक बौद्ध ग्रंथ में इस बात का वर्णन है कि लिच्छवी गण ने अपने अधिवेशन में एक महत्तक या प्रधान सदस्य को दूत के रूप में नियुक्त किया था और उसे यह काम सौंपा था कि तुम वैशाली के लिच्छवियों की ओर से एक संदेश पहुँचा

---

* महावस्तु, त्रिशकुनीय जातक सेनर्ट का संस्करण भाग १ पृ० २५६, २७१. महावस्तु और ललितविस्तर संभवतः ईसवी सन् १०० के रचे हुए हैं। वे पाली ग्रंथों के समान पुराने तो नहीं हैं, पर उनका आधार पुरानी दंतकथाएँ ही हैं।

† देखो पृ० ७८ का दूसरा नोट (†)।

‡ बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के जरनल, भाग ७, पृ० ९९४—५ में टर्नर का लेख।

आओ। तात्पर्य यह कि गण जो काम करता था, वह सब लोगों की ओर से करता था*।

एक और बौद्ध ग्रंथ में उनकी राजव्यवस्था के संबंध में एक व्यंग काव्य में इस प्रकार लिखा हुआ है—"उन लोगों में (वैशालीवालों में) उच्च-मध्य-ज्येष्ठ और बड़ों के आदर करने के नियम का पालन नहीं होता। सब लोग अपने आपको राजा समझते हैं। सब कहते हैं कि मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ। कोई किसी का अनुगामी नहीं होता।" इससे स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि उनकी राज-सभाओं या काउंसिलों में सभी लोगों को बोलने तथा मत देने का समान रूप से अधिकार प्राप्त था और प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता था कि अब की बार मैं राजा बन जाऊँ†।

लिच्छवियों में नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा

§ ४९. सभापति या राजा ही सर्वप्रधान न्यायकर्त्ता भी होता था। न्याय विभाग का एक मंत्री होता था जो बाहरी या दूसरे देश का भी हो सकता था और जिसे वेतन दिया जाता था‡। नागरिकों की स्वतंत्रता की बहुत ही सावधानी से रक्षा की जाती थी। जब तक राजा, उपराजा तथा सेनापति

---

* महावस्तु १. २५४ वैशालकानां लिच्छवीनां वचनेन।

† ललितविस्तर; अध्याय ३, नोच्च-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति। न च कस्यचिच्छिष्यत्वमुपगच्छति...।

‡ टर्नर, उक्त ग्रंथ

तीनों अलग अलग और एकमत होकर स्वीकृति नहीं देते थे, तब तक कोई नागरिक अपराधी नहीं ठहराया जाता था ।

सभापति के निर्णयों या फैसलों के पूरे पूरे लेख बहुत ही सावधानी से सरकारी दस्तावेजों में (पवेनि पत्थकान) रखे जाते थे, जिनमें इस बात का उल्लेख होता था कि अमुक अपराधी नागरिक ने कौन सा अपराध किया और उसे क्या दंड दिया गया । न्यायाधीशों (विनिच्चय महामात्त) का एक स्वतंत्र न्यायालय होता था जिसमें मुकदमों की आरंभिक जाँच की जाती थी; और संभवत: इन्हीं में दीवानी तथा साधारण फौजदारी मुकदमों की सुनाई भी हुआ करती थी । जिस न्यायालय में अपील हुआ करती थी, उसमें के न्यायकर्ता (वोहारिक) व्यावहारिक व्यवहार या कानून के ज्ञाता हुआ करते थे । सर्वप्रधान न्यायालय अथवा हाई कोर्ट के न्यायाधीश सूत्रधर कहलाते थे, जिसका अर्थ है व्यवहार शास्त्र के आचार्य । इन सब के ऊपर एक और कांउसिल हुआ करती थी जो अष्टकुलक कहलाती थी और जिसमें आठ न्यायकर्ता हुआ करते थे (देखो §५०) । ये सब न्यायालय क्रमश: नीचेवाले न्यायालय से बड़े हुआ करते थे; और इनमें से प्रत्येक को इस बात अधिकार था कि वह किसी नागरिक को निरपराध ठहराकर छोड़ दे* । और यदि ये सब न्यायालय

---

* एशियाटिक सोसायटी बंगाल के जरनल, भाग ७, पृ० ९९३-४ में टर्नर का लेख ।

किसी नागरिक को अपराधी ठहरा देते थे, तो भी उक्त कार्य-कारिणी सभा या काउंसिल के सदस्य उस पर पुनः विचार कर सकते थे और उसका उचित निर्णय कर सकते थे।

§ ५८. अठ्ठकथा में अपराधियों के विचार का जो यह क्रम दिया हुआ है, वह उस क्रम या व्यवस्था के बिलकुल अनुकूल है जो संस्कृत साहित्य में प्रजातंत्र के अपराधियों के विचार के संबंध में बतलाई गई है। महाभारत के कर्ता की सम्मति में किसी प्रजातंत्र राज्य में अभियुक्तों के अपराधों का विचार प्रधान के द्वारा निग्रह पंडितों के हाथों होना चाहिए (निग्रहः पंडितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः)* और कुल-न्यायालय अथवा कुल के वृद्धों से यह आशा नहीं की जाती थी कि वे किसी को अपराध करते देखकर उसकी उपेक्षा करेंगे अथवा चुपचाप बैठे रहेंगे। भिन्न भिन्न न्यायकारियों या न्यायाधीशों का भृगु ने जो उल्लेख किया है, उससे यह संकेत निकलता है कि गण राज्य में निर्णय करनेवाली संस्था कुलिक और कुल कहलाती थी†। कात्यायन ने कुल शब्द का व्यवहार जूरी के अर्थ में किया है‡। ऐसी दशा में अष्ट-कुलक का अर्थ

---

* शान्तिपर्व, अध्याय १०७. २७. देखो आगे § १२६.

† वीरमित्रोदय, पृ० ११. देखो आगे चलकर पौरवाले प्रकरण में दिया हुआ उद्धरण; प्रकरण २८. § २५५.

‡ वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम्। वीरमित्रोदय, पृ० ४१ में दिया हुआ उद्धरण।

होना चाहिए—आठ सदस्यों की न्यायकारी काउंसिल। अब तक इसका अर्थ किया जाता था—'आठ वर्गों या उपजातियों के प्रतिनिधि'*। पर यह अर्थ ठीक नहीं है।

§ ५१. बौद्ध ग्रंथों और लेखों आदि के अनुसार विदेहों और लिच्छवियों ने आपस में मिलकर एक 'संयुक्त लीग' स्थापित की थी और वे दोनों मिलकर संवज्जी कहलाते थे, जिसका अर्थ है आपस में मिले हुए वज्जी लोग†। इन दोनों वज्जियों ने केवल आपस में ही मिलकर संयुक्त लीग नहीं स्थापित की थी, बल्कि और लोगों के साथ भी इनका इस प्रकार का संयोग हुआ था। एक जैन सूत्र‡ के अनुसार एक बार लिच्छवियों का इसी प्रकार का संयोग उनके पड़ोसी मल्लों के साथ हुआ था। इन लोगों का संयोग या मेल उस वर्ष तक बना हुआ था जिस वर्ष महावीर का निर्वाण हुआ था अर्थात् ई० पू० ५४५+या ५२७ तक। इस संयुक्त काउंसिल के अठारह सदस्य थे जिनमें से नौ "लेच्छकी" और नौ "मल्लकी" थे×। इस संयुक्त काउंसिल के सदस्य गण राजा कहे गए हैं। अमरसिंह

संयुक्त काउंसिल

---

* र्‌हीस डेविड्स कृत Buddhist India. पृ० २२. J. A. S. B. भाग ७, पृ० ९९३; टर्नर के लेख का नोट।

† Buddhist India, पृ० २२.

‡ कल्पसूत्र, १२८.

+ J. BORS. १, १०३.

× S. B. E. भाग २२, पृ० २६६.

ने जिस पारिभाषिक शब्द 'राजक' का उल्लेख किया है (§§२५ और ४७), जान पड़ता है कि आरंभ में उस राजक शब्द का व्यवहार इसी प्रकार की संयुक्त काउंसिल के लिये हुआ करता था। डाक्टर जैकोबी ने इन्हें 'अठारह संयुक्त राजा' कहा है; और जैन सूत्र के अनुसार ये सब लोग काशी-कोशलवाली सीमा में थे। महावीर की मृत्यु के समय कोशल का साम्राज्य काशी-कोशल कहलाता था*। बौद्धों के पालीवाले धर्मग्रंथ की अपेक्षा जैन सूत्र बहुत बाद का है; और यदि जैन ग्रंथ ने काशी-कोशल की सीमा निर्धारित करने में भूल नहीं की है, तो उसके दिए हुए विवरण से यही अर्थ निकलता है, कि कोशल के राजा के साथ इस संयुक्त काउंसिल का किसी प्रकार का राजनीतिक समझौता या मेल था; क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि कोशल के राजा ने कभी प्रधानता प्राप्त की थी। अवश्य ही इन प्रजातंत्रों का मगध के साथ बिगाड़ था और कोशल का राज्य मगध का घोर विरोधी और प्रतिद्वंद्वी था। अट्ठकथा में इस बात का उल्लेख है कि वैशालीवाले एक बहुत बड़े युद्ध में मगध के सम्राट् अजातशत्रु से हारे थे। इन दोनों प्रजातंत्रों का यह संयोग या मेल स्वभावतः उन बड़ी शक्तियों का विरोध करने के लिये हुआ था जिनके मध्य में वे स्थित थे।

---

* मिलाओ काशी. कोशल, पतंजलि (कीलहार्न) २, पृ० २८०. (दूसरा संस्करण)

§ ५२. लिच्छवियों का एक तो राजनीतिक दृष्टि से यों ही बहुत अधिक महत्व था और दूसरे बुद्ध के साथ उनका घनिष्ठ संबंध भी था; इसी लिये बौद्ध साहित्य में उनका बहुत अधिक उल्लेख है*। लक्षणों से जान पड़ता है कि महाभारत तथा अन्यान्य ग्रंथों में उनका जो वर्णन दिया हुआ मिलता है, वह औरों के लिये भी उतना ही प्रयुक्त हो सकता है जितना उनके लिये होता है। उनकी यह शासन-प्रणाली उस समय की शासन-प्रणालियों के एक साधारण प्रकार के ही अंतर्गत थी— वह कोई अपवाद रूप नहीं थी।

---

* देखो आगे § ५४.

सातवाँ प्रकरण

अर्थशास्त्र में प्रजातंत्र

(ई० पू० ३२५—३००)

§ ५३. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह बतलाया गया है कि संघ-राज्यों की क्या विशेषताएँ हैं और उनके प्रति साम्राज्य की नीति क्या होनी चाहिए*। यद्यपि स्वतंत्र राजाओं द्वारा शासित होनेवाले बड़े बड़े राज्यों के स्थापित हो जाने तथा सिकंदर के आक्रमण के कारण उस समय तक संघों का पतन या ह्रास होने लग गया था, तथापि उनका महत्व कम नहीं हुआ था। सिकंदर के आक्रमण के कारण लोगों ने समझ लिया था कि छोटे छोटे राज्यों से अब काम नहीं चल सकता और उससे बड़े बड़े राज्यों का महत्व तथा उपयोगिता सिद्ध होने लगी थी; पर फिर भी संघों का महत्व बिलकुल ही नष्ट नहीं हो गया था (§ ६४)। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, कौटिल्य ने संघों को दो भागों में विभक्त किया है। उनमें से एक प्रकार के संघ वे थे जिनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे। संघों के दूसरे प्रकार को वह इस प्रकार के संघों के विपरीत बतलाता है, जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि

राजा की उपाधि धारण करनेवाले संघ-राज्य

---

* ग्यारहवाँ प्रकरण, पृ० ३७६-७९।

इस दूसरे प्रकार के संघों में शासकों के लिये राजा की उपाधि धारण करने का कोई नियम नहीं था और वे अपने शासकों को राजा की उपाधि नहीं धारण करने देते थे। सिक्कों से इस प्रकार के संघों के अस्तित्व का पता चलता है*। पहले प्रकार के संघों में जिनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे, कौटिल्य ने नीचे लिखे संघ गिनाए हैं—

१. लिच्छिविक
२. वृजिक
३. मल्लक
४. मद्रक
५. कुकुर
६. कुरु
७. पांचाल आदि।

पाणिनि के ५. ३. ११४. वाले सूत्र के संबंध में काशिका में यह बतलाया गया है कि मल्लों के लिये इस सूत्र का व्यवहार नहीं होता, क्योंकि वे आयुधजीवी नहीं हैं†। अतः मल्लों की इस विशेषता के संबंध में कौटिल्य और व्याकरण साहित्य का एक ही मत है। बौद्ध ग्रंथों से‡ हमें पता चलता है कि लिच्छवी लोग अपने प्रधान शासक को राजा कहा करते थे। जान पड़ता है कि कौटिल्य ने लिच्छवियों का जहाँ

एकराजत्व से प्रजातंत्र में परिवर्तन

---

* देखो आगे सत्रहवें प्रकरण में राजन्यों, यौधेयों, मालवों और आर्जुनायनों के सिक्कों के संबंध में विवेचन।

† आयुधजीविग्रहणं किम्। मल्लाः। पृ० ४५६.

‡ देखो ऊपर §४७.

अलग वर्णन किया है वहाँ वृजी से उसका तात्पर्य केवल विदेहों से है। मद्रक और वृजिक के रूप बनाने के लिये पाणिनि ने एक विशेष सूत्र दिया है* और अर्थशास्त्र में हमें उसी सूत्र के अनुसार बने हुए रूप मिलते हैं। बौद्ध लेखों आदि से† हमें पता चलता है कि बुद्ध के समय में कुरुओं का राज्य निर्बल हो गया था। महाभारत, पुराणों तथा दूसरे आरंभिक ग्रंथों से‡ हमें पता चलता है कि पहले कुरु लोग एक-राजत्व शासन के अधीन रहते थे। इसलिये उन्होंने अवश्य ही बुद्ध के उपरांत तथा कौटिल्य से पहले अपनी एकराजत्व शासन-प्रणाली छोड़कर प्रजातंत्रवाली शासन-प्रणाली ग्रहण की होगी। आरंभिक वैदिक काल में विदेह लोगों में भी एक-राजत्व शासन-प्रणाली ही प्रचलित थी। परंतु बुद्ध के समय में विदेहों ने भी प्रजातंत्र शासन-प्रणाली ग्रहण की थी। पतंजलि भी विदेहों को प्रजातंत्री ही मानकर चले हैं+। बौद्ध ग्रंथों में पंचाल लोग दो राज्यों में विभक्त लिखे मिलते हैं। परंतु कौटिल्य ने उन्हें प्रजातंत्री बतलाया है। पतंजलि ने भी उन्हें प्रजातंत्री ही कहा है। उनकी शासन-प्रणाली

---

* ४.२.१३१. मद्रवृज्योः कन्।

† रहीस डेविड्स कृत Buddhist India. पृ० २७.

‡ ऐतरेय ब्राह्मण में एकराजत्व शासन प्रणालीवाली जातियों के उदाहरण में कुरुओं और पांचालों के नाम दिए हैं। प्र० ८. १४.

+ देखो ऊपर §३१ का नोट।

में यह परिवर्तन बुद्ध के निर्वाण के उपरांत हुआ होगा। ऐत-रेय ब्राह्मण के अनुसार उत्तर मद्रों में आरंभ में ऐसी ही शासन-प्रणाली थी जिसमें कोई एक व्यक्ति राजा नहीं होता था, बल्कि देश के सभी लोग राजा होते थे*। यदि और पहले नहीं तो कम से कम कौटिल्य के समय में मद्र लोगों के दूसरे अंश में अर्थात् खास मद्रों में वही संघ की शासन-प्रणाली प्रचलित थी जिसे राजशब्दोपजीवी कहते हैं।

§ ५४. लिच्छवियों का राजनीतिक इतिहास बहुत ही प्रसिद्ध है और उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है†। वे लोग बहुत बलशाली थे। वे शैशुनाक तथा मौर्य साम्राज्यों के उपरांत भी बच रहे थे और उन्होंने गुप्त साम्राज्य स्थापित करने में सहायता दी थी। उन्होंने नेपाल में एक विलक्षण शासन-प्रणाली प्रचलित की थी, जिसका वर्णन हम आगे चलकर दूसरे अवसर पर करेंगे।

पर मल्ल लोग इतने अधिक समय तक जीवित नहीं रहे। मौर्यों के समय में अथवा उसके कुछ ही उपरांत‡ उनका

---

* कांड ८. जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति.........तेऽभिषिच्यन्ते ॥ १४ ॥ देखो आगे दसवाँ प्रकरण।

† कुछ लोग लिच्छवियों को विदेशी बतलाते हैं। पर इस संबंध में जितने सिद्धांत हैं, वे सब इतने पोच हैं कि बिलकुल ठहर ही नहीं सकते। देखो आगे इक्कीसवाँ प्रकरण।

‡ कात्यायन या पतंजलि में उनका कहीं पता नहीं चलता।

प्रजातंत्रवाला स्वरूप नहीं रह गया था। हाँ, समय समय पर तिरहुत और नेपाल में ग्यारहवीं शताब्दी, बल्कि उसके बाद तक भी, मल्लों के भिन्न भिन्न वंश प्रबल हो उठते थे*। मल्लों में से इस समय जो लोग अवशिष्ट हैं, वे गोरखपुर तथा आजमगढ़ के जिलों में मल्ल जाति के नाम से बसे हुए हैं† और साधारणतः व्यापार आदि करके अपना निर्वाह करते हैं। सभी भारतीय प्रजातंत्री जातियों के जीवन में साधारणतः यह बात पाई जाती है कि राजनीतिक बल नष्ट हो जाने पर भी उनमें व्यापार-बुद्धि बची रह गई और वे लोग व्यापारी हो गए‡। पंचाल लोग मौर्यों के उपरांत भी बचे रह गए, क्योंकि पतंजलि ने उनका उल्लेख किया है। पर उस समय तक कुरुओं का राज्य नहीं रह गया था। महाभारत के अनुसार कुकुर लोग अंधक-वृष्णी के संयुक्त संघ का एक अंग थे। इस संघ या लीग के कुछ सदस्य तो, जान पड़ता है, राजशब्दोपजीवी थे और कुछ नहीं भी थे। पश्चिमी भारत के ईसवी पहली शताब्दी के अंत के शिलालेखों में कुकुरों का उल्लेख मिलता है+।

---

* देखो लेवी कृत *Le Nepal*. भाग २ पृ० २१० .१३

† मिलाओ हरिनंदन पांडेय, J. BORS. १९२०. पृ० २६२-६५, आधुनिक मल्लों के संबंध में।

‡ दूसरे उदाहरण सिंध तथा पंजाब के खत्रियों के (जिन्हें यूनानियों ने Xathroi लिखा है) तथा पंजाब के अरोड़ों के हैं जो संभवतः प्राचीन अरट्टों के वंशज हैं।

+ एपिग्राफिया इंडिका, भाग ८, पृ० ४४, ६०, देखो §५७ का नोट।

§ ५५. कौटिल्य ने प्रजातंत्रों के दूसरे विभाग के उदाहरण स्वरूप जो नाम दिए हैं, वे इस प्रकार हैं* —

आयुधजीवी संघ
१. कांभोज
२. सुराष्ट्र
३. क्षत्रिय
४. श्रेणी आदि ।

ध्वनि यही निकलती है कि इस प्रकार के संघों का प्रधान शासक राजा की उपाधि नहीं धारण करता था । इस प्रकार की शासन-प्रणाली की दूसरी मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें नागरिकों का यह प्रधान कर्त्तव्य माना जाता था कि वे युद्ध-विद्या में निपुणता प्राप्त करें। ऐसे राज्यों के सभी निवासी योद्धा हुआ करते थे । इसके विपरीत संघों का जो दूसरा वर्ग या विभाग था और जिसमें प्रधान शासक राजा की उपाधि धारण करता था, उसमें कदाचित् 'एकराज' राज्यों की भाँति वेतनभोगी स्थायी सेना रहा करती होगी । पर फिर भी आयुधजीवी संघों के समस्त नागरिकों को केवल योद्धा ही नहीं बन जाना पड़ता था, बल्कि उन्हें शिल्प और कृषि की ओर भी ध्यान देना पड़ता था (वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः)। इसी लिये वे लोग धनवान् भी होते थे और बलवान् भी ।

---

* काम्भोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिय-श्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः (अर्थ० ११, १, १६०, पृ० ३७६.)

§ ५६. क्षुद्रकों और मालवों का, जो इन आयुधजीवी संघों या प्रजातंत्रों में सर्व-प्रमुख थे, कौटिल्य ने कोई उल्लेख नहीं किया है। संभवतः वे लोग उस समय तक साम्राज्यों की छाया में आ गए थे। अर्थशास्त्र में आयुधजीवी संघों में सब से पहले कांभोज का नाम आया है। वे लोग पूर्वी अफगानिस्तान में थे। अशोक के शिलालेखों में उनका उल्लेख गंधारों के उपरांत आया है*। यास्क के अनुसार उनकी मातृभाषा संस्कृत थी, पर उसमें कुछ तत्व ऐसे भी थे जो, जान पड़ता है कि उन्होंने अपने ईरानी पड़ोसियों से ग्रहण किए थे†। पाणिनि उनसे भी परिचित था, क्योंकि उसने उनके राजा का बोधक रूप बनाने के लिये सूत्र दिया है‡। इससे यह सूचित होता है कि पाणिनि का कथन एकराज-शासन-प्रणाली के संबंध में है। परंतु इस विशिष्ट सूत्र तथा नाम के अपवादात्मक रूप से यह संदेह होता है कि कांबोजों में जो राजा होता था, वह एकराज होता था अथवा निर्वाचित शासक होता था। कौटिल्य के समय में उनकी शासन-प्रणाली अवश्य ही ऐसी नहीं थी

---

* देखो आगे प्रकरण १७।

† २. १. ३. ४ शवतिर्गतिकर्मा कंबोजेष्वेव भाष्यते, कंबोजाः कंबलभोजाः कमनीयभोजा वा कंबलः कमनीयो भवति विकारमस्यार्येषु भाषंते शव इति।

मिलाओ फारसी की धातु शुदन जिसका अर्थ जाना होता है। देखो J. R. A. S. १६. ११. ८०१.

‡ ४. १. १७५.

जिसमें उपाधिधारी राजा भी होता। भोज लोग, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, ऐसे वर्ग के थे जिनमें एकराजवाली शासन-प्रणाली नहीं थी। कांभोज का शब्दार्थ है—निकृष्ट भोज* ।

§ ५७. सुराष्ट्र लोग (सुराष्ट्र का शब्दार्थ है अच्छा राष्ट्र) काठियावाड़ में थे। वर्त्तमान सोरठ में अब तक उनका नाम अवशिष्ट है। जान पड़ता है कि वे मौर्य साम्राज्य के उपरांत भी बचे रह गए थे, क्योंकि बलश्री (लगभग ५८ ई० पू०†) के शिलालेखों तथा रुद्रदामन के जूनागढ़वाले शिलालेख (ई० दूसरी शताब्दी‡) में उनका उल्लेख है।

§ ५८. दूसरे दो राज्य क्षत्रियों+ और श्रेणियों के हैं; और मेसीडोनिया के लेखकों के लेखों के अनुसार ये सिंध में एक

---

* पाणिनि और यास्क ने इस शब्द को कंबोज लिखा है। पर यास्क इसकी व्युत्पत्ति भुज् से बतलाता है। रामायण (१. ५५. २) और अर्थशास्त्र में यह शब्द क्रमशः कांबोज और कांभोज लिखा गया है। पहले रूप से उस पर ईरानी या पैशाची का प्रभाव सूचित होता है।

† एपिग्राफिया इंडिका, भाग ८, पृ० ४४. मैंने इनका एक वंश-क्रम तैयार किया है और मेरा मत है कि गोतमीपुत्र शातकर्णि सातवाहन ही विक्रम था और इसी सिद्धांत के अनुसार मैंने यह समय निश्चित किया है। (J. BORS. I. 101) *Brahmin Empire* (Express, Patna, 1914); Modern Review, 1914. दूसरे विद्वानों ने इस शिलालेख का जो समय निर्धारित किया है, वह इसके एक शताब्दी बाद का है।

‡ एपिग्राफिया इंडिका, भाग ८, पृ० ६०.

+ एरियन, भाग ६, प्रकरण १५।

दूसरे के पड़ोसी ज्ञात होते हैं। उन्होंने क्षत्रियों को Xathroi लिखा है। यूरोपियन विद्वान् अब तक यही मानते रहे हैं कि यह एक विशिष्ट उपजाति का नाम है। पर अब अर्थ-शास्त्र से यह पता चला है कि यह एक विशिष्ट राजनीतिक संघ का नाम था। टालेमी ने भी Xathroi जाति या उप-जाति का उल्लेख किया है। कुछ प्राचीन लेखकों ने अनेक ऐसे भिन्न भिन्न नामों का व्यवहार किया है, जिनसे उनका अभिप्राय अग्रश्रेणी या सब से आगे के अथवा पहले श्रेणी सूचित होता है*। जान पड़ता है कि श्रेणी लोग कई उपवर्गों या विभागों में विभक्त थे और जिन श्रेणियों से सिकंदर को काम पड़ा था वे अग्र या प्रथम श्रेणी थे†। संभवतः इसी प्रकार के उपविभाग या वर्ग यौधेयों में भी थे जिनके सिक्के "२" और "३" अंकों से अंकित पाए गए हैं‡।

मालूम होता है कि Xathroi अथवा क्षत्रिय लोग अनेक उपजातियों के रूप में बच गए थे जो आजकल

---

* देखो मैकक्रिंडल कृत Ancient India, Its Invasion by Alexander the Great. पृ० ३६७. वे भिन्न भिन्न नाम इस प्रकार लिखे गए हैं—Agalassi, Agesinae, Acensoni, Argesinae, etc.

† यह बात भी असंभव नहीं है कि सिकंदर के अग्रश्रेणी शब्द को कौटिल्य ने संक्षेप के विचार से केवल श्रेणी कर दिया हो।

‡ कनिंघम कृत Coins of Ancient India पृ० ७८.

सिंधी खत्री (सिंध के खत्री) कहलाते हैं। इस जाति के लोग सुंदर होते हैं और उसी स्थान के आसपास पाए जाते हैं, जिसे यूनानी लेखकों ने Xathroi जाति का निवासस्थान बतलाया है। पंजाब के खत्री भी उन्हीं के वंशज हो सकते हैं।

§ ५९. हम यहाँ पर यह भी बतला देना चाहते हैं कि अर्थशास्त्र के अनुवादक ने 'काम्भोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिय-श्रेण्यादयः' पद का "कांभोज, सुराष्ट्र तथा दूसरे देशों के योद्धाओं (क्षत्रिय श्रेणी) की समितियाँ" अनुवाद करने में भूल की है*। यह अनुवाद व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं है। आदयः या आदि शब्द जिस वर्ग के अंत में आता है, उससे ठीक पहलेवाले वर्ग में उसका कोई विवरण नहीं हो सकता। विवरणात्मक शब्द सदा आदयः या आदि के बाद आवेगा। यदि कांभोज व्यक्तिवाचक संज्ञा है, तो उसके बाद से लेकर आदयः तक के सभी नाम व्यक्तिवाचक होने चाहिएँ। परंतु वास्तव में बात यह है कि जब सब नाम गिनाए जा चुकते हैं, तब आदयः शब्द आता है और उसके उपरांत उसका विवरणात्मक "वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः" पद आता है। परंतु नामों के संबंध में हमने जो निर्धारण किया है, उसे देखते हुए भी और व्याँकरण की दृष्टि से भी उक्त अनुवाद ग्राह्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यहाँ दूसरी भूल यह है कि श्रेणी का अर्थ

* शाम शास्त्री, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पृ० ४५५.

Guild या पंचायत किया गया है। यदि वार्त्ता (शिल्प और कृषि) का संबंध, जैसा कि अनुवाद में बतलाया गया है, इसी श्रेणी शब्द के साथ हो, तो उसे शस्त्र शब्द के पहले नहीं बल्कि बाद में आना चाहिए; क्योंकि उस वर्ग में श्रेणी शब्द सब के अंत में और क्षत्रिय शब्द के बाद आया है* ।

---

* वराहमिहर ने भी शस्त्रवार्त्ताः पद का प्रयोग किया है (मल्लान् मत्स्यकुरूञ्छकानपि काम्बोजोड्र-किरात-शस्त्रवार्त्ताः)। यहाँ यही माना जायगा कि ये दोनों ही गुण उन सभी जातियों या समाजों के साथ संबंध रखते हैं और सभी के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त देखो ऊपर § ३२ और ३३.

आठवाँ प्रकरण

यूनानी लेखकों में हिंदू प्रजातंत्र

(ई० पू० ३२५)

§ ६०. भारत पर सिकंदर ने जो आक्रमण किया था, उसका इतिहास लिखनेवाले इतिहासकारों ने भारत के कई राज्यों को 'स्वाधीन', 'स्वराज्यभोगी' और 'स्वतंत्र' बतलाया है जिससे उनका अभिप्राय प्रजातंत्र से है। मैक्क्रिंडल ने इस स्वतंत्र शब्द का महत्व तो मान लिया है, परंतु भारतीय प्रजातंत्रों से वह अपरिचित था, इसलिये उसने यह समझा था कि स्वतंत्र शब्द से भारतीय ग्राम्य-व्यवस्था की सूचना मिलती है। उसने लिखा है—"यहाँ के प्रत्येक गाँव को उन्हों (यूनानियों) ने एक स्वतंत्र प्रजातंत्र समझा था *'। परंतु वास्तव में यूनानियों ने कभी भारत के गाँवों की पंचायत को प्रजातंत्र समझने की भूल नहीं की। उन्होंने यहाँ के समाजों या वर्गों को ही राज्य माना है, छोटे छोटे गाँवों या उनके समूहों को नहीं। उन यूनानियों को उन्हीं भारतीय राज्यों से लड़ना पड़ा था, उनके साथ संधियाँ करनी पड़ी थीं और उन्होंने उनकी शासन-व्यवस्था का विस्तृत विवरण लिखा था। इसलिये वे यूनानी उनसे इतने अधिक परिचित हो गए थे कि वे उस प्रकार

---

* Invasion of India by Alexander पृ० ११५, नोट।

की भूल नहीं कर सकते थे जिस प्रकार की भूल मैक्क्रिंडल ने बतलाई है। इसके अतिरिक्त शासन-संबंधी बातों को समझने और उनका विचार करने में यूनानी अधिक विश्वसनीय समझे जा सकते हैं। यदि हमें भली भाँति यह मालूम हो जाय कि चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहनेवाले यूनानी राजदूत मेगास्थिनीज का वास्तव में क्या कथन है, तो फिर उसमें किसी प्रकार के संदेह या मतभेद के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। सिकंदर के साथी इतिहास-लेखक तो आए और आते ही चले गए, पर मेगास्थिनीज के संबंध में यह बात नहीं थी। उसने कई वर्षों तक यहाँ रहकर भली भाँति सब बातों का निरीक्षण किया था। शासन-प्रणाली के स्वरूप के विचार से उसने देश को दो भागों में विभक्त किया—एक तो वह जिसमें एकराजत्व शासन-प्रणाली थी और दूसरा वह जिसमें प्रजातंत्र शासन-प्रणाली थी। उसने लिखा है—

"वे लोग......जहाँ राजा होता है वहाँ, सब बातों की सूचना राजा को देते हैं; और जहाँ लोग स्वाधीन होते हैं, अपना शासन आप करते हैं, वहाँ मजिस्ट्रेटों—स्थानीय अधिकारियों—को सूचना देते हैं*।"

---

* मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes, Arrian XII. साथ ही उक्त ग्रंथ के पृ० २१२ में लिखा है—"राज्य के मंत्री या परामर्शदाता.........जो सार्वजनिक कार्यों के प्रबंध में राजा को अथवा स्वाधीन नगरों के मजिस्ट्रेटों को परामर्श दिया करते हैं।"

§ ६१. यूनानी इतिहासकारों ने जिन प्रजातंत्रों का उल्लेख किया है, उनकी सब बातों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जाता है।

कथई

यूनानी लेखकों ने लिखा है कि कथई भारत की सब से अधिक पराक्रमी जातियों में से एक है। यह जाति Hydraotes या रावी नदी के पूर्व में उस स्थान पर निवास करती थी जिस स्थान पर आजकल लाहौर और अमृतसर के जिले हैं। उनकी राजधानी संकल में थी। कथई लोग युद्ध-विद्या में निपुण और पराक्रमी होने के कारण सबसे अधिक प्रसिद्ध थे*। सिकंदर के साथ युद्ध करने के थोड़े ही दिनों पहले उन्होंने कुछ दूसरे भारतीय प्रजातंत्रियों के साथ मिलकर राजा पुरु और अभिसार के राजा दोनों को हराया था। कहा गया है कि इन कथई लोगों ने ही सिकंदर के मुकाबले में वह व्यूह-रचना की थी जो हिंदू युद्धकला में शकट-व्यूह कहलाती है और जिस व्यूह-रचना के कारण सिकंदर के सैनिकों को बहुत अधिक कठिनता का सामना करना पड़ा था। यद्यपि उनके मुकाबले पर आई हुई शत्रु-सेना की संख्या बहुत अधिक थी, तथापि वे लोग बहुत ही वीरतापूर्वक लड़े थे और उन्होंने हार नहीं मानी थी†। इस जाति के पुरुष और स्त्रियाँ आप

---

* देखो एरियन कृत Anabasis, V.22. IIA; पृ० ११५.

† एरियन की कुछ प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह सिकंदर की कीर्ति बढ़ाने के लिये भारतवासियों और उनके निहतों की संख्या बहुत बढ़ा-

ही अपनी पसंद से विवाह किया करती थीं और स्त्रियों में सती की प्रथा प्रचलित थी। स्ट्रैबो के लेखानुसार उनमें का सब से अधिक सुंदर आदमी ही राजा चुना जाता था*।

कुछ विद्वानों ने इन कथइयों को चत्रिय बतलाया है, अर्थात् कथई शब्द को संस्कृत के चत्रिय शब्द का बिगड़ा हुआ रूप माना है†; परंतु उनका यह कथन टिक नहीं सकता। सब से पहली बात तो यह है कि यूनानी लेखकों ने नामों के जितने रूप दिए हैं, वे सब संस्कृत उच्चारण के आधार पर हैं; पर कथ शब्द प्राकृत का है और इसलिये अपवाद रूप है। जब कि सारे देश पंजाब में संस्कृत रूपों का व्यवहार होता था, तब यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि कथई शब्द प्राकृत रूप के आधार पर बना हुआ है। और फिर विचार करने की यह एक बात रह ही जाती है कि क्या चत्रिय शब्द के प्राकृत रूप से भी कथई शब्द निकल सकता है। उस दशा में तो हमें इस शब्द का कथई नहीं बल्कि खत्तिय अथवा इसी से मिलता जुलता हुआ और कोई रूप मिलना चाहिए। फिर

कर बतलाता है। अतः उसके दिए हुए अंकों का सदा कर्टियस और डायोडोरस के दिए हुए अंकों के साथ मिलान कर लेना चाहिए।

* स्ट्रैबो १५.३०. देखो मैक्क्रिंडल कृत Invasion of India as described by Classical Writers, p. 38.

† मैक्क्रिंडल कृत Invasion of India by Alexander the Great, पृ० ३४७।

साथ ही हमें यह बात भी विस्मृत नहीं कर देनी चाहिए कि वही लेखक क्षत्रिय शब्द के लिये Xathroi शब्द का व्यवहार करते हैं। ऐसी दशा में, जैसा कि डा० जोली ने बतलाया है*, उनका कथइया शब्द कठ लोगों के देश के लिये है और कथैओई शब्द स्वयं कठ लोगों के लिये है।

§ ६२. कथई लोगों तक पहुँचने से पहले सिकंदर को रावी नदी के तट पर कई स्वतंत्र भारतीय जातियों अथवा प्रजातंत्रों का सामना करना पड़ा था†। (एरियन, ५. २१.)

रावी से थोड़ी ही दूर पर एक और जाति के लोग बसते थे जिनकी राजधानी को यूनानियों ने पिंप्रम (Pimprama) बतलाया है और जिनके नाम की हिज्जे उन्होंने इस प्रकार की है—

अद्रेस्तई

Adraistai, Adrestae। यूरोपियन विद्वानों का यह कहना है कि इन्हें प्रसिद्ध अरट्ट समझना चाहिए। परंतु भाषाविज्ञान की दृष्टि से अरट्ट शब्द से अद्रेस्तई शब्द निकलना असंभव है। इन्हें पाणिनि (६. २. १००.) का और गणपाठ (४. २. ८०.) का अरिष्ट माना जा सकता है‡।

---

* Sacred Books of the East. ७. भूमिका पृ० १५। कठों के संबंध में § ६३, ८२ और १७६ देखो।

† मैक्क्रिंडल कृत Alexander, पृ० ११६ का नोट।

‡ अरिष्टगौडपूर्वे च ॥६॥२॥१००॥ यहाँ अरिष्टों की राजधानी से अभिप्राय है।

§ ६३. कथइयों की सीमा के पास ही सोफाइटूस का राज्य था जिसे एम० सिलवेन लेवी ने सौभूति माना है*; और उनका यह निर्धारण बिलकुल ठीक है। परंतु यह बात स्पष्ट नहीं होती है कि वहाँ का शासक निर्वाचित राजा हुआ करता था अथवा एकराज†। अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह राज्य प्रजातंत्री ही था‡। यह राज्य प्रजातंत्री सीमा के ही अंतर्गत पाया जाता है और इसके साथ की और बातें तथा विशेषताएँ आदि भी वही मिलती हैं जो प्रजातंत्री राज्यों में होती हैं। गणपाठ में सुभूत का उल्लेख संकल के लोगों के साथ ही किया गया है+। जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं, यह संकलनगर कठों के प्रजातंत्र का राजनगर था। इस सौभूति राज्य की सीमा वहाँ तक चली गई थी जहाँ नमक का पहाड़ है। डायोडोरस (१७. ६१.) का कथन है कि जो नगर सोपीथों के अधीन थे, उनका

सौभूति

---

* जरनल एशियाटिक ८. १५. पृ० २३७.

† देखो § ७७ और ७८.

‡ सिकंदर के आक्रमण के उपरांत इस राज्य के जो सिक्के बने थे और जिन पर यूनानी सिर की आकृति बनी थी, जो कदाचित् सिकंदर या उसके प्रतिनिधि की सूचक थी, उन सिक्कों पर भी राष्ट्रीय नाम सोफाइटूस ही अंकित है। मैक्क्रिंडल कृत Alexander, IIA, २८०; रैप्सन कृत Indian Coins, ३. प्लेट १. ८।

+ पाणिनि का गणपाठ ४. २. ७५.

शासन ऐसे अच्छे कानूनों से होता था, जो अत्यधिक सुंदर और लाभदायक थे और उनकी शासन-व्यवस्था बहुत ही प्रशंसनीय थी। उन लोगों में सौंदर्य का बहुत अधिक आदर होता था। इसके अतिरिक्त साधारणतः इन नगरों के निवासियों का देश के शेष निवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक आदर सम्मान होता था। कथइयों की भाँति सौभूति जाति के लोगों में भी स्त्रियाँ और पुरुष अपना अपना जोड़ा आप चुना करते थे और उनमें दहेज आदि की कोई बात-चीत नहीं होती थी। सौंदर्य को वे लोग बहुत अधिक महत्व देते थे। यह प्रथा केवल कठों और सौभूतियों में ही नहीं थी। प्रजातंत्री वृष्णियों में भी हमें यही बात मिलती है। वे लोग भी अपने प्रजातंत्र का नेता या शासक चुनने में सुंदर आकृति का बहुत अधिक ध्यान रखते थे*। सौभूतियों और कठों में इस नियम के पालन का एक और भी कारण था। "विवाह संबंध स्थापित करने में वे लोग उच्च कुल का ध्यान नहीं रखते, बल्कि सुंदर आकृति का ही ध्यान रखते हैं; क्योंकि उनमें बालकों के सौंदर्य का बहुत अधिक आदर किया जाता है।" इसका कारण यह था कि सौभूति और कठ राज्यों में सार्वजनिक अधिकारियों को इस बात का निश्चय करने का अधिकार होता था कि राज्य में जन्म लेनेवाले शिशुओं में से कौन कौन से शिशु शारीरिक दृष्टि से नागरिक बनाए जाने के

---

* देखो § ११७.

अधिकारी हैं* । कदाचित् हमें यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि स्पार्टा की शासन-व्यवस्था में भी यही बात थी। कठ लोगों में इस संबंध की शिशुओं की जो परीक्षा हुआ करती थी, वह उनके जन्म के दूसरे मास में होती थी (स्ट्रैबो)।

एरियन (५. २४.) ने दो और भी ऐसे नगर राज्यों का उल्लेख किया है जिनमें प्रजातंत्री शासन-व्यवस्था थी, पर उनके नाम नहीं दिए हैं।

व्यास के तट पर एक बड़ा प्रजातंत्र

§६४. सिकंदर जब Hyphasis या व्यास नदी के तट पर पहुँचा, तब उसने सुना कि नदी के उस पार एक ऐसा देश है जो बहुत अधिक उपजाऊ है और जहाँ के निवासी बहुत अच्छे कृषक हैं, युद्ध करने में बहुत वीर हैं और जिनमें बहुत ही सुंदर स्वतंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित है। वहाँ सर्वसाधारण का शासन सरदारों आदि के द्वारा हुआ करता है और

* "यहाँ वे शिशुओं का मान और लालन पालन उनके माता-पिता की इच्छा के अनुसार नहीं करते, बल्कि उन अधिकारियों की इच्छा के अनुसार करते हैं जो शिशुओं की शारीरिक परीक्षा के लिये नियुक्त होते हैं; क्योंकि यदि वे परीक्षक लोग यह कह देते हैं कि शिशु का कोई अंग विद्रूप अथवा त्रुटिपूर्ण है, तो सार्वजनिक अधिकारी उन शिशुओं को मार डालने की आज्ञा दे देते हैं।" मैक्क्रिंडल कृत Invasion of India by Alexander the Great, पृ० २१९. डायो० पृ० २८०. कथइयों के कानून के लिये देखो स्ट्रैबो १५. ३०. इस कानून के अनुसार अंतिम आज्ञा मजिस्ट्रेट या नगर के प्रधान अधिकारी सुनाते थे।

वे लोग अपने अधिकारों का उपयोग बहुत ही न्याय तथा विचारपूर्वक करते हैं (एरियन ५. २५.*)। कौटिल्य के वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः से यह विवरण बहुत कुछ मिलता जुलता है। वे लोग कृषि कर्म करने के कारण बहुत अधिक संपन्न होते थे, अपने आपको युद्ध के लिये सदा तैयार रखते थे और अपनी तलवार पर ही निर्भर रहते थे। पर दुर्भाग्यवश इस राज्य का नाम ही नहीं दिया गया है। वास्तविक शासनाधिकार उन्हीं लोगों के हाथ में था जिन्हें यूनानी लोग सरदार या रईस कहते थे। पर उनकी पार्लिमेंट में पाँच हजार प्रतिनिधि होते थे†। जिस स्थान पर यौधेय सिक्के मिले हैं, उसे देखते हुए व्यास-तट का यह बिना नामवाला राज्य यौधेयों का ही जान पड़ता है। पार्लिमेंट या राजसभा का प्रत्येक सदस्य राजकीय सेना के लिये एक हाथी दिया करता था। एरियन (५.२५.) के अनुसार इन भारतवासियों के पास बहुत अधिक संख्या में हाथी रहा करते थे और वे हाथी बहुत बड़े

---

* मैक्क्रिंडल कृत I. I. by Alexander पृ० १२१.

† "हुपानिस नदी के उस पार की सारी भूमि बहुत अधिक उपजाऊ होती है।.........लोग कहते हैं कि वहाँ ऐसी शासन-व्यवस्था है जिसमें सरदार या रईस लोग शासन करते हैं और जिनमें पाँच हजार सदस्य या प्रतिनिधि होते हैं; और उनमें से प्रत्येक सदस्य राज्य को एक हाथी देता है।" स्ट्रैबो १५. ३७. (मैक्क्रिंडल कृत Ancient India as described in Classical Literature, पृ० ४५.)

तथा साहसी हुआ करते थे। जैसा कि स्वयं सिकंदर ने लिखा है—"मैसिडोनियावाले केवल छोटी छोटी सेनाओं से लड़ने के अभ्यस्त थे*" और अब की पहले पहल उन्हें बहुत बड़ी बड़ी सेनाओं का सामना करना पड़ा था। वे लोग ऐसी जातियों के मुकाबले पर एक इंच भी आगे बढ़ने के लिये तैयार नहीं होते थे जिन जातियों का नाम सुनकर ही, सिकंदर के कथनानुसार, उसके सैनिक भयभीत हो जाते थे†। यही वह बिना नाम-वाला प्रजातंत्र था जो व्यास नदी के दूसरे तट पर स्थित था। इसके अतिरिक्त मैसिडोनियावालों का स्वागत करने के लिये नंद की बहुत बड़ी सेना भी प्रतीक्षा कर रही थी। परंतु भय का तात्कालिक कारण यह था कि नदी के उस पार ही प्रजातंत्रवालों से उनकी मुठभेड़ होने को थी। अब सिकंदर के सैनिक हतोत्साह होने लगे, और आपस में मिलकर परामर्श के लिये सभाएँ करने लगे, जिनमें लोगों ने दृढतापूर्वक यह निश्चय किया कि अब हम लोग सिकंदर का और आगे साथ नहीं देंगे‡। इसी बिना नामवाले प्रजातंत्र के द्वार या सीमा पर से सिकंदर के आक्रमणकारी साथी पीछे हटे थे।

इन लोगों की काउंसिल के सदस्यों की इतनी अधिक संख्या की तुलना लिच्छवी गण के सदस्यों से की जा सकती है (§४७)।

---

* I. I. A. पृ० २२४.

† मैक्क्रिंडल I. I. A. पृ० २२६.

‡ एरियन ५. २५, देखो मैक्क्रिंडल कृत I. I. A. पृ० १२१.

§ ६५. पीछे लौटने पर भी सिकंदर को कई प्रजातंत्र राज्य मिले थे। वास्तव में उसे लौटते समय सिंधु नद के तट पर और बलोचिस्तानावधि भारतीय सीमा तक जितने राज्य मिले, वे सब प्रजातंत्री ही थे। उनमें से सब से अधिक बलशाली क्षुद्रक और मालव थे।

क्षुद्रक, मालव और शिबि

यूनानियों ने इनके नाम क्रमशः इस प्रकार लिखे हैं--Oxydrakai, Malloi। ये दो राज्य हिडैस्पेस के तट पर थे। इस हिडैस्पेस से यूनानियों का कदाचित् झेलम नदी के उस अंश से अभिप्राय है जो उसमें चनाब नदी के सम्मिलित होने के उपरांत पड़ता है। इन दोनों राज्यों ने मिलकर एक संघ या लीग स्थापित की थी*। एरियन (६. ६.) कहता है कि इन प्रदेशों में ये लोग संख्या में भी बहुत अधिक थे और भारतीय जातियों में से सब से अधिक योद्धा भी थे। सिकंदर पहले उस जाति के पास पहुँचा जो मल्लोई कहलाती है। इन मल्लोइयों के पास ही उनके प्रजातंत्री मित्र रहते थे जो सिबोइ† (Siboi) कहलाते थे और जिन्हें जातकों तथा पतंजलि ने क्रमशः सिवि और शैव्य कहा है‡।

* मिलाओ काशिका का क्षत्रिय-द्वंद्व ४. २. ४५.

† कर्टियस ६. ४. उन लोगों में कोई राजा नहीं था। बड़े बड़े अधिकारियों का काम केवल नागरिक ही करते थे। डायोडोरस १७. ६६.

‡ जातक ६. ४८०, कीलहार्न २. २८२. जातकों के समय में ये लोग सोवीर से संबद्ध थे (४. ४०१); अर्थात् उस समय भी वे लोग उसी स्थान पर थे जिस स्थान पर यूनानियों से उनका मुकाबला हुआ था।

मल्लोइयों की जाति स्वतंत्र भारतीय कहलाती है (एरियन ६. ६.)। उनके नगर चनाब के तट पर थे और उनकी राजधानी रावी के समीप थी। मल्लोइयों की इसी राजधानी अथवा उनके नगरों में से किसी एक पर घेरा डाले रहने के समय ही एक बार सिकंदर मरते मरते बचा था। इस लीग या द्वंद्व की एकता के ही कारण यूनानी लेखक इस बात का ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सके थे कि सिकंदर पर यह प्राण-संकट मल्लोइयों के नगर में आया था या औक्सिड्रेकाय के नगर में। कर्टियस के अनुसार इन दोनों की सेनाओं की संख्या एक लाख थी। "जब इस सेना का सामना करने का अवसर आया, तब मैसिडोनियावालों के छक्के छूट गए।" "जब मैसिडोनियावालों को पता चला कि अभी हमें तुरंत ही एक और युद्ध करना पड़ेगा जिसमें हमारे विपक्षी भारत के सब से बड़े योद्धा होंगे, तब उन्हें आकस्मिक भय ने आ दबाया और वे लोग विद्रोहात्मक भाषा में फिर से अपने राजा की निंदा करने लग गए*।" इन भारतीयों को सिकंदर के सैनिक भया-

---

जातकों के समय में उनमें एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी। उनके प्रजातंत्री सिक्कों तथा परवर्ती प्रस्थान के लिये आगे § १५० देखो। पतंजलि ने शिबि को एक देश या राज्य (विषय) के नाम के रूप में लिखा है।

* कर्टियस भाग ६. अध्याय ४. मैक्क्रिंडल I. I. by Alexander, पृ० २३४.

नक जातियों के समझते थे और उनकी धारणा थी कि ये लोग बिना हमारा रक्त बहाए हमें नहीं जाने देंगे। मैसिडोनिया-वालों का इस प्रकार भयभीत होना बहुत ही ठीक था; और इस बात का समर्थन सिकंदर की व्यक्तिगत विपत्ति और उसके उपरांत होनेवाले आर्तनाद से भली भाँति होता है (I. I. A. पृ० २४१-२)।

§ ६६. यूनानी लेखक सदा सिकंदर की कीर्त्ति और यश का आवश्यकता से कहीं अधिक विस्तार करने और महत्व बढ़ाने के लिये परम उत्सुक रहा करते थे*; और वे अपने वर्णनों से हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि सिकंदर ने क्षुद्रकों और मालवों को कुचल डाला और नष्ट कर दिया था। पर पतंजलि कुछ और ही बात बतलाता है। वह इस द्वंद्व को इस प्रकार वर्णन करता है जिससे सूचित होता है कि उसके

* "इस घटना के संबंध में इतिहासकारों ने बहुत सी मनगढ़ंत बातें लिखी हैं और प्रसिद्धि या कीर्त्ति ने उन्हें उनके मूल आविष्कारकों से प्राप्त करके हमारे समय तक सुरक्षित रखा है। और अब आगे भी वह इन झूठी बातों को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने में नहीं चूकेगी।" एरियन, भाग ६, अ० ११.

"प्रसिद्धि या कीर्त्ति कभी इतनी स्पष्ट नहीं होती कि उसमें सब बातें अपने वास्तविक रूप में दिखाई पड़ सकें। जब वह उन बातों को हस्तांतरित करती है, तब उन सब का रूप बहुत अधिक बढ़ जाता है। स्वयं हमारी (सिकंदर की) कीर्त्ति भी यद्यपि अधिक दृढ़ आधार पर स्थित है, तथापि वह अपने महत्व के लिये वास्तविकता की अपेक्षा प्रवाद की अधिक ऋणी है।" मैक्क्रिंडल कृत I. I. by Alexander पृ० २२३.

सामने यह द्वंद्व जीवित और प्रस्तुत था और उसमें से एक अर्थात् क्षुद्रक लोग विजयी हुए थे* । युद्ध की समाप्ति पर भी उन लोगों का जो महत्व बच रहा था, उसे मैसिडोनिया के लेखक स्वयं स्वीकृत करते और उसका वर्णन करते हैं। इन दोनों जातियों ने "सौ राजदूत भेजे थे जो सब रथों पर आरूढ़ थे और असाधारण रूप से हृष्ट-पुष्ट तथा देखने में बहुत ही भव्य थे। वे बढ़िया रेशमी वस्त्र पहने हुए थे जिनमें जरी का काम बना हुआ था।" "उन्होंने कहा था कि हमारे इस दबने का कारण भय नहीं है, बल्कि दैव की प्रतिकूलता है।" उन्हें अपनी "उस स्वाधीनता के लिये बहुत अधिक अभिमान था जिसे उन्होंने बहुत दिनों से अक्षुण्ण रखा था।" जो लोग सिकंदर का विरोध करते थे, उनके साथ वह बहुत ही बुरी तरह पेश आता था। वह प्रतिहिंसापरायण था। परंतु यद्यपि इन विरोधियों से सिकंदर को स्वतः बहुत अधिक शारीरिक कष्ट पहुँचा था, तथापि उसने इन दूतों का असाधारण रूप से आतिथ्य सत्कार किया था। "उसने एक बहुत ही शानदार दावत की तैयारियाँ करने की आज्ञा दी जिसमें उसने इन दूतों को निमंत्रित किया।"........."वहाँ थोड़े थोड़े अंतर पर सोने की एक सौ चौकियाँ रखी गईं और उनके चारों ओर जरदोजी के काम के बहुत बढ़िया परदे टाँगे गए।"

* एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् । पतंजलि कृत पाणिनि का भाष्य; ५. ३. ५२. कीलहार्न २. पृ० ४१२.

(कर्टियस भाग ६. अ० ७.)* सिकंदर ने उन लोगों की ऐसी दावत की जिसमें शराब की नदियाँ बहीं और तब "सब दूत अपने अपने स्थान के लिये बिदा कर दिए गए" (अ० ८)*। यह वर्णन वैसा नहीं है जैसा किसी पराजित या कुचली हुई सेना का होता है, बल्कि एक ऐसी जाति का जान पड़ता है जिसकी वीरता की अच्छी तरह परीक्षा कर चुकने के उपरांत जिनके अधीनता स्वीकृत करने का सिकंदर ने आदर और स्वागत किया था। इस परावर्तन में सिकंदर को केवल अपना पश्चाद्भाग ही सुरक्षित नहीं रखना पड़ा था, बल्कि 'विद्रोही' मैसिडोनियावालों में विश्वास उत्पन्न करके उन्हें शांत करना पड़ा था।

§ ६७. कात्यायन के वार्त्तिक तथा पाणिनि के 'खंडिकादिभ्यश्च' (४. २. ४५) के पतंजलि के भाष्य से यह बात प्रमाणित होती है कि इन दोनों का द्वंद्व कात्यायन के समय से भी पहले मौजूद था। हाँ, पाणिनि के समय में यह द्वंद्व नहीं था; क्योंकि उसने इन दोनों की संयुक्त सेना के नाम का रूप बनाने का कोई नियम नहीं दिया है। कात्यायन ने इसके लिये भी एक नियम बना दिया; और इस प्रकार उसने अपने समय में जो त्रुटि पाई, वह दूर कर दी। पतंजलि ने इन दोनों का जो संयुक्त नाम पाया या सुना था, वह उसने गणपाठ में दे दिया; क्योंकि वह कहता है—'क्षुद्रकमालवशब्दः खंडिकादिषु पठ्यते' अर्थात् "खंडिका वर्ग में क्षुद्रक मालव शब्द

---

* मैक्क्रिंडल कृत I. I. A. पृ० २४८-४९.

पढ़ा (पाया) जाता है।" पतंजलि ने एक पुराना पद्य उद्धृत किया है, जिससे सिद्ध होता है कि क्षुद्रक मालव कोई गोत्र नहीं है। उसमें आपिशालि का भी एक ऐसा नियम दिया है, जिसके संबंध में उस पद्य का रचयिता यह समझता है कि यह क्षुद्रक मालव के लिये प्रयुक्त हो सकता अथवा होता है। परंतु स्वयं उस नियम से यह नहीं ज्ञात होता कि उसका रचयिता उन लोगों से परिचित था* ।

---

* वेबर (History of Indian Literature) ने इस समस्त विवेचन को समझने में भूल की; और इसी भूल के कारण उसने गाड़ी को लाकर घोड़े के आगे जोत दिया—उसका बिलकुल विपरीत अर्थ कर डाला; क्योंकि वह कहता है कि आपिशलि ने उन दोनों को संयुक्त समझा था। वह समझता था कि इन दोनों का द्वंद्व है; और इसी लिये उसका उत्तराधिकारी या परवर्ती पाणिनि इन दोनों के द्वंद्व के उपरांत हुआ था, अर्थात् पाणिनि का समय सिकंदर के बाद का है। परंतु पाणिनि के नियम या सूत्र के कारण जो आवश्यकता उत्पन्न हुई थी, उस आवश्यकता की पूर्त्ति कात्यायन और पतंजलि दोनों ही कर रहे हैं। यह नियम या सूत्र ऐसे समय में बना था, जिस समय इन दोनों का द्वंद्व या संयोग नहीं हुआ था। आपिशलि उनके लिये कोई नियम नहीं देता है; और जिस वैयाकरण ने पतंजलि द्वारा उद्धृत पद्य की रचना की थी, उसने आपिशलि के ऐसे नियम का प्रयोग किया था जिसका क्षुद्रक मालव के साथ कोई संबंध नहीं था। उस पद्य का रचयिता कात्यायन के वार्त्तिक से परिचित था। यदि कात्यायन के समय से पहले ही आपिशलि अथवा किसी और ने इस अपवादात्मक नियम की रचना की होती, तो कात्यायन अपने वार्त्तिक में इस भूल को ठीक करने का श्रेय न प्राप्त करता। जो लोग इस विषय के मूल विवेचन को जानने के लिये

§ ६८. **कर्टियस का कथन है कि इन दोनों की संयुक्त सेना का संचालन करने के लिये क्षुद्रकों में से एक वीर चुना गया था और वह एक अनुभवी सेनापति था (भाग ६. प्रक० ४.)।**

उत्सुक हों, उनके सुभीते के लिये यहाँ उसका पूरा उद्धरण दे दिया जाता है। इन सब बातों से अंतिम परिणाम यही निकलता है कि यद्यपि क्षुद्रक और मालव लोग पाणिनि के समय से पहले मौजूद थे, तथापि पाणिनि से पहले उन दोनों का द्वंद्व संबंध नहीं हुआ था; और कात्यायन तथा पतंजलि के समय में इन दोनों का द्वंद्व बिलकुल जीवित दशा में उपस्थित या प्रचलित था। इस प्रकार इससे यह भी जान पड़ता है कि इन दोनों का द्वंद्व या संघटन मौर्य साम्राज्य के बाद तक भी चलता रहा।

खण्डिकादिभ्यश्च ॥ ४ । २ । ४५ ॥

"अञ्सिद्धिरनुदात्तादेः कोऽर्थः क्षुद्रकमालवात्।"

अनुदात्तादेरित्येवाञ्सिद्धः किमर्थं क्षुद्रकमालवशब्दः खण्डिकादिषु पठ्यते। गोत्राश्रयो वुञ्प्राप्तस्तद्बाधनार्थम्।

"गोत्राद्वुञ् न च तद्गोत्रं।"

गोत्राद्वुञ् भवतीत्युच्यते न च क्षुद्रकमालवशब्दो गोत्रम्। न च गोत्रसमुदायो गोत्रग्रहणेन गृह्यते। तद्यथा। जनपदसमुदायो जनपदग्रहणेन न गृह्यते। काशिकोसलीया इति वुञ् न भवति॥ तदन्तविधिना प्राप्नोति।

"तदन्तान्न स सर्वतः॥ १॥"

परिगणितेषु कार्येषु तदन्तविधिर्न चेदं तत्र परिगण्यते॥

"ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे"

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो भवतीह तदन्तविधिरिति॥

"तथाचापिशलेर्विधिः।"

यह बतला देना भी आवश्यक और महत्वपूर्ण जान पड़ता है कि सिकंदर के साथ संधि स्थापित करने के लिये इन दोनों प्रजातंत्रों से जो दूत आए थे, वे कौन और कैसे लोग थे। ये लोग अपने अपने नगर और प्रांत के प्रतिनिधि स्वरूप तथा मुखियाओं में से थे। "औक्सूजैड्रकियों में से उनके नगरों के अग्रगण्य लोग तथा उनके प्रांतीय शासक लोग आए थे* ।" उन लोगों को "संधि स्थापित करने का पूरा पूरा अधिकार दिया गया था।" कहा जाता है कि मल्लोइयों के प्रतिनिधियों ने

एवं च कृत्वापिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति ।

धेनुरनञि कमुत्पादयति । धेनूनां समूहो धैनुकम् ।

अनञीति किमर्थम् । अधेनूनां समूह आधेनवम् ॥

"सेनायां नियमार्थं वा"

अथवा नियमार्थोऽयमारम्भः । क्षुद्रकमालवशब्दात्सेनायामेव । क्व मा भूत् । क्षौद्रकमालवकमन्यदिति ॥

"यथाबाध्येत वाञ्वुञा ॥ २ ॥"

अथवा ज्ञापयत्याचार्यः पूर्वोऽपि वुञ्परमञं बाधत इति । ननु चोक्तं गोत्राद्वुञ् न च तद्गोत्रमिति । तदन्तविधिना प्राप्नोति । ननु चोक्तं तदन्तान्न स सर्वत इति । ज्ञापकः स्यात्तदन्तत्वे । एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो भवतीह तदन्तविधिरिति । कथं पुनरेतदुभयं शक्यं ज्ञापयितुं भवति च तदन्तविधिः पूर्वश्च वुञ्परमञं बाधत इति । उभयं ज्ञाप्यते ॥

अञ्प्रकरणे क्षुद्रकमालवात्सेना संज्ञायाम् ॥ १ ॥

अञ्प्रकरणे क्षुद्रकमालवात्सेनासंज्ञायामितिवक्तव्यम् । क्षौद्रकमालवी सेना चेत् । क्व मा भूत् । क्षौद्रकमालवकमन्यदिति ॥

* एरियन भाग ६. प्रक० १४. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० १५४.

कहा था कि "औरों की अपेक्षा हम लोगों को स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता अधिक प्रिय है और हम लोगों की स्वतंत्रता डायोनीसियस के समय से अक्षुण्ण चली आ रही है* ।" कदाचित् इस डायोनीसियस से यूनानियों का अभिप्राय बलराम से था ।

§ ६९. यहाँ यह बात भी ध्यान रखने के योग्य है कि इन स्वतंत्र भारतवासियों की सुंदर आकृति और शरीर की बढ़िया गठन पर मैसिडोनिया के लेखकों का विशेष रूप से ध्यान गया था । हमने आगे चलकर (इक्कीसवाँ प्रकरण) भारतीय प्रजातंत्रों का मानव विज्ञान की दृष्टि से जो विवेचन किया है, उस विवेचन के लिये यह बात विशेष महत्व की और ध्यान रखने के योग्य है ।

अंदाज से मालूम होता है कि झेलम और चनाब के संगम के उपरांत नीचे की ओर जो प्रदेश पड़ता है, उस प्रदेश में मालव लोगों का निवास था और उससे पहले के ऊपरी प्रदेश में क्षुद्रक लोग रहा करते थे† ।

§ ७०. इन अंतिम दोनों प्रजातंत्रों के पास ही सिकंदर को अगसिनेई‡ लोग मिले थे, जिन्होंने, यदि हम डायोडोरस

---

* एरियन भाग ६. प्रक० १४. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० १५४.

† स्थान के संबंध में विन्सेन्ट स्मिथ की सम्मति देखो । जरनल रायल एशियाटिक सोसायटी; १९०३. पृ० ६८५.

‡ इस नाम के ठीक ठीक निर्धारण के संबंध में देखो § ४८.

का विश्वास करें तो, ४०००० पैदल और ३००० घुड़सवारों की सेना एकत्र की थी। "वे अपनी तंग गलियों में जम गए थे और बहुत वीरतापूर्वक लड़े थे, जिसके कारण सिकंदर को आक्रमण करते हुए आगे बढ़ने में अपने कुछ सैनिकों के प्राण गँवाने पड़े थे*।"

अग्रश्रेणी

कर्टियस का कथन है कि जब ये वीर लोग अपने विकट आक्रमणकारियों को रोक न सके, तब उन लोगों ने अपने घरों में आग लगाकर अपनी स्त्रियों और बच्चों को उसी प्रकार जला डाला, जिस प्रकार इधर के राजपूत जौहर करके अपने बाल-बच्चों को जला डाला करते थे†।

§ ७१. यूरोपियन विद्वानों का मत है कि ये लोग आर्जुनायन थे‡। परंतु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उनका यह निर्धारण ग्राह्य नहीं हो सकता। यह नाम अग्र और श्रेणी इन दो शब्दों के संयोग से बना है। और यह मूल शब्द

---

* डायोडोरस, भाग १७, प्रक० ९६. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० २८५.

† कर्टियस, भाग ९, प्रक० ४. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० २३२.

‡ उक्त ग्रंथ से, पृ० ३६७. जान पड़ता है कि उस समय आर्जुनायन राज्य का अस्तित्व ही नहीं था। पतंजलि के समय तक उसका पता नह चलता। महाभारत में भी जिसमें उस प्रांत के, जिसका हम उल्लेख कर रहे हैं, सब प्रजातंत्रों का वर्णन है, इसका कहीं नाम नहीं है। (देखो सभापर्व, अध्याय ३२. श्लोक १४—१५.)

कौटिल्य की प्रजातंत्रवाली उस सूची में पाया जाता है, जिसमें के प्रजातंत्र अपने शासक को राजा नहीं कहते थे, बल्कि जो शस्त्रोपजीवी थे*। वहाँ केवल श्रेणी रूप ही मिलता है, और उसके साथ के अग्र शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रेणियों में एक से अधिक वर्ग या विभाग थे (§ ५८)।

§ ७२. इसके उपरांत यूनानियों ने जिस प्रजातंत्र का उल्लेख किया है, वह अंबष्ठों का है। यूनानियों ने यह नाम

अंबष्ठ

अंबस्तई या अंबस्तनोइ रूप में लिखा है†। न तो संख्या में ही और न वीरता में ही वे लोग भारत में किसी से कम थे। उनमें प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी‡। उनकी सेना में ६०००० पैदल, ६००० सवार और ५०० रथ थे। उन्होंने अपने लिये तीन सेनापति चुने थे, जो अपनी वीरता और युद्ध-कुशलता के लिये प्रसिद्ध थे।

सिकंदर ने इन लोगों के साथ संधि कर ली थी। उसके पास इनमें के पचास प्रमुख नागरिक, राजदूत के रूप में, यह विश्वास करके आए थे कि हमारे साथ बहुत ही सज्जनतापूर्ण व्यवहार किया जायगा। डायोडोरस का कथन है कि अंबष्ठों

---

* देखो ऊपर § ५३ का विवेचन।

† डायोडोरस, भाग १७, प्रक० १०२. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० २९२.

‡ कर्टियस, भाग ९, प्रक० ८, मैकक्रिंडल कृत Alexander पृ० २५२.

के वृद्धों या ज्येष्ठों ने उनको यह परामर्श दिया था कि अब तुम लोग युद्ध मत करो; और उन लोगों ने उन्हीं का वह परामर्श मानकर ये दूत भेजे थे। संभवत: इससे यही सूचित होता है कि इनकी शासन-व्यवस्था में वृद्धों या ज्येष्ठों का भी एक मंडल था।

§ ७३. पतंजलि और महाभारत में अंबष्ठों के राज्य अथवा राजनीतिक वर्ग का उल्लेख है*। पुराणों में आया है कि ऐल वंश के अंबष्ठ ने पंजाब में एक राजवंश स्थापित किया था†। पुराणों में उनका आरंभिक विवरण मिलता है; और उससे सूचित होता है कि पहले उन लोगों में एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी। जिस प्रकार शिवि लोगों में पहले एक-राज शासन-प्रणाली थी और बाद में प्रजातंत्र स्थापित हुआ था, उसी प्रकार इन लोगों में भी पहले एकराज शासन-व्यवस्था थी और बाद में इन लोगों ने प्रजातंत्र शासन-प्रणाली ग्रहण की थी (§ ६५. नोट)। यौधेयों के संबंध में भी पुराणों का यही कथन है कि अंबष्ठों के साथ साथ इन लोगों में भी एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी। परंतु यौधेय

---

* पाणिनि पर महाभाष्य; ४. १. १७०. मिलाओ काशिका पृ० २९२-३. पतंजलि के अनुसार अंबष्ठ देश या राज्य का नाम है और उसके निवासी अंबष्ठ्य कहलाते हैं।

सभापर्व, अध्याय ३२, श्लोक ७-९ जिसमें ये लोग मालवों के साथ रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त देखो पाणिनि ८. ३. ९७.

† पार्गिटर, जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी; १९१४, पृ० २७७.

लोगों का बाद का जो कीर्त्तिपूर्ण इतिहास है, उसमें वे लोग प्रजातंत्री हो थे। अतः पुराणों का कथन अवश्य ही उनकी आरंभिक अवस्था के संबंध में होगा*।

§ ७४. इनके उपरांत दूसरी स्वतंत्र जाति क्षत्रोइयों की थी। इस शब्द का संस्कृत रूप क्षत्रिय होगा। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इन लोगों का वही प्रजातंत्र था जिसका नाम क्षत्रिय था और जो इसी रूप में अर्थशास्त्र में दिया हुआ है। कौटिल्य ने इन्हें श्रेणियों के साथ रखा है; और यहाँ भी हमें क्षत्रिय लोग श्रेणियों के पड़ोस में ही मिलते हैं। जैसा कि हम अभी पहले कह चुके हैं, आधुनिक सिंधी खत्री ही इनके प्रतिनिधि या वंशज जान पड़ते हैं। कौटिल्य के वर्गीकरण के अनुसार ये लोग राजशब्दोपजीवी वर्ग के हैं, अर्थात् इन लोगों का प्रधान शासक राजा नहीं कहलाता था †।

§ ७५. एरियन के कथनानुसार ओस्सदिओई (Ossadioi) भी एक स्वतंत्र जाति के लोग थे‡। और किसी लेखक ने

---

* जो लोग अंबष्ठों के दक्षिण में निवास करते थे, उन्हें यूनानी लोगों ने सोढ़ै (Sodrai) लिखा है। (मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० २९३.) इन सिंधी लोगों को लैसन ने (Ind. Ant. 2. 144, 177.) शूद्र बतलाया है। परंतु यह रूप पाणिनि के गणपाठ ४. २. ४. के शौद्र (शौद्रायण) से अधिक मिलता हुआ है।

† अर्थशास्त्र ११. पृ० ३७६.

‡ एरियन, भाग ६. अ० १५. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० १५६. स्ट्रैबो, भाग १५. प्रक० ३४.

इनका उल्लेख नहीं किया है। इन्हें यौधेय मानना (जैसा कि कनिंघम ने माना है *) भाषा-विज्ञान के तत्वों के आधार पर ठीक नहीं है। जैसा कि वी० डी सेंट मार्टिन (मैक्क्रिंडल, Alexander पृ० १५६. नोट) में बतलाया है, ये लोग महाभारत (सभापर्व, अध्याय ५२. श्लोक १५) में वर्णित वसाति जान पड़ते हैं। महाभारत में ये लोग क्षुद्रकों और मालवों के पड़ोसी के रूप में मिलते हैं; और इनका नाम उस वर्ग में है जो अंबष्ठों से आरंभ होता है। कात्यायन और पतंजलि ने वसाति लोगों के देश का शिबि लोगों के देश के साथ उल्लेख किया है (पाणिनि पर भाष्य ४. २. ५२.)। गणपाठ (पाणिनि का ४. २. ५३.) में ये लोग ऐसे वर्ग में रखे गए हैं जिसका आरंभ प्रजातंत्री राजन्यों से होता है (§ १६०.)।

सुसिकनि

§ ७६. यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसके उपरांत जिस जाति या राज्य का उल्लेख है, उसमें एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी अथवा प्रजातंत्र शासन-प्रणाली। पर हाँ, सिकंदर के साथियों ने उनकी शासन-प्रणाली और कानूनों की बहुत प्रशंसा की है। "ये लोग किसी कला, उदाहरणार्थ युद्ध आदि, का बहुत अधिक पीछा करना अथवा उसमें बहुत अधिक निपुणता प्राप्त करना अनुचित और निंदनीय समझते हैं।" (स्ट्रैबो १५. ३४.) यह राज्य भारतवर्ष भर में सब से

---

* कनिंघम A. S. R. भाग १४. पृ० १४०.

अधिक संपत्तिशाली और संपन्न कहा गया था *। इसके सब नागरिक एक साथ मिलकर भोजन करते थे। इस प्रकार की प्रथा का अथर्व वेद में भी उल्लेख है †। वे लोग दासत्व प्रथा को नहीं मानते थे। (स्ट्रैबो १५. ३४.) अपने यहाँ के साहित्य में से इस स्वतंत्र जाति के लोगों का नाम ढूँढ़ निकालना बहुत कुछ संभव है। लैसन का मत है ‡ कि ये लोग मूषिक हैं; पर यह बात ठीक नहीं है। मूषिक लोग सह्य या विंध्य पर्वत के नीचे रहते थे +। यूनानियों का शब्द, जान पड़ता है, उन लोगों के लिये है जिन्हें काशिका

---

* मैक्क्रिंडल कृत Ancient India as described in Classical Literature. पृ० ४१

† ज्यायस्वंतश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयंतः सधुराश्चरंतः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदंत एत सध्रीचीनांवः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥ समानी प्रपा सहवोन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।............॥ ६ ॥ ३० ॥ ५—६ ॥

"समान मनवाले अपने नेता का अनुकरण करते हुए उनसे अपने आपको कभी अलग मत रखो। एक दूसरे के साथ मिलते हुए, एक ही मार्ग का अनुसरण करते हुए, परस्पर प्रिय रूप से भाषण करते हुए यहाँ आओ। मैं तुम्हें समान उद्देश्य और समान मनवाला बनाता हूँ।"

"तुम लोगों का पान समान होगा; अन्न का भाग भी समान होगा। मैं तुम सबको एक ही मार्ग में युक्त करता हूँ।"

‡ मैक्क्रिंडल कृत I. I. A. पृ० १५७. नोट।

+ जायसवाल, Hathigumph Inscription of the Emperor Kharvela, J. B. O. R. S. भाग ४. पृ० ३७६.

(पाणिनि पर वृत्ति ४. २. ८०. पृ० ३१३.) में मुचुकर्ण कहा गया है और जहाँ यह शब्द एक विशिष्ट देश मौचुकर्णिक का नाम सूचित करने के लिये आया है। छपे हुए गणपाठ में यह शब्द अशुद्ध रूप में मिलता है। परंतु काशिका में इस शब्द का जो रूप दिया गया है, उसका समर्थन वर्धमान कृत गणरत्न-महोदधि* (४. २८५.) से भी होता है और वर्धमान ने इसका रूप शकटांगज के आधार पर दिया है। इसका एक दूसरा रूप मुचिकर्ण भी जान पड़ता है (अशुद्ध रूप शुचिकर्ण पृ० १७४.)।

[इनके पड़ोसी संबोस और प्रेस्ती (जो कदाचित् महाभारत में वर्णित प्रस्थल हैं†) राज्यों के रूप में उल्लिखित हैं।]

§ ७६ क. इसके उपरांत सिकंदर ने ब्रचमनोई नामक जाति के नगर पर (एरियन ६. १६. डायोडोरस २७. १०२.) आक्रमण किया था, जिसे ब्रचमन का देश (डायोडोरस १७. १०३.) कहा गया है। जान पड़ता है कि यह वही नगर है जिसे पतंजलि ने "ब्राह्मणको नाम जनपदः" (२. पृ० २६८.) अर्थात् ब्राह्मणक नामक देश या राज्य कहा है। यहाँ जनपद शब्द उसी अर्थ में आया है जिस अर्थ में उसका प्रयोग पाणिनि में और सिक्कों पर हुआ है। अर्थात् उसका अर्थ है—ऐसा देश या राज्य जो

ब्रचमनोई

* भीमसेन द्वारा संपादित; १८९८ (प्रयाग) पृ० १७४.

† सभापर्व, अध्याय १४.

राजनीतिक दृष्टि से सर्वथैव स्वतंत्र हो और जो किसी के अधीन न हो। यूनानी लोग राज्य और विशः को इतना एक मानते हैं कि उसके कारण वे प्रत्येक राज्य के नागरिकों को विशः ही मान बैठते हैं। सिंध और पंजाब के सभी स्वतंत्र नगरों और राज्यों के संबंध में उन्होंने ऐसा ही किया है। परंतु इन राज्यों के समय के भारतीय लेखक आदि इन्हें जनपद या देश आदि कहते हैं, जैसा कि पाणिनि ने लिखा है (४. १. १६८—१७७.)। तात्पर्य यह कि भारतीय लोग अपना विभाग आदि देश या सीमा के विचार से किया करते थे, विशः (वर्ग या tribe) के विचार से नहीं।

इस छोटे से प्रजातंत्र ने बहुत अधिक उत्साह और देश-प्रेम प्रकट किया था; और सिकंदर ने इससे विशेष रूप से बदला चुकाने का मन में दृढ़ संकल्प किया था। प्लूटार्क ने सिकंदर के जीवनचरित्र (५९) में ब्राह्मणों (मैक्क्रिंडल कृत I. L. A. पृ० ३०६) के नगर का उल्लेख करते हुए कहा है कि "केवल धन के लोभ में पड़कर लड़नेवालों ने सिकंदर को जितना अधिक कष्ट दिया था, उससे कम कष्ट इन दार्शनिकों ने उसे नहीं दिया था; क्योंकि जो राजा लोग सिकंदर की अधीनता स्वीकृत करके उसके पक्ष में चले जाते थे, उन राजाओं की ये लोग बहुत अधिक निंदा करते थे और स्वतंत्र राज्यों को सिकंदर के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उसकाते थे। इसी कारण सिकंदर ने इन लोगों में से बहुतों को फाँसी दिलवा दी थी।"

§ ७७. उक्त राज्य के दक्षिण में सिंध नद के डेल्टा या स्रोतांतर में पटल का राज्य था। सिकंदर के वहाँ पहुँचने से पहले ही वहाँ के सब लोग इसलिये अपना घर बार छोड़कर भाग गए थे कि जिसमें सिकंदर की अधीनता न स्वीकृत करनी पड़े। छोटे छोटे भारतीय प्रजातंत्रों के निवासियों का यह नियम सा था कि वे लोग अधीनता स्वीकृत करने से बचने के लिये अपना निवासस्थान छोड़कर भाग जाया करते थे। जातकों और महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि जब जरासंध ने वृष्णियों को बहुत अधिक दबाया, तब वे लोग मथुरा छोड़कर द्वारका चले गए थे। शिबियों का पंजाब छोड़कर राजपूताने जाना और मालवों का पंजाब से मालव जाना भी संभवतः इसी प्रकार की परिस्थितियों में हुआ था। पटल लोगों की शासन-व्यवस्था में उनका शासक 'मोयरस' कहलाता था *। जान पड़ता है कि यह भी उसी धातु से निकला है, जिस धातु से (गणपाठ पा० ४. १. १५१. का) मुर शब्द निकला है और जिसे वर्धमान ने अपने गणरत्न-महोदधि (३. २०९.) में शासक का बोधक माना है। कर्टियस ने इसे एकतंत्री राज्य अथवा एकराज माना है। उसके वर्ग के लेखक प्रायः इसी प्रकार की भूल किया करते थे और वे यहाँ के राजाओं तथा निर्वाचित शासकों का

पटल

---

* कर्टियस भाग ९. प्रक० ८. मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० २५६.

भेद ठीक ठीक नहीं समझते थे। डायोडोरस ने इस राज्य की शासन प्रणाली का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—"यह एक बहुत प्रसिद्ध नगर है और यहाँ की शासन-प्रणाली उसी ढंग की है, जैसी स्पार्टा की है। क्योंकि इस वर्ग के लोगों में युद्ध का सेनापतित्व दो भिन्न भिन्न कुलों के वंशानुक्रमिक राजाओं को प्राप्त होता है; और वृद्धों या ज्येष्ठों की एक काउंसिल होती है जिसे सारे राज्य पर शासन करने का पूरा पूरा अधिकार होता है *।"

यूनानियों ने जिस स्थान को पटल कहा है, वह सिंध प्रांत का हैदराबाद नामक नगर है जिसका प्राचीन नाम पटल-पुरी अब तक लोगों की स्मृति में है †। यह गणपाठ (पा० ४. १. १४.) का पाटन और पतंजलि द्वारा वर्णित (महा० ५.२.१०४.) पाटनप्रस्थ एक वाहीक नगर जान पड़ता है।

सिकंदर के इतिहास में हिंदू राज्यों के प्रकरण की समाप्ति इसी पटल से होती है। बलोचिस्तान की सीमा पर कुछ छोटे छोटे वर्ग या उपजातियाँ भी थीं, पर उन्हें भारतीय बतलाना ठीक नहीं है।

§ ७८. कुछ राज्य ऐसे भी थे जिनका यूनानियों द्वारा किया हुआ वर्णन अनिश्चित या संदिग्ध है। संभवतः ये

---

* मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० २९६. डायोडोरस, भाग १७, प्रक० १०४.

† मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० ३५६.

राज्य संघ थे। इस प्रकार के कुछ राज्यों का हम अभी वर्णन कर चुके हैं। फेगेलों का राज्य कदाचित् उन्हीं में से एक है*। गणपाठ में प्रजातंत्री त्रैगर्तों के साथ भगल† जाति का उल्लेख है; और इसी लिये कुछ विद्वानों ने यूनानियों के इस शब्द को संस्कृत के भगल शब्द का बिगड़ा हुआ रूप माना है। सिकंदरवाले फेगेल भी इसी प्रदेश में रहते थे। इस प्रकार का दूसरा राज्य ग्लौसई या ग्लौकनिकोई‡ (एरियन) लोगों का था; और ये लोग भी प्रजातंत्री जान पड़ते हैं। ये लोग वही हैं जिन्हें काशिका में ग्लौचुकायनक कहा गया है+।

संदिग्ध वर्णनवाले राज्य

पंजाब और सिंध के जिस बहुत बड़े अंश का यूनानी लेखकों ने वर्णन किया है, उसमें केवल दो या तीन ही राज्य ऐसे थे जिनमें एकराज शासन-प्रणाली थी और जिनमें से विशेष महत्व के राज्य राजा पुरु और राजा अभिसार के थे। नहीं तो इन दो तीन को छोड़कर शेष सारे देश में प्रजातंत्र शासन ही प्रचलित था। प्लूटार्क (६०) ने राजा पुरु के विषय में जो वर्णन किया है, उससे भी यही बात प्रकट होती

---

* मैक्क्रिंडल कृत Alexander. १२१. २२१. २८१.

† पाणिनि पर गणपाठ ४. २. ८०.

‡ मैक्क्रिंडल कृत Alexander. पृ० १११. अरिस्टोबोलस के अनुसार ग्लौकनिकोई; और टालेमी के अनुसार ग्लौसई।

+ पाणिनि पर वृत्ति ४. ३. ६६.

है* । उसने लिखा है—"इस पर सिकंदर ने पुरु को क्षत्रप की उपाधि देकर केवल उसे राज्य का ही फिर से अधिकारी नहीं बना दिया, बल्कि कुछ ऐसे लोगों को भी उसके अधीनस्थ करके उनका प्रदेश उसे दे दिया, जिनमें प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी"† ।

§ ७६. सिकंदर का आक्रमण और परावर्तन समस्त पंजाब में नहीं हुआ था । अभी सतलज की तराई और वाहीक देश में व्यास की तराई बाकी ही थी । इन प्रदेशों में जो प्रजातंत्र थे, उनका पता केवल भारतीय साहित्य से ही लग सकता है । यौधेय और अरट्ट लोग इन्हीं प्रदेशों में थे; और शयंड, गोपालव तथा कौंडिवृषस् आदि प्रजातंत्र भी, जिनका उल्लेख प्राचीन साहित्य के आधार पर काशिका में किया गया है (काशिका ५. ३. ११ द्व. पृ० ४५६), कदाचित् इसी प्रदेश में थे ।

---

* इसे भूल से पौरव नहीं समझ लेना चाहिए, बल्कि पाणिनि के गणपाठ के (४. १. १५१.) उस पुर शब्द से इसे संबद्ध समझना चाहिए जो पंजाब तथा सिंध के शासकों के नामों की सूची में दिया गया है। इस शब्द के संबंध में विशेष जानने के लिये वर्धमान कृत गणरत्न-महोदधि भी देखो ।

† मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० ३०८.

नवाँ प्रकरण

यूनानी लेखकों के हिंदू प्रजातंत्रों की शासन-प्रणाली का दिग्दर्शन

§ ८०. उक्त विवेचन से इस बात का पता चल गया होगा कि हमारे यहाँ अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। इससे प्रमाणित होता है कि ये सब शासन-प्रणालियाँ उन भिन्न भिन्न लोगों की विशिष्ट परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुकूल और उपयुक्त थीं, जो उन राज्यों में रहते थे। उदाहरण के लिये अंबष्ठों का प्रजातंत्र था। अंबष्ठों के प्रजातंत्र में एक द्वितीय मंडल भी था जिसमें निर्वाचित वृद्ध या ज्येष्ठ लोग हुआ करते थे। ये लोग अपने सेनापति का भी आप ही निर्वाचन कर लिया करते थे। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से मत देने का अधिकार था; और यूनानी लोग इसी प्रकार की शासन-प्रणाली को प्रजातंत्र कहते थे।

प्रजातंत्र

§ ८१. इसके उपरांत हमारे यहाँ क्षुद्रक और मालव लोग थे जिनमें कोई निर्वाचित राजा ही नहीं होता था; क्योंकि उन लोगों ने संधि की बातचीत करने के लिये अपने १०० या १५० प्रतिनिधि भेजे थे। इससे जान पड़ता है कि उन लोगों

की शासन-प्रणाली ही ऐसी थी जिसमें किसी एक आदमी पर या थोड़े से आदमियों पर इतने बड़े कार्य का भार सौंपा ही नहीं जा सकता था। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने की है कि इन दोनों की सेनाओं ने मिलकर अपने लिये एक ही सेना-पति भी चुना था।

निर्वाचित राजा-सभापति

§ ८२. कथइयों या कठों की शासन-प्रणाली को देखने से हमें पता चलता है कि उन लोगों में निर्वाचित राजा हुआ करता था। इस राज्य में माता पिता के यहाँ जो बच्चे उत्पन्न होते थे, वे मुख्यत: नागरिक समझे जाते थे और उनकी व्यक्तिगत सत्ता गौण होती थी। राज्य इस बात का निर्णय किया करता था कि कौन से बच्चे हाथ-पैर और सूरत-शकल के लिहाज से ठीक और पूर्ण हैं और उनमें से किन्हें बड़े होकर मनुष्य होने देना चाहिए (डायोडोरस ९१)। सौभूतों की शासन-प्रणाली भी इसी प्रकार की थी। वास्तव में इन राज्यों में मनुष्य एक राजनीतिक पशु अथवा जीव मात्र ही समझा जाता था। व्यक्ति की सत्ता केवल राज्य के लिये होती थी। समूह के जीवन की रक्षा के लिये व्यक्ति को अपने पिता अथवा मातावाले अधिकारों और भावों का बलिदान अथवा परित्याग करना पड़ता था। एक कथा है कि एक बालक (नचिकेता) को उसके पिता ने मृत्यु के अर्पित कर दिया था; और कठ दार्श-निकों ने यह कहकर उस बालक की कीर्त्ति बढ़ाई थी कि अब

यह बालक अमर हो गया। उन लोगों का यह कथन कदाचित् इसी कानून के कारण था।

वह शासन-प्रणाली, जिसमें राजा-सभापति का निर्वाचन होता था और जो उदाहरण स्वरूप पटलों में प्रचलित थी, वही शासन-प्रणाली थी जिसे कौटिल्य ने 'राजशब्दिन् संघ' कहा है और जिसका अभिप्राय है—वह प्रजातंत्र जिसमें राजन् या राजा की उपाधि धारण की जाती है*। लिच्छवियों में भी इसी प्रकार के निर्वाचित राजा हुआ करते थे। यह

* कदाचित् कुणिंदों में भी इसी प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित थी। इस राज्य के सिक्के राजा और राजनीतिक समाज दोनों के नामों से अंकित होते थे। उन सिक्कों में उनका राजा सदा अमोघभूति लिखा जाता था, जिसका अर्थ है—अमोघ विभूतिवाला। उनमें यह विशेषण कई शताब्दियों तक (ई० पू० १५० से ई० प० १०० तक) बराबर मिलता है। यह एक राजकीय उपाधि थी, व्यक्तिगत नाम नहीं था। मुद्रा-विज्ञान के ज्ञाताओं ने इसे व्यक्ति का नाम समझकर भूल की है (देखो विन्सेन्ट स्मिथ C.C.I.M. भाग १, पृ० १६१, १६७)। कौलिंदों (कहीं कहीं कौणिंद भी लिखा मिलता है) के गण के नेताओं का उल्लेख वराहमिहिर ने भी किया है। बृहत्संहिता ४. २४. (कौलिंदान् गणपुंगवान्)। १४. ३०, ३३. टालेमी ने कुलिङ्गिन का उल्लेख किया है। विष्णुपुराण में कुलिंद और मार्कंडेयपुराण में कौलिंद का नाम आया है। कनिंघम C. A. I. ७१। इनके सिक्के अंबाले और सहारनपुर के बीच में पाए जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि ये लोग शिमला पहाड़ियों के रहनेवाले कुणेत (कनेत होना चाहिए) हैं (A.S.R. १४. पृ० १२६.); पर यह ठीक नहीं जान पड़ता और इसमें कुछ संदेह होता है।

आवश्यक नहीं था कि निर्वाचित राजा ही सेना का भी संचालन करे अथवा सेनापति भी हो। लिच्छवियों में सेना का अधिकार एक दूसरे निर्वाचित व्यक्ति को प्राप्त होता था जिसे सेनापति कहते थे। शाक्यों की शासन-प्रणाली में भी निर्वाचित राजा-सभापति हुआ करता था।

§ ८३. पटलों की शासन-प्रणाली में वृद्धों या ज्येष्ठों की सभा शासन का कार्य किया करती थी। उनमें इस प्रकार के दो निर्वाचित राजा हुआ करते थे। ये दोनों दो भिन्न भिन्न कुलों के होते थे। इनका अधिकार वंशानुक्रमिक हुआ करता था और ये लोग केवल युद्ध के समय सेना-संचालन का ही काम किया करते थे। महाभारत में भी इस बात का उल्लेख है कि प्रजातंत्रों में वंशानुक्रमिक राजकुल हुआ करते थे*। पटलों के राजा काउंसिल के सामने उत्तरदायी हुआ करते थे; और काउंसिल का चुनाव संभवतः सारा समाज या राज्य के सब लोग किया करते थे; और इसी का नाम प्रजातंत्र है। यहाँ पटलों की शासन-प्रणाली में प्रजातंत्र और राजतंत्र दोनों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। इन सभी अवस्थाओं में अंतिम या मुख्य राजनीतिक अधिकार गण अथवा संघ को ही प्राप्त होता था।

§ ८४. इन प्रजातंत्रों में से कुछ में तो यह व्यवस्था थी कि शासन कार्य का पूरा अधिकार वृद्धों अथवा ज्येष्ठों की सभा

---

* देखो आगे चौदहवाँ प्रकरण।

अथवा मंडल को सौंप दिया जाता था; और कुछ की शासन-प्रणाली में इस बात के भी लक्षण मिलते हैं कि वह सार्वजनिक गण अथवा पार्लिमेंट के ही हाथ में रहता था। यूनानी लेखकों के कथनानुसार पटलों में वृद्धों या ज्येष्ठों की सभा को ही सब प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और अंबष्ठ लोग अपने वृद्धों के परामर्श पर ध्यान दिया करते थे। महाभारत में कहा गया है कि गण शासन-प्रणाली में सब से बड़ी कठिनता मंत्रों या निश्चयों को गुप्त रखने के संबंध में होती है, क्योंकि उनकी संख्या अधिक होती है। इसी लिये उसमें यह कहा गया है कि नीति संबंधी बातों (मंत्रों) पर समस्त गण को विचार नहीं करना चाहिए; और राज्य की नीति नेताओं या प्रधानों के ही हाथ में रहनी चाहिए*। यौधेयों के एक प्रकार के सिक्के ऐसे मिले हैं, जिन पर मंत्रधरों और गण दोनों के नाम अंकित हैं; और दूसरे प्रकार के सिक्के ऐसे मिले हैं जो केवल गण के ही नाम से अंकित हैं। मंत्रधर से अभिप्राय उस काउंसिल के सदस्यों से है जिसे मंत्र अथवा नीति निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त होता था। यही लोग गण के प्रधान या नेता कहलाते थे और इन्हीं का समूह कार्यकारी मंडल अथवा मंत्रिमंडल कहलाता था। दूसरा मंडल वृद्धों या ज्येष्ठों का हुआ करता था। यह मंडल ठीक उसी प्रकार का होता

शासनाधिकार

---

* देखो आगे चौदहवाँ प्रकरण।

था जिस प्रकार के मंडल आजकल पाश्चात्य देशों में हुआ करते हैं। भिन्न भिन्न शासन-प्रणालियों में इस दूसरे मंडल के भिन्न भिन्न अधिकार हुआ करते थे। पटलों में शासन-संबंधी कुल कार्य यही वृद्ध या ज्येष्ठ लोग किया करते थे। परंतु अंबष्ठ संघ में उन लोगों को इतने अधिक और विस्तृत अधिकार नहीं प्राप्त थे। वे महाभारत में उल्लिखित वृद्धों के ही समान थे, जो पारस्परिक नियंत्रण और उचित आचरण आदि के संबंध में ही परामर्श दिया करते थे (देखो चौदहवाँ प्रकरण)। यह आवश्यक नहीं था कि वृद्ध लोग अवस्था में भी बहुत बड़े ही हों; पर हाँ फिर भी अवस्था का थोड़ा बहुत ध्यान अवश्य रहा करता होगा। महाभारत में कहा गया है कि "मनुष्य ज्ञान से वृद्ध होता है" जिसका अभिप्राय योग्यता से ही है। तात्पर्य यह कि वृद्धों का चुनाव योग्यता के ही विचार से हुआ करता था।

महाभारत में इस विषय का जो विवेचन किया गया है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि कुछ गण या पार्लिमेंटें ऐसी भी होती थीं जो शासन-नीति स्थिर करने का कार्य अपने ही हाथ में रखती थीं और अपना यह अधिकार काउंसिल या मंत्रधरों के मंडल को नहीं सौंप देती थीं; क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि मंत्रधरों को यह अधिकार सौंप देना गण शासन-प्रणाली के दोषों में से एक है। संभवतः मंत्रधरों को शासनाधिकार सौंप देने की अपेक्षा उन्हें अधिकार सौंपने की ओर ही उन दिनों विशेष प्रवृत्ति थी और इसी की विशेष प्रथा

थी। जान पड़ता है कि अंबष्ठों और क्षुद्रक-मालवों में इसी प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित थी। संभवतः प्रजातंत्रों में यह अधिकार न सौंपने की ही प्रथा थी। पंजाब के नगर-राज्यों में जो शासन-प्रणाली प्रचलित थी, उसे यूनानी लेखकों ने बराबर प्रजातंत्र ही कहा है। कहा जाता है कि "अनेक पीढ़ियाँ बीत जाने पर एकराज शासन-प्रणाली का अंत कर दिया गया था और नगरों में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली स्थापित की गई थी।" (डायोडोरस ३. ३८.*) यद्यपि कुछ नगरों में देश पर सिकंदर का आक्रमण होने के समय तक एकराज शासन-प्रणाली बच रही थी, तथापि अधिकांश नगरों में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली ही प्रचलित हो गई थी (डायोडोरस ३.३९†)।

§ ८५. यूनानियों को कुछ राज्य ऐसे भी मिले थे जिनमें शासनाधिकार वंशानुक्रमिक सिद्धांत पर कुछ विशिष्ट वंशों के लोगों को प्राप्त थे, पर फिर भी वे शासकगण के अधीन और उनके प्रति उत्तरदायी थे। इन राज्यों को यूनानियों ने राजतंत्री या aristocratic कहा है। वास्तव में यह एक मिश्रित शासन-प्रणाली थी, जिसे किसी और अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में राजतंत्री प्रजातंत्र कह सकते हैं। उदाहरण के लिये उस राज्य को लीजिए जो हुपानिस या व्यास नदी के उस पार था। इसमें पाँच हजार सदस्यों का एक गण या पार्लिमेंट थी; परंतु फिर

---

* मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes पृ० ३८.

† उक्त ग्रंथ पृ० ४०.

भी उन लोगों ने इसे राजतंत्र ही कहा है; "क्योंकि इसमें सर्व-साधारण का शासन एक राजा या सरदार के द्वारा होता था, और वह अपने अधिकार का उपयोग बहुत ही न्याय तथा मृदुता-पूर्वक करता था।" यूनानियों की दृष्टि में इस प्रकार की शासन-प्रणाली "देश के भीतरी शासन के लिये बहुत ही सुंदर और अच्छी थी" * । गण के जो पाँच हजार सदस्य होते थे, वे सभी प्रत्यक्ष रूप से अधिकारी नहीं हुआ करते थे, क्योंकि उस गण के अधिवेशन में जाकर बैठने का अधिकार उन्हीं लोगों को प्राप्त होता था जो राज्य को एक हाथी समर्पित करते थे। यह भी एक गुण था; और गण में बैठने का अधिकार गुण पर निर्भर करता था। इसके निवासियों में अच्छे कृषक और वीर योद्धा थे। सभी कृषक और सभी योद्धा तो राज्य को हाथी समर्पित कर ही नहीं सकते थे; परंतु फिर भी जान पड़ता है कि प्रत्येक कृषक और प्रत्येक योद्धा का प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित रहता था। यह भी अनुमान होता है कि जो लोग राज्य को हाथी देते थे, वही हाथी न देनेवालों के प्रतिनिधि हुआ करते थे। पटल की शासन-प्रणाली भी इसी प्रकार की मिश्र ढंग की थी। उसके वंशानुक्रमिक राजा पूर्ण रूप से वृद्धों या ज्येष्ठों के मंडल के अधीन होते थे। वास्तव में शासन-प्रणाली का रूप तो राजतंत्री था, परंतु भाव की दृष्टि से वह प्रजातंत्री ही थी।

* I. I. A. पृ० १२१, Megasthenes पृ० ६७.

§ ८६. यूनानियों ने यहाँ पाँच हजार सदस्यों का गण या पार्लिमेंट देखी थी। पर यह बात नहीं है कि भारतीय साहित्य में इस प्रकार के अथवा इतने बड़े बड़े गणों की समता के और गण न मिलते हों। जातकों में कहा गया है कि लिच्छवियों की राजधानी वैशाली में ७७०७ ऐसे उपाधिधारी राजा या राजुक थे। इस प्रकार के शासक धनवान् भी होते थे और दरिद्र भी; और ये लोग आहूत होने पर धर्म-सभा में आकर उपस्थित हुआ करते थे। परंतु जिस प्रकार आजकल की पार्लिमेंटों में सभी सदस्य आकर उपस्थित नहीं होते, उसी प्रकार जान पड़ता है कि उस समय इन गणों में भी सभी सदस्य आकर उपस्थित नहीं होते थे।

अधिक सदस्यों-वाले बड़े गण

§ ८७. गण में जो इस प्रकार का राजतंत्री तत्व होता है, उसे हिन्दू साहित्य में कुल कहते हैं * जिसका शब्दार्थ है—वंश। महाभारत में भी राजाओं के कुलों को गण के वर्ग के अंतर्गत ही माना है। अर्थशास्त्र में इन राजकुलों या शासक-कुलों को संघक धर्मवाला (संघधर्मिन् पृ० ३२८.) कहा है। पटलों के जो वंशानुक्रमिक राजा हुआ करते थे, वे इसी कुल

राजतंत्री शासन के लिये हिंदू नाम

* नारद १.७. पर टीका करते हुए असहाय ने कुल की व्याख्या में लिखा है कि उसका शासन या व्यवस्था थोड़े लोगों के द्वारा होती थी (कुलानि कतिचित्पुरुषगृहीतानि)। इस गृहीतानि शब्द के लिये मिलाओ प्रग्रह क्रिया, जिसका अर्थ 'पकड़ना' है।

संघ की व्याख्या के अंतर्गत आ जायँगे। धर्म-शास्त्रों में कुल सदा गणों से भिन्न समझे जाते हैं और उनमें दोनों का उल्लेख प्रायः साथ ही साथ होता है*। इसलिये हम कह सकते हैं कि गण का जो शुद्ध और वास्तविक रूप होता था, उसमें कोई वंशानुक्रमिक सिद्धांत सम्मिलित नहीं था। वह वस्तुतः प्रजातंत्र के ही ढंग का था और उसी सिद्धांत पर उसकी सृष्टि हुई थी। प्रायः दोनों का संमिश्रण हो जाया करता था और शुद्ध कुल बहुत ही कम पाए जाते थे। परवर्ती काल में इस भेद की उपेक्षा भी होने लग गई थी†। जैनों ने अपने धार्मिक गणों की सृष्टि तो की ही थी, साथ ही साथ अपने धार्मिक कुलों की भी सृष्टि की थी‡। परंतु उनका इसे 'कुल' कहना ठीक नहीं था; क्योंकि इसका निर्माण करनेवाले केवल बड़े बड़े और प्रसिद्ध लोग ही थे और इसमें किसी वंशानुक्रमिक सिद्धांत का अनुसरण नहीं हो सकता था। शुद्ध कुल-राज्यों में प्रधान शासनाधिकार क्रमशः जाता जाता थोड़े से वंशों के अधिकार में चला गया था (कुलेसु पच्छेकाधिपच्छम् +)।

* वीरमित्रोदय पृ० ११ और ४० के उद्धरण।

† कात्यायन—कुलानां हि समूहस्तु गणः संप्रकीर्त्तितः। (वीरमित्रोदय पृ० ४२६.) "कुलों का समूह ही गण कहलाता है।"

‡ इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग २०. पृ० ३४७. में डाक्टर हॉर्नली द्वारा संपादित पट्टावलियाँ।

+ अंगुत्तर निकाय ५८. १. (भाग ३. पृ० ७६.)। साथ ही देखो § ६१ का विवेचन।

§ ८८. हम इन प्रजातंत्रों का शासन-प्रणाली की दृष्टि से विचार कर चुके हैं। पर हम यह नहीं चाहते कि प्रजातंत्री राजनीति के इस प्रकरण को हम उनकी साधारण सभ्यता या उन्नति के संबंध की थोड़ी सी बातें बतलाए बिना ही समाप्त कर दें।

इन प्रजातंत्रों की सभ्यता और उन्नति

फिलास्ट्रेटस ने टयाना के एप्पोलोनियस की जो जीवनी (Life of Appollonius of Tyana) लिखी है, उसमें उसने यह सूचित किया है कि सिकंदर के समय के जो सोफोई (Sophoi) या विद्वान् थे, वे एप्पोलोनियस के समय में (लगभग ई० पू० ४०) दार्शनिक तो नहीं पर दर्शन-शास्त्र में चंचु-प्रवेश करनेवाले समझे जाते थे। परंतु जान पड़ता है कि सिकंदर के समय में क्षुद्रक लोग अपने दार्शनिक ज्ञान के लिये प्रसिद्ध थे और वे बुद्धिमान् कहे जाते थे। इसी प्रकार भारतीय साहित्य में कठ लोग अपने उपनिषदों और वेदों के ज्ञान के लिये प्रसिद्ध थे। वे लोग कृष्ण यजुर्वेद के अनुयायी थे, और उनका वेदों का जो संस्करण था, वह हम लोगों में अब तक काठक संहिता के नाम से चला आता है। पतंजलि के समय में कठ लोगों का पाठ परम शुद्ध और बिलकुल ठीक माना जाता था। जैसा कि पतंजलि ने अपने महाभाष्य* में कहा है, प्रत्येक नगर में उन्हीं का निर्धारित पाठ होता था। उनका कठक धर्मसूत्र नामक धर्मशास्त्र भी

* पाणिनि पर महाभाष्य, ४. ३. १०१.

बहुत प्रसिद्ध था; और यह माना जाता है कि विष्णुस्मृति उसी के आधार पर बनी है। हिंदू साहित्य में जब तक उपनिषदों और यजुर्वेद का अस्तित्व रहेगा, तब तक इन लोगों का नाम भी बराबर बना रहेगा। इसी प्रकार वृष्णी नेता तथा उसके चचेरे भाई नेमि का दर्शन अब तक सब लोगों में समान रूप से आदरणीय है। यद्यपि ई० पू० चौथी शताब्दी में शाक्यों का अस्तित्व नहीं रह गया था, तथापि वे लोग संसार में सब से बड़ा धर्म छोड़ गए हैं। जान पड़ता है कि इन स्वतंत्र शासन-प्रणालियों से ही स्वतंत्र दर्शनों की भी उत्पत्ति हुई थी। दर्शन, राजनीति और युद्ध कला का जो सम्मिश्रण होता है, वह अमानुषी सृष्टि का विकास नहीं करता। ये प्रजातंत्र अपने संगीत-प्रेम के लिये भी प्रसिद्ध थे। जिन भारतवासियों से सिकंदर की भेंट हुई थी, उन्हें एरियन (६. ३.) ने "नृत्य और गीत के प्रेमी" बतलाया है*। संस्कृत साहित्य में वृष्णियों की संगीत-निपुणता का यथेष्ट उल्लेख मिलता है। उनके जो बड़े बड़े नृत्य और विहार होते थे, उनका हरिवंश में अच्छा वर्णन है (अध्याय १४६-७†)।

---

* मैक्क्रिंडल कृत Indian Invasion by Alexander पृ० १३६ (प्रत्येक जाति प्रत्येक विदेशी जाति के गाने को जंगली समझती है। यह बात आज भी ठीक है और आज से २२ शताब्दियाँ पहले भी ठीक थी।)

† आर० मित्र कृत Indo Aryans भाग १. पृ० ४३०—४२.

अर्थशास्त्र (११. पृ० ३७६) में कहा गया है कि विद्या और शिल्प के संबंध में 'कलह' प्रजातंत्रों की एक प्रसिद्ध दुर्बलता या दोष है।

§ ८६. यह बात, उदाहरणार्थ सिक्खों में, देखी गई है कि मनुष्य का शारीरिक संघटन प्रस्तुत करने में धार्मिक विश्वास और राजनीति का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस देश की प्रजातंत्री राजनीति इस विलक्षण प्राकृतिक नियम का एक और उदाहरण है। क्षुद्रकों, मालवों, सौभूतों और कठों की सुंदर आकृति तथा भव्य चाल ढाल की यूनानियों ने अच्छी साक्षी दी है। बुद्ध ने सुंदर लिच्छवियों की देवताओं से जो उपमा दी है*, उससे भी यही प्रमाणित होता है। महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण ने एक बार कहा था कि कुछ विशिष्ट सुंदर वृष्णी नेताओं की उपस्थिति हमारे लिये बहुत महत्व की है और ये मानों राजनीतिक दृष्टि से हमारे बहुत बड़े रत्न हैं †। जान पड़ता है कि ये प्रजातंत्र-वाले शारीरिक व्यायाम और संघटन आदि को दृढ़ करने की ओर जान बूझकर विशेष ध्यान दिया करते थे। सौभूतों

* "जिन भिक्खुओं ने तवतिंश देवताओं को नहीं देखा है, वे इन लिच्छवियों पर दृष्टिपात करें, वे इन लिच्छवियों को देखें, वे इन लिच्छवियों की तुलना करें, मानों यही लोग तवतिंश देवता हैं।" ओल्डेनबर्ग और रहीस डेविड्स S. B. E. भाग ११. पृ० ३२.

† देखो परिशिष्ट क।

और कठों ने तो अपने यहाँ की शासन-प्रणाली में इन सब बातों का कानून बनाकर मानों जबरदस्ती प्रचार किया था *। लिच्छवियों के देश में किसी समय शारीरिक संघटन और सौंदर्य इतना अधिक था कि बुद्ध भगवान् को उसकी प्रशंसा करने के लिये विवश होना पड़ा था। उस शारीरिक संघटन और सौंदर्य का अदृश्य या नष्ट हो जाना वैसा ही है, जैसा कि आधुनिक हेल्लास (मध्य यूनान) में शारीरिक संघटन का ह्रास हो जाना। दोनों का ह्रास प्रायः एक ही सा है। जिसे अरस्तू ने विज्ञानों की रानी कहा है, जान पड़ता है कि वह भी आकृति और सुंदरता आदि को बहुत मानती थी।

---

* देखो § ६४ में मद्रों के संबंध का विवेचन और पाद-टिप्पणी।

दसवाँ प्रकरण

हिंदू शासन-प्रणालियों के स्वरूप

(ई० पू० १००० से)

§ ९०. गण और कुल ये दोनों संघ-राज्यों के दो मुख्य विभाग थे। इन दोनों के मध्य में शासन-प्रणाली के और भी कई भिन्न भिन्न प्रकार थे। जहाँ तक हम इन भिन्न भिन्न प्रणालियों के नाम और विवरण आदि एकत्र कर सके हैं, वे सब हम यहाँ पर दे देना चाहते हैं। पहले हम सब से प्राचीन शासन-प्रणाली को ही लेते हैं।

§ ९१. भौज्य शासन-प्रणाली का ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है *। इस शासन-प्रणाली के संबंध में हमें कुछ बातें एक ऐसे स्थान से मिलती हैं, जहाँ से उनके मिलने की कोई विशेष संभावना नहीं हो सकती थी। पाली त्रिपिटक में † यह बत-

भौज्य शासन-प्रणाली

---

* ऐतरेय ब्राह्मण, ८. १४. दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। भोजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षत...।

† यस्स कस्सचि महानाम, कुलपुत्तस्स पञ्चधम्मा संविज्जन्ति, यदि वा रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धाभिसित्तस्स, यदि वा रट्ठिकस्स पेत्तनिकस्स, यदि वा सेनाय सेनापतिकस्स, यदि वा गामगामिणिकस्स, यदि वा पूगगामणिकस्स, ये वा पन कुलेसु पच्चेकाधिपच्चं कारेन्ति। अंगुत्तर निकाय खंड ३ पृ० ७६.

लाया गया है कि एक कुलपुत्त क्या क्या काम कर सकता है। इन कामों में से एक काम उसका निर्वाचित राजा होना तो है ही; इसके उपरांत हमें रट्ठिक और पेत्तनिक के दो कार्य और मिलते हैं। अशोक के शिलालेखों से जान पड़ता है कि भोज और रट्ठिक या राष्ट्रिक दोनों एक या समान ही हैं *। अंगुत्तर निकाय की टीका में बतलाया गया है कि पेत्तनिक का अभिप्राय पैतृक या वंशानुक्रमिक नेतृत्व (सापतेय्य) है, जो पूर्वजों के समय से चला आता है †। इन पेत्तनिकों के विपरीत राष्ट्रिक और भोजक या भोज होते थे; और इसका अर्थ यही जान पड़ता है कि इन लोगों का नेतृत्व वंशानुक्रमिक या पितरादत्त नहीं होता था। सापतेय्य का अर्थ है—मिलकर नेतृत्व करना अथवा संयुक्त नेतृत्व; और इससे यह जान पड़ता है कि इन दोनों में से प्रत्येक दशा में एक से अधिक नेता या शासक हुआ करते थे। महाभारत में जहाँ अनेक प्रकार के शासकों की सूची दी गई है, वहाँ भोज भी उनमें से एक प्रकार बतलाया गया है, शांतिपर्व (अध्याय ६७. श्लोक ५४.‡) खारवेल के

* अशोक के प्रधान शिलालेख ५ और १३,—गन्धारानं रिसृटिक-पेतेनिकानं ये वापि अंञे अपराता (गिरनार ५); भोजपितिनिकेषु, (शहबाज़गढ़ी, १३)

† पितरादत्तं सापतेय्यं। अंगुत्तर नि० ३. पृ० ४५६. आगे चलकर टीका में पृ० ३०० में फिर आया है—भुत्तानुभुत्तं भुंजति।

‡ राजा भोजो विराट् सम्राट्।

शिलालेख को देखते हुए भी मुझे यही अर्थ ठीक जान पड़ता है; क्योंकि उसमें जहाँ राज्य के लवाजमे का जिक्र है, वहाँ राष्ट्रिक और भोजक का भी नाम आया है*। इसके बाद के शिलालेखों में भोजों और महाभोजों का उल्लेख है, जिससे यह जान पड़ता है कि इस प्रकार के नेता या शासक साधारण वर्ग के भी होते थे और उच्च वर्ग के भी। राज्याधिकार भी शासकों या नेताओं को प्राप्त होता था। जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में आया है, स्वयं उस शासन-प्रणाली को भौज्य कहते थे। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि जाति का यह भोज नाम उनके इस प्रकार के नेताओं या शासकों के कारण पड़ा था; और आगे चलकर परवर्ती साहित्य में ये भोज लोग उन यादवों की एक शाखा या उपजाति के रूप में उल्लिखित हैं, जिनका अपने आरंभिक इतिहास में अंधक-वृष्णी नामक दो प्रजातंत्रों का एक द्वंद्व था (§ ३६-४०); और ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सत्वत् लोगों में (यह सत्वत् इन्हीं यादवों का प्राचीन नाम है) भौज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

§ ९२. यह भी संभव है कि इस प्रकार की शासन-प्रणाली पूर्वी भारत में भी प्रचलित रही हो; क्योंकि इसका उल्लेख पाली त्रिपिटक में भी आया है; और पाली त्रिपिटक में

---

* जायसवाल, Hattigumpha Inscription, J. B. O. R. S. भाग ३. पृ० ४५५.

पूर्वी भारत को छोड़कर पश्चिमी भारत के राज्यों आदि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

अपनी विशिष्ट शासन-प्रणाली के कारण ही पश्चिमी भारत की एक जाति के लोग भोज कहलाते थे। संभवतः यह उन्हीं अवस्थाओं में से एक है, जिनमें अपनी राजनीतिक शासन-प्रणाली के कारण ही एक जाति का नामकरण हुआ है। अंधक-वृष्णी लोग गुजरात या कठियावाड़ के प्रायद्वीप में रहा करते थे। भोज या भौज्य शब्द अब तक आधुनिक भुज के रूप में वर्त्तमान है, जो काठियावाड़ एजेंसी (कच्छ) में एक देशी रियासत की राजधानी का नाम है। गुजरात इन भौज्य लोगों के सर्व प्राचीन निवास-स्थानों में से एक है। परंतु इस बात की बहुत कुछ संभावना जान पड़ती है कि सत्वत् लोग दक्षिण की ओर बढ़कर फैल गए हों। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें दक्षिण में ही स्थान दिया गया है। यदि ऐतरेय का कर्ता कुरु देश के उत्तर में था, जिसे वह मध्य देश में रखता है, तो फिर वह अपनी दृष्टि से गुजरात को भी दक्षिण में ही रख सकता है।

स्वाराज्य शासन-प्रणाली

§ ९३. ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि पश्चिमी भारत में स्वाराज्य नाम की एक और विलक्षण शासन-प्रणाली प्रचलित थी*। इस शासन-प्रणाली में जो शासक या सभापति होता था, वह

* एतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वाराज्या—यैव तेऽभिषिच्यन्ते स्वराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षत... ऐतरेय ब्राह्मण; ८. १४.

स्वराट् कहलाता था। इसका शब्दार्थ है—स्वयं शासन करनेवाला। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ की प्रशंसा में लिखा है कि जो बुद्धिमान् विद्वान् वाजपेय यज्ञ के द्वारा बलि प्रदान करता है, वह स्वाराज्य प्राप्त करता है; और इस स्वाराज्य शब्द की व्याख्या में लिखा है—अपने समान लोगों का नेता बनना। वह बड़प्पन या 'ज्यैष्ठ्य' प्राप्त करता है*। इस छोटी सी सूचना से यह पता चलता है कि समान लोगों में से ही कोई स्वराट् शासक चुना जाता था जो सभापति या प्रधान शासक बनाया जाता था; और यह चुनाव इंद्र होने की योग्यता पर निर्भर करता था; क्योंकि यह कहा गया है कि इंद्र ने ही पहले पहल अपनी योग्यता प्रमाणित करके अपना स्वाराज्य अभिषेक कराया था। जान पड़ता है कि यह उल्लेख गण या काउंसिल के सभापति के निर्वाचन या चुनाव के ही संबंध में है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि महाभारत में कहा गया है कि गण के सब सदस्य समान समझे जाते थे (सदृशास्सर्वे †)। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इस प्रकार की शासन-प्रणाली पश्चिमी भारत के नीच्य या अपाच्य लोगों में प्रचलित थी। नीच्य लोगों का निवास-स्थान, जैसा कि उनके नाम से सूचित होता

* य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजति। गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रं समानानाम् पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्या। तैत्तिरेय ब्राह्मण १. ३.२.२.

† देखो आगे § १२४.

है, सिंधु नदी के मुहाने के आस पास की नीची भूमि में रहा होगा। और अपाच्य लोग संभवतः उसके ठीक ऊपर के प्रदेशों में रहते होंगे। पर यजुर्वेद के समय में स्वाराज्य शासन-प्रणाली उत्तरीय भारत में प्रचलित थी* । इस शासन-प्रणाली के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण के बाद का कोई उल्लेख अब तक नहीं मिला है।

वैराज्य शासन-प्रणाली

§ ९४. ऐतरेय ब्राह्मण में यह भी लिखा है कि उत्तर की कुछ जातियों में वैराज्य नाम की निज की शासन-प्रणाली प्रचलित है। इस उत्तर शब्द की व्याख्या में उसका स्थान निर्देश करते हुए कहा गया है—हिमालय के पार्श्व में। यजुर्वेद के समय में इस प्रकार की शासन-प्रणाली दक्षिण में प्रचलित थी। इससे यह पता चलता है कि इस प्रकार की शासन-प्रणाली केवल उत्तर में ही नहीं प्रचलित थी, बल्कि देश के अनेक भिन्न भिन्न भागों में भी उसका प्रचार था†। इसका

---

* स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवा अधिपतयः इत्यादि। शुक्ल यजुर्वेद; १५. १३.

† एतेन च तृचेनैतेन त यजुषैताभिश्च व्याहृतिभिर्वैराज्याय तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैवेतऽभिषिच्यन्ते। विराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षत......ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४.

"विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतयः" इत्यादि। यजुर्वेद १५. ११.

ठीक ठीक शब्दार्थ होता है—"बिना राजा की अथवा राजा-रहित शासन-प्रणाली"*। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सारा देश या जाति (जनपद) राज-पद के लिये अभिषिक्त होता था। इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि यह शासन-प्रणाली वास्तव में प्रजातंत्री थी। ऐतरेय ब्राह्मण में उदाहरण के रूप में कहा गया है कि उत्तर मद्रों और उत्तर कुरुओं में यह शासन-प्रणाली प्रचलित थी। व्याकरण में मद्रों का उल्लेख दिशा के विचार से हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि मद्रों में कम से कम दो विभाग थे †। पाणिनि के समय में मद्र लोगों में प्रजातंत्री शासन-प्रणाली प्रचलित थी और उनमें ई० पू० चौथी शताब्दी तक, जब कि गुप्त वंश के लोगों से उनका मुकाबला हुआ था, बराबर प्रचलित रही ‡। जान पड़ता है कि उत्तर मद्रों में जो

---

* मिलाओ—"इस शब्द के दो अर्थ किए जा सकते हैं, (१) जिसमें राजा न हो (२) बहुत महत्वशाली राजा। इस पद में हमें पहला ही अर्थ लेना चाहिए। क्योंकि यहाँ जानपदाः शब्द आया है अर्थात् अभिषिक्त राजा के विपरीत साधारण लोग; और इस प्रकरण के दूसरे वाक्यों में इसके बदले में "राजानः" शब्द आया है। एम० हॉग; ऐतरेय ब्राह्मण; खण्ड २; पृ० ५१८. पाद टिप्पणी।

† पाणिनि ४.२.१०८. मद्रेभ्योऽञ्। साथ ही देखो इससे पहले का सूत्र और ७. ३. १३. दिशोऽमद्राणाम्, जहाँ उत्तर के जानपदों का वर्णन है।

‡ फ्लीट द्वारा संपादित Gupta Inscriptions, पृ० ८.

शासन-प्रणाली प्रचलित थी, वह दक्षिण मद्रों की शासन-प्रणाली से भिन्न प्रकार की थी। इसके परवर्ती साहित्य में उत्तर कुरुओं का जो उल्लेख है, उससे जान पड़ता है कि उस समय उनका अस्तित्व केवल कथा-कहानियों में ही रह गया था— वे लोग पौराणिक कोटि में चले गए थे—और वे अपनी सम्पन्नता तथा सुखपूर्ण जीवन के लिये प्रसिद्ध थे*। ऐतरेय

---

* मिलाओ मिलिंद पन्हो खंड १. पृ० २-३. ईसवी सन् के आरंभ में उत्तर कुरु की तुलना में प्राचीन मद्र राजधानी (§ ६६) का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

"............यह नगर ,जो सगल कहलाता है, व्यापार का एक बड़ा केंद्र है जो एक मनोहर अनूप (जलप्राय) पहाड़ी प्रदेश में स्थित है। इसमें उपवन, वाटिकाएँ, झाड़ियाँ, झीलें और तालाब आदि बहुत अधिकता से हैं और यह प्रदेश नदियों, पर्वतों तथा वनों का स्वर्ग है। चतुर शिल्पियों ने इस प्रदेश की रचना की है और इसके निवासी किसी प्रकार के कष्ट या पीड़ा का नाम भी नहीं जानते; क्योंकि इनके सभी शत्रु और विरोधी नष्ट कर दिए गए हैं। इसकी रक्षा का प्रबंध बहुत सुंदर है। इसके बहुत से दृढ़ दुर्ग और बुर्ज हैं जिनमें अच्छे अच्छे प्रवेशद्वार बने हैं। इसके बीच में सफेद दीवारोंवाला राज-दुर्ग है जिसके चारों ओर गहरी खाइयाँ खुदी हैं। इसकी गलियों, चौ-मुहानियों और हाटों आदि की बहुत ही उत्तमता-पूर्वक रचना हुई है। इसमें नाना प्रकार के असंख्य बहुमूल्य द्रव्य अच्छी तरह सजाए हुए हैं जिनसे दूकानें भरी पड़ी हैं। यह अनेक प्रकार के सैकड़ों अन्न-सत्रों आदि से भली भाँति सुसज्जित है; और इसमें हजारों लाखों विशाल प्रासाद और भवन हैं जो हिमालय पर्वत की चोटियों की भाँति

ब्राह्मण में उनका उल्लेख मद्रों की भाँति ऐतिहासिक जातियों के रूप में हुआ है। इससे यह जान पड़ता है कि परवर्ती काल में इन लोगों का एक स्वतंत्र जाति के रूप में अस्तित्व नहीं रह गया था; और अपनी संपन्नता तथा वैभव आदि के कारण ये लोग कथा-कहानियोंवाले वर्ग में आ गए थे। और इस देश में, जहाँ प्रायः इतिहास को जंगलीपन से पुराणों

उन्नत हैं। इसके राजमार्ग हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल चलनेवालों से भरे हुए हैं और उनमें सुंदर पुरुष तथा रूपवती स्त्रियाँ विचरण करती हैं। ये राजमार्ग ब्राह्मणों, बड़े आदमियों, शिल्पियों, सेवकों सभी प्रकार और सभी अवस्थाओं के लोगों से भरे रहते हैं। सभी प्रकार के संप्रदायों के आचार्यों के स्वागत की ध्वनि से ये राजमार्ग गूँजते रहते हैं और सभी वर्गों के अच्छे अच्छे लोग इस नगर में आकर रहा करते हैं। यहाँ कुटुंबर की बनी हुई बनारसी मलमल तथा अनेक प्रकार के दूसरे वस्त्रों के विक्रय के लिये दूकानें हैं। बाजारों में से अनेक प्रकार की मधुर सुगंधियाँ आती हैं और उनमें सब प्रकार के फूल और सुगंधित द्रव्य अच्छी तरह सजाए हुए रखे रहते हैं। यहाँ ऐसे ऐसे रत्न बहुत अधिकता से हैं जिन्हें प्राप्त करने की लोग हृदय से कामना रखते हैं; और बाजार में सभी दिशाओं में वणिक लोग अपने अच्छे अच्छे विक्रेय पदार्थों को भली भाँति सजाकर रखते हैं। यह नगर धन तथा सोने, चाँदी, ताँबे और पत्थर के बने हुए पात्रों तथा द्रव्यों आदि से इतना अधिक पूर्ण है कि यह आँखों को चौंधिया देनेवाले खजानों की खानि ही है। यहाँ के भंडारों में अन्न तथा दूसरे मूल्यवान् पदार्थ, सब प्रकार की खाद्य और पेय सामग्री, शरबत और मिठाइयाँ बहुत अधिकता से भरी रहती हैं। वैभव में यह उत्तर कुरु का और कीर्त्ति में देवताओं की पुरी अलकनंदा का प्रतिद्वंद्वी है।"

का रूप दे दिया जाता है, इस प्रकार की घटना प्रायः हुआ करती है*।

§ ९५. हिंदू टीकाकार वैराज्य शब्द का ठीक ठीक महत्त्व समझने में असमर्थ रहे हैं और उन्होंने भूल से इसका अर्थ किया है—प्रकाशमान अवस्था। पर यहाँ इस शब्द का शासन-प्रणाली संबंधी जो अर्थ किया गया है, उसके ठीक होने में जरा भी संदेह नहीं किया जा सकता। ऐतरेय के उसी वाक्यांश में जो और शब्द आए हैं, उनका भी इसी प्रकार शासन-प्रणाली संबंधी ही अर्थ होता है। यदि इसके लिये किसी और विशेष प्रमाण की आवश्यकता हो, तो हम यही कहेंगे कि पाठक इस संबंध में कौटिल्य का अर्थशास्त्र देखें, जिसने इसे शासन-प्रणाली का एक प्रकार माना है और जिसे इसने खराब या दूषित समझकर तिरस्कृत और अस्वीकृत कर दिया है†। अपने समकालीन यूनानी विचारशीलों की भाँति

* मिलाओ सभापर्व, अध्याय २८. साथ ही देखो जातक, भाग ४. पृ० ३१६; भाग ६. पृ० १०० जिसमें उस समय तक भी उत्तर कुरु हिमालय में स्थित एक ऐतिहासिक देश माना जाता था।

† वैराज्यं तु जीवतः परस्याच्छिद्य "नैतन्मम" इति मन्यमानः कर्शयत्यपवाहयति; पण्यं वा करोति विरक्तं वा परित्यज्य अपगच्छतीति। अर्थशास्त्र ८. २. पृ० ३२३. श्रीयुक्त शाम शास्त्री का अनुवाद बेहद गड़बड़ है। उन्होंने वैराज्य का अर्थ किया है—"विदेशी शासन, जो किसी देश के राजा की जीवित अवस्था में ही उससे उसका देश छीनकर स्थापित किया जाता है।" पृ० ३९५.

वह भी प्रजातंत्र को घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से देखा करता था। उसका मत है —

"जहाँ वैराज्य शासन-प्रणाली होती है, वहाँ किसी व्यक्ति के मन में निजत्व (राज्य के संबंध में) का भाव ही उत्पन्न नहीं होता। वहाँ राजनीतिक संघटन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति देश को बेच सकता है। कोई अपने आपको उत्तरदायी नहीं समझता और लोग उदासीन होकर राज्य छोड़कर चले जाते हैं।"

जैन आचारांग सूत्र* में भी जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का उल्लेख है, वहाँ वैराज्य का नाम आया है। महाभारत में विराज शब्द शासक की पद संबंधी उपाधियों में से एक बतलाया गया है† ।

§ ९६. यद्यपि पाणिनि ने मद्रों की राजधानी का नाम नहीं दिया है, तथापि उसने उसका उल्लेख अवश्य किया है। और और मार्गों या साधनों से‡ हमें पता चलता है कि उसका नाम शाकल था, जो आधुनिक स्यालकोट माना जाता है। यदि लोगों का यह मानना ठीक हो, तो शाकल अवश्य ही आरंभ में उत्तर मद्रों का निवास-स्थान रहा होगा।

---

* आयारंग सुत्तम् (जैकोबी का संस्करण) पृ० ८३. वेरज्जानि आदि।

† राजा भोजो विराट् सम्राट्...........शांति० अ० ६८. श्लोक ५४.

‡ महाभारत, कर्णपर्व, अ० ११ और ४४.

मिलिंद पन्हो के अनुसार ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में यह राजनगर मेनैंडर की अधीनता में गया। जान पड़ता है कि उस समय मद्रों ने अपना मूल निवास-स्थान छोड़ दिया था और वहाँ से चलकर वे लोग दक्षिण प्रदेश में चले आए थे, जहाँ वे गुप्त काल में धन-धान्यपूर्ण अवस्था में रहते थे*।

§ ९७. यह बात प्रत्यक्ष है कि पश्चिम के राष्ट्रिक लोगों में, जो अशोक के शिलालेखों† में भोजों और पितेनिकों के वर्ग में उल्लिखित हैं, कोई वंशानुक्रमिक या एक-राज राजा नहीं हुआ करता था। अशोक ने उनके किसी राजा का उल्लेख नहीं किया है। खारवेल ने भी उनका उल्लेख बहुवचन में ही किया है। वे लोग भोजकों के साथ मिलकर और राज्य के पूरे लवाजमे के साथ खारवेल से लड़े थे‡। अब इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह गया कि इन लोगों में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पाली त्रिपिटक के कर्ता को शासक के राष्ट्रिक या रट्ठिक वर्ग का ज्ञान था और उसने उसका उल्लेख भी किया है+।

राष्ट्रिक शासन-प्रणाली

---

* फ्लीट द्वारा संपादित Gupta Inscriptions. पृ० ८.

† देखो ऊपर § ९१.

‡ जायसवाल, Hathigumpha Inscriptions, J. B. O. R. S. ३. पृ० ४५५.

+ अंगुत्तर निकाय, भाग ३. ५८. १. देखो ऊपर § ९१ का दूसरा नोट।

§ ९८. टीका में जो कुछ कहा गया है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि राष्ट्रिक सापत्य (सापतेय्यं) या "नेताओं का मंडल" वंशानुक्रमिक नहीं होता था*; अतः वे लोग निर्वाचित होते थे। पाली त्रिपिटक में जो कुछ उल्लेख है, उससे यह अभिप्राय निकलता है कि राष्ट्रिक शासन-प्रणाली बहुत करके पूर्वीय भारत में भी प्रचलित थी। भौज्य की भाँति इस शासन-प्रणाली के आधार पर भी पश्चिम के राष्ट्रिकों का नामकरण हुआ था। पश्चिमी भारत के सुराष्ट्र देश का नाम भी सम्भवतः राष्ट्रिक शासन-प्रणाली के ही कारण पड़ा था। अर्थशास्त्र के अनुसार सुराष्ट्र लोग प्रजातंत्री थे और उनमें कोई "राजा" उपाधिधारी शासक नहीं होता था†। जान पड़ता है कि देशों के राष्ट्रिक और सुराष्ट्र नाम इसी प्रकार की प्रजातंत्री शासन-प्रणाली के कारण पड़े हैं।

§ ९९. ऊपर पाली त्रिपिटक के जिस वाक्य का उल्लेख किया गया है, उसमें पेत्तनिक लोग राष्ट्रिकों के समकक्ष रखे गए हैं; और जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, इस पेत्तनिक शब्द का अभिप्राय है--वंशानुक्रमिक नेता। जान पड़ता है कि इन लोगों की शासन-प्रणाली राष्ट्रिकों की या बल्कि भोजों की शासन-प्रणाली के बिलकुल विपरीत थी, जिसमें शासकों

---

* अंगुत्तर निकाय, भाग ३-पृ० ४५६, जिसमें पेत्तनिक को रट्ठिक के विपरीत वंशानुक्रमिक बतलाया गया है।

† अर्थशास्त्र, पृ० ३७६. देखो ऊपर § ५५ और ५७.

या नेताओं ने अपना अधिकार वंशानुक्रमिक बना लिया था। स्वयं ऐतरेय ब्राह्मण में साधारण भोजों से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार के भोज कहे गए हैं, जिनके लिये भोज पितरम् (८.१२.) शब्द आया है। इस भोज पितरम् का अर्थ है-- वंशानुक्रमिक भोज अथवा वह भोज जो किसी और भोज का पिता भी हो। अंगुत्तर निकाय में एक स्थान पर* भुत्तानुभुत्तम् भुंजति (= पेत्तनिक) आया है, जो भोज पेत्तनिक का सूचक होगा। जैसा कि अशोक के शिलालेखों से प्रमाणित होता है, पेत्तनिक विशिष्ट वर्ग की (Oligarchy) अथवा संभवतः सरदारों की या गण शासन-प्रणाली (Aristocracy) पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। और पाली वाक्य से यह जान पड़ता है कि पूर्वी भारत में भी उसके प्रचलित होने की संभावना है।

द्वैराज्य शासन-प्रणाली

§ १००. कौटिल्य ने वैराज्य शासन-प्रणाली के प्रसंग में द्वैराज्य शासन-प्रणाली का भी विवेचन किया है। उसके अनुसार द्वैराज्य या "दो का शासन" ऐसा है जिसमें प्रतियोगिता या पारस्परिक संघर्ष होता है, जो अंत में नाशक प्रमाणित होता है†। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि आचारांग सूत्र में भी इस प्रकार की शासन-

---

* अंगुत्तर निकाय, भाग ३. परिशिष्ट, पृ० ४४६.

† द्वैराज्यवैराज्ययोः द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्पर-संघर्षेण वा विनश्यति। अर्थशास्त्र पृ० ३२३.

प्रणाली का उल्लेख है और उसमें यह शासन गण शासन से भिन्न माना गया है। यह द्वैराज्य न तो एकराज अथवा ऐसा शासन था, जिसमें कोई एक ही वंशानुक्रमिक राजा शासन करता था; और न ऐसा शासन था जिसमें थोड़े से विशिष्ट या बड़े बड़े लोगों के हाथ में शासनाधिकार होता था। यह ऐसी शासन-प्रणाली थी जो केवल भारत के ही इतिहास में पाई जाती है। हमारे यहाँ के साहित्य और शिलालेखों में इस प्रकार की शासन-प्रणाली के कई ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। हिंदू इतिहास के किसी युग में अवंती में इसी प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित थी; क्योंकि महाभारत में इस बात का उल्लेख मिलता है कि अवंती में विंद और अनुविंद इन दो राजाओं का राज्य था और ये दोनों राजा मिलकर शासन करते थे*। शिलालेखों में इस शासन-प्रणाली के जो उल्लेख आए हैं, उनके कारण भारतीय शिलालेख पढ़नेवाले विद्वान् बहुत गड़बड़ी में पड़ गए हैं और वे इस समस्या का कोई ठीक ठीक निराकरण नहीं कर सके हैं। ईसवी छठी और सातवीं शताब्दी में नेपाल इसी प्रकार की शासन-प्रणाली के अधीन था। लिच्छवी राजवंश तथा ठाकुरी राजवंश के राजाओं के ठीक एक ही समय के शिलालेख काठमांडू में पाए गए हैं†। ये एक ही राजधानी में के

* सभापर्व, अध्याय ३१. उद्योगपर्व अ० १६९. आदि।

† फ्लीट द्वारा संपादित Gupta Inscriptions. परिशिष्ट ४.

दो स्थानों से निकली हुई घोषणाएँ हैं, जिनकी तिथियों से प्रमाणित होता है कि ये दोनों राजवंश साथ साथ और एक ही समय में शासन करते थे। परंतु शिलालेख पढ़नेवाले लोग द्वैराज्य शासन-प्रणाली से परिचित नहीं थे; इसलिये वे लोग इसका वास्तविक महत्व नहीं समझ सके थे। इसी लिये उन्हें विवश होकर एक काल्पनिक विभक्त राजसीमा का अनुमान करना पड़ा था। परंतु उनका ऐसा करना क्षम्य हो सकता है; क्योंकि आधुनिक काल में द्वैराज्य शासन-प्रणाली का भाव लोगों के लिये बिलकुल अज्ञात है और वे सहसा उसे समझ नहीं सकते। साधारणतः इस प्रकार की शासन-प्रणाली की न तो कल्पना ही हो सकती है और न यही समझ में आ सकता है कि इससे काम किस प्रकार चलता होगा। भारत में इस प्रकार की शासन-प्रणाली से काम लेना मानों शासन-संबंधी अनुभव और सफलता का एक अद्भुत और उत्कृष्ट उदाहरण है—करामात है। नेपाल में इस प्रकार की शासन-प्रणाली बहुत दिनों तक प्रचलित थी। केवल हॉब्स का सिद्धांत जाननेवाले युरोपियन विद्वान् नेपाल के इन शिलालेखों का ठीक ठीक अर्थ समझ ही नहीं सकते। परंतु भारत में, जहाँ संयुक्त परिवार का सिद्धांत अब तक जीता जागता और प्रचलित है, ऐसे शिलालेखों का अभिप्राय सहज में समझा जा सकता है। ऐसी शासन-प्रणाली केवल उसी देश में चल सकती थी जिसमें मिताक्षरावाला परिवार संबंधी

सिद्धांत ठीक ठीक कार्य रूप में परिणत हो सकता था। जान पड़ता है कि संयुक्त संपत्ति और उसके संयुक्त भोग का यह कानूनी सिद्धांत राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रचलित कर दिया गया था; और उसमें उसके अनुसार कार्य भी होने लगा था, जिसके कारण शताब्दियों तक संघर्ष, प्रतियोगिता तथा रक्तपात आदि से रक्षा हो सकती थी। नेपाल के इन राजवंशों में कोई रक्त संबंध नहीं था—दोनों वंश एक ही पूर्वज की संतानों के नहीं थे। केवल इस प्रकार की शासन-प्रणाली के कारण ही शासन-कार्य में ये दोनों राजवंश संयुक्त हो गए थे। अर्थ-शास्त्र और आचारांग सूत्र में इसके संबंध में जो उल्लेख आए हैं, उनसे सूचित होता है कि हिंदू भारत में इस प्रकार की शासन-प्रणाली बहुत विरल नहीं थी।

अराजक राज्य

§ १०१. अराजक* या बिना शासकवाली शासन-प्रणाली आदर्शवादियों की शासन-प्रणाली थी, जिसकी हिंदू भारत के राजनीतिक लेखकों ने बहुत हँसी उड़ाई है। इस शासन-प्रणाली का आदर्श यह था कि केवल कानून या धर्मशास्त्र को ही शासक मानना

---

* इस पारिभाषिक "अराजक" शब्द का वह "आततायियों का उपद्रव" वाला अर्थ नहीं है, जिस अर्थ में साधारणतः आजकल इसका व्यवहार किया जाता है; क्योंकि आततायियों या राजद्रोहियों के उपद्रव के लिये हिंदू राजनीति में एक विशिष्ट शब्द "मत्स्यन्याय" का व्यवहार होता है। देखो अर्थशास्त्र १. ४. पृ० ९. खलीमपुर का ताम्रलेख

चाहिए और कोई व्यक्ति शासक नहीं होना चाहिए। इसमें शासन का आधार नागरिकों का पारस्परिक निश्चय या सामाजिक बंधन माना जाता था। यह प्रजातंत्र प्रणाली की मानों चरम सीमा थी और बहुत से अंशों में इसका आदर्श टॉल्स्टाय के आदर्श के साथ बहुत कुछ मिलता जुलता था। महाभारत*

* शांतिपर्व अध्याय ५९ में कहा है कि प्रचलित युग के आरंभ में न तो कोई राज्य था और न कोई राजा था और न कोई व्यक्ति शासन-कार्य के लिये नियुक्त किया जाता था। केवल कानून या धर्मशास्त्र का ही शासन होता था। परंतु पारस्परिक विश्वास के अभाव के कारण इस प्रकार का कानून या धर्म का शासन अधिक दिनों तक न चल सका। इसी लिये राजा द्वारा शासन की प्रथा प्रचलित हुई।

एक दूसरे स्थान पर यही सिद्धांत इस रूप में प्रतिपादित किया गया है---अराजक राज्य के निवासी जब राजद्रोही और उपद्रवी होने लग गए, तब उन्होंने उपद्रवों और अपराधों को रोकने के लिये एक समूह या सभा में कुछ विशिष्ट निश्चय स्वीकृत किए और कानून बनाए। आपस में एक दूसरे का विश्वास उत्पन्न करने के लिये सब जातियों ने मिलकर कुछ बंधन निर्धारित करके उनके अनुसार जीवन निर्वाह करना निश्चित किया। परंतु जब वे लोग इस प्रणाली के कार्य से संतुष्ट नहीं हुए, तब उन्होंने जाकर ब्रह्मा से शिकायत की। इस पर ब्रह्मा ने उनसे कहा कि तुम लोग अपना एक प्रधान या शासक नियुक्त करो; और इस प्रकार एक राजा निर्वाचित हुआ।

में जहाँ से उक्त विवरण लिया गया है, इस शासन-प्रणाली की हँसी उड़ाई गई है; और कहा गया है कि जब इस व्यवस्था से

नैव राज्यन्न राजासीन्न च दंडो न दांडिकः।
धर्म्मेणैव प्रजाः सर्व्वा रक्षंति स्म परस्परम् ॥
पाल्यमानास्तथाऽन्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥
ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्म्मस्तेषामनीनशत् ॥
नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्व्वे भरतसत्तम ॥

श्लोक १३—१७.

२२ वें श्लोक में इस बात का उल्लेख है कि ये लोग ब्रह्मा के पास गए। उन्होंने शासन-सिद्धांतों के संबंध में एक ग्रंथ लिख दिया और उनसे अपने लिये एक राजा चुनने को कहा।

अध्याय ६६.

इंद्रमेव प्रणमते यद्राजानमिति श्रुतिः।
यथैवेंद्रस्तथा राजा संपूज्यो भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥
अराजकाः प्रजाः पूर्व्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयंतो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारदारिकः ॥ १८ ॥
यश्च नः समयं भिन्द्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥ १९ ॥
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्त्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥

काम नहीं चला और सब लोग कानून की अवज्ञा करने लगे, तब इस प्रकार का कानून बनानेवालों को अपनी भूल मालूम हुई। जब केवल कानून से शासन न हो सका, तब इस प्रकार की शासन-प्रणाली में रहनेवाले नागरिकों ने एकराज अथवा राजकीय शासन-प्रणाली का आश्रय लिया। मैं तो यही समझना चाहता था कि यह अराजक शासन-प्रणाली हिंदू राजनीतिज्ञों की कपोल-कल्पना मात्र है; और मैं सोचता था कि उन हिंदू राजनीतिज्ञों ने प्रजातंत्र के सामाजिक बंधन और कानूनी शासनवाले सिद्धांतों के विरुद्ध केवल तर्क करने के लिये ही इसकी कल्पना की होगी। परंतु जैन सूत्र इस बात के लिये विवश करता है कि हम इसे शासन-प्रणाली का एक ऐसा प्रयोग मानें जिसका इस देश में अनेक बार अनुभव किया गया है। जैन सूत्र में इस शासन-प्रणाली का इस प्रकार उल्लेख है, मानों यह उस समय प्रचलित थी*। जिस वर्ग में इस शासन-प्रणाली का उल्लेख है, उसमें की सभी शासन-प्रणालियाँ वास्तविक और ऐतिहासिक हैं। उसमें नीचे लिखी शासन-प्रणालियाँ दी गई हैं—

---

* से भिक्खु वा २ गामाणुगामम् दुइज्जमाणे अंतरा से अरायाणि वा गणरायाणि जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा सति लाढे विहारे संथरमाणेहिम् जणवेहिम नो विहारवत्तियै पवज्जेज्जा गमणैः केवली बूयाः आयाणं एयम् ते णं बालाः अयं तेणे तं चेव जाव गमणै ततो संजयाम् एव गामाणुगामम् दुइज्जेज्जा। आयारंग सुत्तं (जैकोबीवाला संस्करण) २. ३—१—१०.

(क) अराजक राज्य,

(ख) गण द्वारा शासित राज्य,

(ग) युवराज द्वारा शासित राज्य,

(घ) द्वैराज्य,

(ङ) वैराज्य और

(च) विरुद्ध रज्जाणि अथवा दलों द्वारा शासित राज्य ।

इनमें से (ग) वर्ग के राज्य उसी प्रकार के जान पड़ते हैं, जिस प्रकार के एक राज्य का शासनाधिकार खारवेल को उसके अभिषेक से पहले प्राप्त था (योवरजम पसासितम्)। कानून के अनुसार इस प्रकार का शासन-काल दो राजाओं के शासन का मध्यवर्ती काल समझा जाता था। अनुमान से यह जान पड़ता है कि यह शासन उस दशा में होता था, जब कि एक राजा मर जाता था और उसका उत्तराधिकारी दूसरा राजा बहुत छोटा या नाबालिग होता था और शासन-कार्य किसी अभिभावक या निरीक्षक काउन्सिल या मंडल के हाथ होता था। (च) वर्ग के राज्य से ऐसे राज्य का अनुमान होता है जिसमें एक से अधिक दलों का राज्य होता था। उदाहरणार्थ अंधक-वृष्णियों का राज्य।

जैन सूत्र का कथन है कि ये सब राज्य श्रावकों और श्राविकाओं के लिये सुरक्षित नहीं हैं और उन्हें वहाँ न जाना चाहिए; क्योंकि इन राज्यों के अधिकारी विदेशी या अपरि-चित साधुओं को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें राज-

नीतिक गुप्तचर समझते हैं। अर्थ-शास्त्र से हमें पता चलता है कि प्रायः गुप्तचर लोग साधुओं और संन्यासियों आदि के वेष में घूमा करते थे।

अराजक राज्य के सिद्धांत पर शासित होनेवाले देश बहुत ही छोटे छोटे रहे होंगे। हिंदुओं में भी उस समय मेजिनी और टॉल्स्टाय की कोटि के लोग रहे होंगे, जिन्होंने इस प्रकार की कीर्त्तिशाली तथा बहुत से अंशों में असंभव शासन-प्रणालियों का आविष्कार करके उन्हें प्रचलित किया होगा।

उग्र और राजन्य शासन-प्रणालियाँ

§ १०२. जैन सूत्र में* एक और वाक्य आया है (२. १. २. २.) जिस में तीन प्रकार के शासक बतलाए गए हैं—उग्र (उग्ग), भोज और राजन्य (इसके उपरांत क्षत्रियों और इक्ष्वाकुओं आदि का उल्लेख है)। पारिभाषिक अर्थ वा शासन-प्रणाली की दृष्टि से राजन्य शब्द का जो कुछ महत्व है, वह हम अभी देख चुके हैं। भोज के संबंध में भी हम जानते हैं। उग्र शासन-प्रणाली का पता हमें वैदिक साहित्य से चलता है। (§ २०२. भाग २.)

केरल (मलाबार) भी उग्र कहलाता है। संभवतः केरल में किसी समय यही उग्र शासन-प्रणाली रही होगी। केरल के

---

*. उग्गकुलाणि वा भोजकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा खत्तिय-कुलाणि वा क्खागकुलाणि .... ।

आयारंगसुत्तम् (जैकोबीवाला संस्करण)

संबंध में यह प्रसिद्ध है कि वहाँ किसी प्रकार की प्रजातंत्री शासन-प्रणाली प्रचलित थी। अशोक के शिलालेखों में उसकी जो 'केरलपुतो' उपाधि मिलती है, वह शासन के किसी विशिष्ट प्रकार की सूचक हो सकती है। 'केरलपुतो' केरल का शासक तो था, परंतु उसका राजा नहीं था। अशोक के शिलालेखों में जो केरलपुतो का पड़ोसी 'सतियपुतो' आया है, वह भी इसी प्रकार का शासक रहा होगा। बिलकुल आरंभ में सात्वत् लोग दक्षिण के किनारे या सीमा पर थे; और यह बहुत कुछ संभव है कि उनकी शाखाएँ और भी अधिक नीचे या दक्षिण की ओर चली गई हों। जब कि 'सतियपुतो' भोज था, तब हम 'केरलपुतो' को उग्र मान सकते हैं। परंतु जब तक और प्रमाण न मिलें, तब तक यह निर्धारण बिलकुल ठीक नहीं माना जा सकता और इसमें संशोधन का स्थान बना ही रहेगा।

§ १०३. यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इन सब प्रकार की शासन-प्रणालियों में शासक का अभिषेक बहुत ही आवश्यक समझा जाता था। जब तक अभिषेक नहीं होता था, तब तक कानूनी दृष्टि से शासन या राज्य का अस्तित्व ही नहीं माना जाता था। परंतु ऐसा क्यों होता था? इसका कारण यही था कि शासकों को बहुत ही उत्तमता तथा धर्मपूर्वक शासन करने की शपथ लेनी पड़ती थी। यह पद्धति इतनी आवश्यक और महत्वपूर्ण थी कि जिन प्रजातंत्री राज्यों में

सारा देश अथवा देश के समस्त निवासी शासक समझे जाते थे (वैराज्य), वहाँ एक विशिष्ट कृत्य के द्वारा सारे देश अथवा देश के समस्त निवासियों का अभिषेक होता था*। लिच्छवियों में इस प्रकार का अभिषेक होता था (देखो ऊपर पृ० ७८ का दूसरा नोट); और मल्लों का एक विशिष्ट निश्चित स्थान था, जहाँ उनके शासक लोग शासन-भार ग्रहण करने के समय राजमुकुट धारण किया करते थे। मुकुट बंधन या मुकुट धारण करना (महापरिनिब्बान सुत्तन्त ६. १५.) और मुकुट धारण करने से पहले अभिषेक होना आवश्यक होता है (देखो आगे § २२०)। हिंदू राजनीति में अनभिषिक्त शासक बहुत ही उपेक्षा या घृणासूचक पद है। यह इस बात का सूचक है कि कानून की दृष्टि से वह शासक शासक ही नहीं है। पुराणों में इस शब्द का व्यवहार विदेशी टोलियों के लिये हुआ है† ।

---

* ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४.

† वायुपुराण में कहा है—

भविष्यन्तीह यवना धर्म्मतः कामतोऽर्थतः ।
नैव मूर्द्धाभिषिक्तास्ते भविष्यन्ति नराधिपाः ॥

देखो परगिटर का मूल, पृ० ५६.

ग्यारहवाँ प्रकरण

हिंदू प्रजातंत्रों की कार्य-प्रणाली

§ १०४. इन प्रजातंत्रों के और समीप पहुँचने पर इनके संबंध में और अधिक भीतरी बातें जानने के लिये हमें इनकी कार्य-प्रणाली आदि का ज्ञान प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिए। यदि भूत काल का व्यवधान इतना अधिक भारी हो कि उठाया ही न जा सके, तो हमें अप्रत्यक्ष रूप से ही उसके दर्शन करके संतुष्ट हो जाना चाहिए।

बौद्ध सूत्रों तथा पहले आए हुए उल्लेखों और उद्धरणों आदि से हमें पता चलता है कि राज्य या शासन-संबंधी विषयों पर हमारे प्रजातंत्रों में समूह के सामने विचार हुआ करता था। इस प्रकार के विचारों और निर्णयों आदि के पारिभाषिक या कार्य-संबंधी स्वरूप का हमें केवल एक ही प्रत्यक्ष उल्लेख मिलता है। परंतु वह एक उल्लेख सबसे अधिक महत्व का है, क्योंकि वह हमें बिलकुल ठीक मार्ग पर पहुँचा देता है। शाक्यों की राजधानी पर कोशल के राजा ने घेरा डाला था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि जिस समय आत्मसमर्पण करने के प्रश्न पर विचार हो रहा था, उस समय मतभेद उपस्थित हो गया था। अतः शाक्यों ने यह निश्चित किया कि पहले

बहुमत का पता लगाना चाहिए—यह जानना चाहिए कि बहुमत किस पक्ष में है। अतः इस विषय पर सब लोगों के मत लिए गए थे। उस समय हुआ यह कि—

"राजा ने शाक्यों के पास एक दूत भेजकर कहलाया—महाशयो, यद्यपि आप लोगों के प्रति मुझमें कोई अनुराग नहीं है, तथापि आप लोगों के प्रति कोई विराग अथवा घृणा का भाव भी नहीं है। अब सब कुछ हो चुका है; इसलिये आप लोग तुरंत अपने द्वार खोल दें। इस पर शाक्यों ने कहा—हम सब लोगों को एकत्र होने दीजिए और इस बात का विचार कर लेने दीजिए कि क्या द्वार खोल देना चाहिए। जब वे सब लोग एकत्र हुए, तब कुछ लोगों ने कहा कि द्वार खोल देना चाहिए; और कुछ लोगों की सम्मति यह हुई कि द्वार नहीं खोलना चाहिए। कुछ लोगों ने कहा कि इस संबंध में कई प्रकार के मत हैं; इसलिये हमें यह जानना चाहिए कि अधिक लोगों का क्या मत है। इसलिये उन लोगों ने इस विषय पर मत देना आरंभ किया *।"

अंत में अधिक लोगों की सम्मति यही हुई कि कुछ शर्तों पर आत्मसमर्पण करने का जो प्रस्ताव है, वही ठीक है; और तब नगरवालों ने आत्मसमर्पण कर दिया। परंतु मत-संग्रह और बहुमत जानने की प्रणाली का अधिक विस्तृत विवरण हमें कहाँ से मिल सकता है? हम यह बात पहले ही बतला चुके

*राकहिल कृत The Life of the Buddha पृ० ११८-९.

हैं कि बौद्ध संघ वास्तव में राजनीतिक संघ के अनुकरण पर ही बना था। हम यह भी बतला चुके हैं कि स्वयं बुद्ध भगवान् ने लोगों के पथ-प्रदर्शन के लिये कहा था कि मत-संग्रह उसी प्रकार किया जाय, जिस प्रकार गण में किया जाता है। अतः यदि राजनीतिक अथवा धार्मिक दोनों में से किसी एक संघ की कार्य-प्रणाली हमें विदित हो जाय, तो मानों हमें एक ऐसा चित्र मिल जायगा जिसमें प्रायः दोनों की ही अनेक बातें समान रूप से होंगी। ये दोनों ही संघ समकालीन थे; और साधारणतः इन सार्वजनिक समूहों की कार्य-प्रणाली की सब बातें भी दोनों में प्रायः समान ही होंगी। परंतु बौद्ध संघ के विषय में हम यह बात जानते हैं कि उसका मुख्य आधार क्या है; और यह भी स्पष्ट है कि उसकी रचना राजनीतिक संघ के अनुकरण पर हुई थी। अतः यह बात भी निर्विवाद है कि बौद्ध संघ की कार्य-प्रणाली अपने जनक प्रजातंत्री संघ की कार्य-प्रणाली से बहुत कुछ मिलती जुलती ही होगी। धार्मिक आवश्यकताओं को देखते हुए उसमें जो परिवर्तन या सुधार हुए थे, यदि उन सुधारों को हम उसमें से निकाल लें या अलग कर दें, तो हम वह स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं जो दोनों में समान ही था। इस कार्य के लिये हम यहाँ पर धार्मिक संघ की कार्य-प्रणाली दे देते हैं, जिसके स्वयं नियमों से ही विदित हो जायगा कि जिस समय महात्मा बुद्ध ने धर्म में उन नियमों का प्रवेश किया था, उससे पहले ही तत्संबंधी शब्दों और कार्य-

प्रणालियों आदि ने एक निश्चित और पारिभाषिक स्वरूप प्राप्त कर लिया था। इसी से हमें विस्तृत रूप से यह बात मालूम हो जायगी कि मत किस प्रकार दिया जाता था और बहुमत किस प्रकार जाना जाता था।

आसन

§ १०४. जिन सदस्यों को उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त होता था, वे सब उस समूह में आसनों पर आकर बैठते थे; और वे सब आसन इसी कार्य के लिये नियुक्त एक विशिष्ट अधिकारी के आज्ञानुसार लगाए जाते थे।

"एक समय की बात है कि अजित नाम का एक भिक्खु, जिसे प्रव्रज्या ग्रहण किए दस वर्ष हो गए थे, संघ के सामने पातिमोक्ख का पाठ किया करता था। संघ ने थेर भिक्खुओं के आसनों की व्यवस्था करने के लिये उसी को आसनपण्णापक (आसनप्रज्ञापक) नियुक्त किया*।"

ज्ञप्ति

§ १०५. जब किसी विषय पर विचार होने को होता था, तब तत्संबंधी प्रज्ञप्ति या सूचना इस प्रकार सब के सामने उपस्थित की जाती थी—"आदरणीय संघ मेरी बात सुने। यदि संघ को समय मिले तो संघ अमुक कार्य करे।..... यह ञत्ति (अर्थात् ज्ञप्ति, या सूचना) है।" इस ज्ञप्ति के उपरांत जो ज्ञापक होता था, वह

* वैशाली के संघ का विवरण। चुल्लवग्ग १२. २. ७. (विनय पिटक S. B. E. २०. ४०८.)

अपने विषय का प्रस्ताव, जिसे उस समय प्रतिज्ञा कहते थे, संघ के सामने स्वीकृत होने के लिये उपस्थित करता था। कह दिया जाता था कि जो लोग इस प्रस्ताव या प्रतिज्ञा के पक्ष में हों, जिन्हें यह प्रतिज्ञा स्वीकृत हो, वे लोग मौन रहें; और जिन्हें यह स्वीकृत न हो, वे लोग बोलें। कुछ अवस्थाओं में प्रतिज्ञा तीन बार पढ़कर सुनाई जाती थी; और तब यदि उपस्थित समूह के सब लोग मौन रहते थे, तो कह दिया जाता था कि यह प्रतिज्ञा स्वीकृत हो गई। और तब जिस दल का उस प्रतिज्ञा के साथ संबंध होता था, उस दल को नियमानुसार प्रतिज्ञा की सूचना दे दी जाती थी। उक्त विवरण को और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ विनय पिटक से कुछ उदाहरण दे देते हैं।

नीचे लिखी प्रतिज्ञा स्वयं बुद्ध भगवान् ने सब लोगों के सामने उपस्थित की थी—

"आदरणीय संघ श्रवण करे। इस उवाल भिक्खु का एक अपराध के संबंध में संघ के समक्ष विचार हुआ था। इसने एक बार अपराध अस्वीकृत करने के उपरांत उसे स्वीकृत किया है; और स्वीकृत करने के उपरांत फिर अस्वीकृत किया है। उलटे यह वादी पर अपराध लगाता है और जान बूझकर झूठ बोलता है। यदि संघ को अवकाश मिले तो संघ भिक्खु उवाल के विरुद्ध 'तस्स पापिय्यसिका' कर्म स्वीकृत करे। यही ज्ञप्ति है।

"आदरणीय संघ श्रवण करे। इस उवाल भिक्खु का (आदि आदि जैसा कि पहले कहा था)। संघ उवाल भिक्खु के विरुद्ध 'तस्स पापिय्यसिका' कर्म स्वीकृत करता है। जो आदरणीय भिक्खु लोग उवाल भिक्खु के विरुद्ध तस्स पापिय्यसिका कर्म स्वीकृत करने के पक्ष में हों, वे मौन रहें। जो उसके पक्ष में न हों, वे बोलें।

"फिर दूसरी बार मैं वही बात कहता हूँ। 'इस उवाल भिक्खु का' (आदि आदि जैसा कि पहले कहा था) 'वह बोले'।

"फिर तीसरी बार मैं वही बात कहता हूँ (आदि आदि जैसा कि पहले कहा था) 'वह बोले'।

"उवाल भिक्खु के विरुद्ध संघ ने तस्स पापिय्यसिका कर्म स्वीकृत कर लिया है। इसी लिये वह मौन है। इससे यही बात मैं समझता हूँ* ।"

"इसके उपरांत संघ ने उवाल भिक्खु के विरुद्ध तस्स पापिय्यसिका कर्म स्वीकृत कर लिया।" (४. १२. ४.)

बुद्ध भगवान् के निर्वाण के उपरांत राजगृह में जो महासभा हुई थी, उसके विवरण में से कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

"इस पर पूजनीय महाकस्सप ने संघ के सामने प्रतिज्ञा उपस्थित की—'पूजनीय संघ मेरी बात श्रवण करे। यदि संघ को

---

* चुल्लवग्ग ४. ११. २. ओल्डनबर्ग तथा र्‌हीस डेविड्स का अनुवाद (S. B. E. २०. २६.)

समय मिले तो संघ यह निश्चय करे कि ये पाँच सौ भिक्खु धर्म और विनय का पाठ करने के लिये, इस चातुर्मास में राजगृह में निवास करें, तथा इस चातुर्मास में और भिक्खु लोग राजगृह न जा सकें।' यह प्रतिज्ञा है। आदरणीय संघ श्रवण करे। संघ इसी के अनुसार निश्चय करता है। इन उपस्थित पूज्य व्यक्तियों में से जो इस प्रतिज्ञा के पक्ष में हो, वह मौन रहे। जो इसे स्वीकृत न करता हो, वह बोले। संघ ने इसके अनुकूल निर्णय किया है; इसी लिये वह मौन है। यही मैं समझता हूँ* ।"

और भी—

"और तब पूज्य महाकस्सप ने संघ के सामने प्रतिज्ञा उपस्थित की—'यदि संघ को समय मिले तो मैं उपालि से विनय के संबंध में प्रश्न करूँगा'।"

"और तब पूज्य उपालि ने संघ के सामने प्रतिज्ञा उपस्थित की—'आदरणीय संघ श्रवण करे। यदि संघ को समय मिले तो पूज्य महाकस्सप के प्रश्न करने पर मैं उन्हें उत्तर दूँगा†'।"

§ १०६. गण-पूर्त्ति के नियम का बहुत ही दृढ़तापूर्वक पालन होता था। बौद्ध भिक्खुओं के कुछ छोटे छोटे स्थानीय समाजों में सब प्रकार के कार्यों पर विचार करने के लिये बीस की संख्या गणपूरक समझी जाती थी‡।

---

* चुल्लवग्ग ११. १. ४.

† चुल्लवग्ग ११. १. ७.

‡ महावग्ग ९. ४. १.

जितने सदस्यों की उपस्थिति नियमानुसार आवश्यक होती थी, यदि उतने से कम सदस्यों की उपस्थिति में ही कोई कार्य संपन्न किया जाता था, तो वह कार्य निरर्थक समझा जाता था और व्यवहार में नहीं आ सकता था।

"हे भिक्खुओ, यदि बिना गणपूर्त्ति हुए नियम-विरुद्ध कोई कार्य हो जाय, तो वह कोई वास्तविक कार्य नहीं है और वह संपन्न नहीं होना चाहिए*।"

सदस्यों में से एक पर इस बात का भार होता था कि वह कम से कम उतने सदस्यों को उपस्थित करने का उद्योग करे, जितने सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक होती थी†।

गणपूरक

"और नहीं तो फिर मैं अगले अधिवेशन में गणपूरक का काम करूँगा।" ओल्डनबर्ग तथा र्‌हीस डेविड्स ने इस वाक्य का (Sacred Books of the East १३. पृ० ३०७) इस प्रकार अनुवाद किया है—

"और नहीं तो मैं गण की पूर्ति करने में सहायता दूँगा।"

समूह या समाज के किसी विशिष्ट अधिवेशन में गणपूरक ही उसके सदस्यों को एकत्र करने का उद्योग करता था।

यह पतंजलि के महाभाष्य के इस वाक्य से मिलता हुआ है—विंशिकः संघः। ५. १. २. २. पृ० ३५५. (५. १. ५९. पर भाष्य।)

* विनय, महावग्ग ९. ३. २.

अधम्मेन च भिक्खवे वग्गकम्मं अकम्मं न च करणीयं।

† महावग्ग ३. ६. ६. गणपूरको वा भविस्सामीति।

§ १०७. एक बार ञत्ति (ज्ञप्ति) और फिर एक बार प्रतिज्ञा उपस्थित करने को 'ञत्ति दुतीय' कहते थे जिसका अर्थ है—दो बार ज्ञप्ति उपस्थित करने की क्रिया या नियम। और जब उसी ञत्ति को फिर तीसरी बार उपस्थित करने की आवश्यकता होती थी, तब उसे ञत्ति चतुत्थ कहते थे। समूह या समाज के सामने प्रतिज्ञा उपस्थित करने को कम्मवाचा (कर्म-वाच) कहते थे। यदि केवल ञत्ति उपस्थित की जाती थी, और कोई प्रतिज्ञा नहीं उपस्थित की जाती थी, अथवा प्रतिज्ञा की घोषणा कर दी जाती थी, पर उससे पहले ञत्ति उपस्थित नहीं की जाती थी, तो सब कार्रवाई निरर्थक और नियम-विरुद्ध समझी जाती थी। इसी प्रकार जिस कार्य के लिये ञत्ति चतुत्थ की आवश्यकता होती थी, उसमें यदि ठीक उतनी बार प्रतिज्ञा नहीं उपस्थित की जाती थी, तो वह प्रतिज्ञा भी नियम-विरुद्ध या गैर-कानूनी समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त ज्ञप्ति और प्रतिज्ञा का क्रम भी नहीं बदला जा सकता था।

नियम की अवज्ञा करने का परिणाम

"हे भिक्खुओ, यदि कोई व्यक्ति ञत्ति दुतीय वाला कार्य केवल एक ही ञत्ति के उपरांत कर डाले अथवा कम्मवाचा की घोषणा न करे, तो वह कार्य नियमानुमोदित या नियम के अनुसार ठीक नहीं है। हे भिक्खुओ, यदि कोई व्यक्ति ञत्ति दुतीय वाला कार्य दो ञत्तियों के उपरांत तो करे, पर कम्मवाचा की घोषणा न करे...,एक बार कम्मवाचा की घोषणा तो करे, पर ञत्ति

उपस्थित न करे...,दो बार कम्मवाचा की घोषणा तो करे, पर ञत्ति उपस्थित न करे, तो वह कार्य नियमानुसार ठीक नहीं है। हे भिक्खुओ, यदि कोई व्यक्ति कोई ञत्ति चतुत्थवाला कार्य केवल एक ही ञत्ति के उपरांत करे और कम्मवाचा की घोषणा न करे, तो वह कार्य नियमानुसार ठीक नहीं है। हे भिक्खुओ, यदि कोई व्यक्ति ञत्ति चतुत्थवाला कार्य केवल दो (आदि आदि)...* ।"

वोट या छंद

§ १०८. जिस मत-दान को आजकल वोट कहते हैं, वह उन दिनों छंद कहलाता था। छंद शब्द का अर्थ है--स्वतंत्र, स्वतंत्रता या स्वाधीनता। इससे यह सूचित होता है कि किसी विषय पर सम्मति देने के समय सम्मति देनेवाला बिलकुल स्वतंत्रतापूर्वक और अपनी इच्छा से कार्य कर रहा है।

अनुपस्थित लोगों के वोट या छंद

जिन लोगों को अधिवेशन में उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त होता था, वे लोग यदि रुग्ण रहने के कारण अथवा इसी प्रकार की और किसी लाचारी के कारण उपस्थित नहीं हो सकते थे, तो उन लोगों के वोट या छंद बहुत होशियारी के साथ इकट्ठे किए जाते थे। यदि यह काम नहीं होता था, तो कार्रवाई भी ठीक नहीं समझी जाती थी। पर यदि उपस्थित होनेवाले सदस्य आपत्ति करते थे, तो इस प्रकार एकत्र

---

* विनय, महावग्ग ९. ३. ४७-८. र्‌हीस डेविड्स तथा ओल्डनबर्ग के अनुवाद के आधार पर। S. B. E. खंड १७. पृ० २६९.

किए हुए वोट या छंद अस्वीकृत भी कर दिए जाते थे। उन वोटों अथवा छंदों को गिनना या न गिनना तो उपस्थित सदस्यों की इच्छा पर ही निर्भर होता था, परंतु फिर भी नियमानुसार उनका संग्रह कर लेना आवश्यक होता था; और एकत्र होने के समय लोग यह आशा करके आते थे कि इस प्रकार के वोट या छंद इकट्ठे कर लिए गए होंगे।

"हे भिक्खुओ, यदि किसी ञत्ति दुतीयवाले कार्य के समय वे सब भिक्खु, जो छंद देने के अधिकारी हैं...उपस्थित न हों, परंतु जो लोग छंद प्रदान करने के अधिकारी हैं, उनका छंद यदि समूह के सामने अथवा अधिवेशन में न लाया जाय और यदि उपस्थित भिक्खु लोग विरोध करें, तो ऐसी अवस्था में जो कार्य होगा, वह अपूर्ण समूह या समाज का काम होगा।"

"हे भिक्खुओ, यदि किसी ञत्ति दुतीयवाले कार्य के समय वे सब भिक्खु उपस्थित हों जिन्हें छंद प्रदान करने का अधिकार है, परंतु जिन लोगों को छंद प्रदान करने का अधिकार है, उन लोगों का छंद समूह या समाज के सामने न लाया गया हो और यदि उपस्थित भिक्खु लोग विरोध करें, तो उस अवस्था में जो कार्य होगा, वह अपूर्ण समाज या समूह का कार्य होगा*।"

§ १०९. यदि संघ किसी प्रतिज्ञा या प्रस्ताव को सर्व-सम्मति से स्वीकृत करता था, तो छंद प्रदान करने का प्रश्न

* S. B. E. खंड १७. पृ० २६६.

ही नहीं उठता था। पर यदि किसी विषय में उपस्थित सदस्यों में मतभेद होता था, तो व्याख्यान दिए जाते थे और बहुतर सम्मति अथवा बहुमत मान्य किया जाता था। अधिक लोगों के मत से, जिसे उस समय बहुतर कहते थे, किसी विषय का निर्णय हुआ करता था। पाली में इस कार्य-प्रणाली को ये-भुय्यसिकम् कहते हैं। इसका संस्कृत रूप होगा—ये-भूयसीयकम् अथवा वह कार्य-प्रणाली जिसमें अधिक लोगों का मत माना जाता हो। मत या छंद प्रदान करने की क्रिया मत देने के एक प्रकार के टिकटों की सहायता से, जो रँगे हुए होते थे, संपादित होती थी। इन टिकटों को शलाका कहते थे * और इनके द्वारा सम्मति एकत्र करने को शलाका-ग्रहण कहते थे। समस्त संघ के द्वारा एक व्यक्ति नियुक्त होता था, जो इस प्रकार शलाकाएँ संग्रह करके उनकी संख्या आदि बतलाता था और जिसे शलाका-ग्राहक कहते थे। वह यह बतलाता था कि किस रंग से क्या सूचित होता है; और या तो गुप्त रूप से और या खुले आम शलाकाएँ संग्रह किया करता था।

शलाका-ग्रहण, बहु-मत जानने का उपाय

"जो भिक्खु पाँच गुणों से संपन्न होगा, वही शलाका-ग्राहक नियुक्त किया जायगा। अर्थात् जो किसी का पक्षपात न

---

* एक चीनी लेख के आधार से हमें पता चलता है कि ये शलाकाएँ काठ की बनी होती थीं।

करेगा, जिसके मन में किसी प्रकार का द्वेष न होगा, जो किसी प्रकार की मूर्खता न करेगा......भय न करेगा, जो यह जानता होगा कि कौन से छंद लिए गए हैं और कौन से नहीं लिए गए हैं।

"और उस शलाका-ग्राहक की नियुक्ति इस प्रकार होगी—

"पहले उस भिक्खु से प्रार्थना की जायगी (कि आप यह पद ग्रहण करेंगे या नहीं)। तब कोई सुयोग्य और विचारशील भिक्खु इस विषय को संघ के सामने यह कहकर उपस्थित करेगा—

"आदरणीय संघ श्रवण करे।

"यदि संघ को समय मिले तो संघ अमुक नाम के भिक्खु को शलाका-ग्राहक नियुक्त करे (आदि आदि)......*।

"उसी भिक्खु शलाका-ग्राहक के द्वारा छंद संगृहीत होने चाहिएँ। और धर्म्म द्वारा रक्षित भिक्खुओं की अधिक संख्या† जो कुछ कहेगी, उसी के अनुसार किसी विषय का निर्णय होगा।"

---

* चुल्लवग्ग ४. ९. २. S. B. E. २०. पृ० २९.

† मनु (८. १०.) के अनुसार प्राचीन काल में किसी न्यायाधीश या जज के साथ जो सभा बैठती थी, उसकी विषम संख्या (३) भी यही बहुमत का नियम बतलाती है। अर्थ-शास्त्र में भूमि संबंधी झगड़ों के निपटारे के लिये पड़ोसियों की सभा या ज्यूरी के द्वारा निर्णय कराने का जो विधान है, उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है—'भूमि संबंधी झगड़ों का निपटारा आस पास के ग्रामवृद्धों के द्वारा होना चाहिए। यदि

"हे भिक्खुओ, ऐसे भिक्खुओं को शांत करने के लिये मैं तुम्हें छंद संग्रह करने के तीन उपाय बतलाता हूँ। पहला गुप्त प्रकार गूल्हकम् है, दूसरा सकण्णा-जप्पकम् है, जिसमें धीरे से कान में कह दिया जाता है; और तीसरा प्रकार विवटकम् है, जिसमें प्रकट रूप से या खुले आम छंद प्रदान किया जाता है। हे भिक्खुओ, वह गुप्त रूप से छंद संग्रह करने का उपाय क्या है? जो भिक्खु शलाका-ग्राहक हो, वह भिन्न भिन्न रंगों की शलाकाएँ बनावे; और जब प्रत्येक भिक्खु उसके पास आवे, तब वह उससे इस प्रकार कहे—'यह शलाका ऐसे व्यक्ति के लिये है, जिसकी सम्मति अमुक हो; और यह शलाका ऐसे व्यक्ति के लिये है जिसकी सम्मति अमुक हो। इनमें से जो शलाका तुम लेना चाहो, वह ले लो।' जब वह अपने लिये एक शलाका चुन ले, तब वह कहे—इसे किसी दूसरे व्यक्ति को मत दिखलाना*।"

§ ११०. कभी कभी बहुत से निरर्थक व्याख्यानों से बचने के लिये किसी विषय का निर्णय करने का अधिकार

उन लोगों में किसी प्रकार का मतभेद हो, तो शुद्ध अनुमतिवाले बहुमत के अनुसार ही निर्णय होगा।'

क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः। तेषां द्वैधीभावे यतः बहवः शुच्योऽनुमता वा ततो नियच्छेयुः।

साथ ही शुक्र-नीति ४. २६. में ज्यूरियों की दी हुई ७,५ अथवा ३ वाली संख्या का भी मिलान करो।

* चुल्लवग्ग ४. १४. २४. S.B.E, २०, पृ० ५४; २६, पृ० ५६.

किसी नियुक्त की हुई कमेटी या उपसमिति आदि को सौंप दिया जाता था, जिसके सब सदस्य आपस में मिलकर उस प्रश्न की मीमांसा कर लेते थे और तब संघ को अपने निर्णय से सूचित कर देते थे। यदि वह कमेटी या उपसमिति कोई निर्णय नहीं कर सकती थी, तो फिर उस बात का निर्णय करने का अधिकार संघ ही के हाथ में रहता था, जो बहुमत अथवा बहुतर के सिद्धांत के अनुसार उसका निर्णय करता था।

निरर्थक व्याख्यान और प्रतिनिधि सभा या समिति

"हे भिक्खुओ, जब उन भिक्खुओं के द्वारा किसी विषय पर विचार हो रहा हो और उसके संबंध में अनर्गल (अनग्गानि) भाषण आदि होते हों और किसी कथन का अभिप्राय स्पष्ट न होता हो, तो मैं तुम लोगों को अधिकार देता हूँ कि तुम लोग उसका निर्णय (ज्यूरी या कमीशन की) सम्मति से करो*।

"हे भिक्खुओ, उसकी नियुक्ति इस प्रकार होगी। पहले उस भिक्खु से पूछ लेना चाहिए कि वह इस पद पर कार्य करने के लिये तैयार है या नहीं। इसके उपरांत कोई विचारशील या सुयोग्य भिक्खु संघ को इस प्रकार संबोधन करे—

"पूज्य संघ श्रवण करे। जिस समय इस विषय पर विचार हो रहा था, उस समय हम लोगों में अनर्गल भाषण होने

* चुल्लवग्ग ४. ४. १९. (उब्बहिका = सं० उद्वाहिका)

लगे और किसी कथन का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता था। यदि पूज्य संघ को समय मिले, तो वह अमुक अमुक भिक्खुओं की एक कमेटी या उपसमिति नियत कर दे। यही ञत्ति है आदि* ।

"हे भिक्खुओ, यदि वे भिक्खु लोग अपनी कमेटी या उपसमिति द्वारा उस विषय का निर्णय करने में समर्थ न हों, तो हे भिक्खुओ, उन भिक्खुओं को उचित है कि वे उस विषय को यह कहकर संघ को सौंप दें कि हे सज्जनो, हम लोग अपनी उपसमिति में इस विषय का निर्णय करने में असमर्थ हैं। इसका निर्णय संघ कर ले।

"हे भिक्खुओ, मैं तुम्हें इस बात का भी अधिकार देता हूँ कि तुम लोग ऐसे विषय का निर्णय बहुमत अथवा बहुतर सम्मति से कर लो† ।"

जब कोई विषय किसी अधिक बड़ी संस्था या समूह को सौंपा जाता था, तब भी इसी सिद्धांत के अनुसार कार्य होता था।

"परंतु हे महाशयो, यदि आप लोग ऐसा न कर सकें, तो फिर इस विषय का निर्णय करने का अधिकार हम लोगों के ही हाथों में रहेगा‡ ।"

एक उदाहरण और लीजिए।

---

* चुल्लवग्ग ४. ४. २०.

† चुल्लवग्ग ४. ९. २४.

‡ चुल्लवग्ग ४. ४. १८.

"इस कानून संबंधी प्रश्न पर विचार करने के लिये संघ के सब सदस्य एकत्र हुए। पर जिस समय वे लोग उस प्रश्न की मीमांसा कर रहे थे, उस समय बहुत से अनर्गल भाषण हुए और किसी भाषण का कुछ स्पष्ट अभिप्राय भी नहीं समझ में आया। तब पूज्य रेवत ने संघ के सामने एक प्रतिज्ञा उपस्थित की :

"यदि संघ को यह बात अभीष्ट हो तो संघ इस कानूनी प्रश्न का निर्णय (ज्यूरी से) पूछकर (या उसके परामर्शानुसार) करे।

"और तब उन्होंने चार भिक्खु पूर्व के और चार भिक्खु पश्चिम के चुने......। 'आदरणीय संघ श्रवण करे। जब हम लोग इस विषय की मीमांसा कर रहे थे, उस समय हम लोगों के समक्ष अनेक अनर्गल भाषण हुए। यदि संघ को अभीष्ट हो तो इस प्रश्न की मीमांसा के लिये यह संघ चार भिक्खु पूर्व के और चार भिक्खु पश्चिम के नियुक्त करे। पूज्य उपस्थित लोगों में से......जिसे स्वीकृत न हो वह बोले। प्रतिनिधियों की यह नियुक्ति की जाती है। संघ इससे सहमत है; इसी लिये वह मौन है। यही मैं समझता हूँ*'।"

§ १११. इस प्रणाली के द्वारा जो निर्णय होता था, उसे सम्मुख विनय अथवा सामने होनेवाली कार्रवाई कहते थे। इस प्रकार जो प्रतिनिधि चुने जाते थे, वे नियमानुसार सब लोगों के प्रतिनिधि समझे जाते थे; और इसी लिये यह भी माना जाता था कि मानों सभी दलों के लोग तत्संबंधी वाद-विवाद में सम्मिलित हैं।

---

* चुल्लवग्ग १२. २. ७-८.

"हे भिक्खुओ, यदि ये सब भिक्खु आपस में मिलकर इस प्रश्न की मीमांसा करने में समर्थ हों, तो हे भिक्खुओ, यही माना जायगा कि इस प्रश्न का निराकरण हो गया। और वह निराकरण कैसे हुआ? सम्मुख विनय के द्वारा हुआ। और इस सम्मुख विनय का क्या अभिप्राय है? यही कि इसमें धम्म भी प्रतिनिधि रूप से उपस्थित है, विनय भी प्रतिनिधि रूप से उपस्थित है और विशिष्ट व्यक्ति भी प्रतिनिधि रूप से उपस्थित है*।"

प्रतिनिधित्व का सिद्धांत

§ ११२. यदि समूह या संघ की निर्धारित की हुई प्रणालियों में से किसी प्रणाली के द्वारा एक बार किसी प्रश्न का निराकरण हो जाता था, तो वह प्रश्न फिर से नहीं उठाया जा सकता था†। यह माना जाता था कि जो कुछ निर्णय हो गया, वह अच्छा ही हुआ।

निर्णय स्थायी होता था

§ ११३. चुल्लवग्ग ४. १४. ६. से विदित होता है कि यदि कोई सदस्य वाद-विवाद के समय अपने आप को वश में नहीं रख सकता था और अपने भाषण में परस्पर विरोधी, भद्दी अथवा इसी प्रकार की और कोई अनुचित बात कहता था, तो उसके संबंध में निंदात्मक प्रस्ताव भी उपस्थित किया जा सकता था।

निंदात्मक प्रस्ताव

* चुल्लवग्ग ४. ४. १४-२१. S. B. E. २०. पृ० ५२.

† चुल्लवग्ग. ४, २४. २५.

जिस प्रश्न का एक बार निराकरण हो जाता था, उसे फिर से उठाना भी अपराध समझा जाता था। "हे भिक्खुओ, जब कि कानून संबंधी किसी प्रश्न का इस प्रकार निराकरण हो चुका हो, तब यदि कोई पक्ष उस प्रश्न को फिर से उठाना चाहे, तो प्रश्न को इस प्रकार उठाना 'पचित्तिय' है।"

यदि किसी ऐसे समूह में, जिसका संघटन ठीक ढंग से नहीं हुआ होता था, कोई काम हो जाता था, तो उसके उपरांत एकत्र होनेवाले अधिक पूर्ण समूह को यह अधिकार नहीं होता था कि वह उस पहले समूह को किसी प्रकार का दंड दे सके अथवा उससे हरजाना ले सके। जान पड़ता है कि कुछ लोगों की सम्मति इसके विरुद्ध भी थी। परंतु बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने इस प्रकार के हरजाने या दंड (अनुमतिकप्पो) को पूर्ण रूप से अस्वीकृत और त्यक्त ही कर दिया था।

हरजाना या दंड

§ ११४. इन समूहों वा अधिवेशनों में लेखक भी हुआ करते थे जो कभी अपना स्थान नहीं छोड़ते थे और सब प्रकार की प्रतिज्ञाएँ और निर्णय आदि लिखा करते थे। एक बौद्ध सुत्तंत, महागोविंद, में, जिसका उल्लेख अभी हम आगे चलकर करेंगे, सुधम्म सभा में होनेवाली देवताओं की एक सभा का वर्णन है। देवताओं (सदस्यों) की पंक्तियों के ठीक बाहर चारों कोनों पर और उप-देवताओं (दर्शकों) के सामने चार कार्य-विवरण लिखनेवाले,

अधिवेशनों के लेखक

जिनमें से प्रत्येक महाराज उपाधिधारी था, अपने निश्चित स्थान पर बैठे हुए थे। ये चारों महाराज उस विषय के सब भाषणों तथा प्रतिज्ञाओं आदि को लिखनेवाले थे

'जिसके लिये तावतिंश देवता एकत्र होकर सुधम्म सभा में बैठे थे और आपस में परामर्श करके निर्णय करते थे।'

"वे चारों लिखनेवाले महाराज तब तक बराबर अपने स्थान पर बैठे रहे और वहाँ से नहीं उठे*।"

दीर्घ निकाय के विद्वान् अनुवादक ने इस संबंध में यह बहुत ठीक समझा था कि ये चारों महाराज सब प्रकार के भाषणों को लिख लेनेवाले समझे जाते थे। वे अधिवेशनों के कार्यविवरण लिखा करते थे†। साधारणतः लोग अपनी संस्थाओं आदि का आरोप देवताओं में किया करते हैं; अतः इससे सहज में यह परिणाम निकाला जा सकता है कि महात्मा बुद्ध के समय में भारतवासी अपनी पार्लिमेंटों या

---

* महागोविन्द सुत्त; दीघ निकाय १६, § १४. पाली टेक्स्ट सोसायटीवाला संस्करण, खंड २. पृ० २२०-२५. येन अत्थेन देवा तवातिंशा सुधाम्माया सभयम् सन्निसिन्ना होन्ति सन्निपतिता तं अत्थम् चिन्तयित्वा तं अत्थम् मन्तयित्वा वुत्त -वचनं पि तं चत्तारो से महाराजा तस्मिन् अत्थे होन्ति, पच्छनुसिट्ठा वचना पि तं चत्तारो महाराजा तस्मिन् अत्थे होन्ति सकेसु आसनेसु थिता अविप्पकन्ता।

† र्‌हीस डेविड्स कृत Dialogues of the Budha, भाग २. (Sacred Books of the Budhists Vol. III) पृ० २६३—४ नोट।

धर्म्मसभाओं में, जैसा कि प्रोफेसर र्‌हीस डेविड्स ने अभी बतलाया है, कार्य-विवरण लिखनेवाले लेखक रखा करते थे* ।

यह तो निश्चित ही है कि 'दंड संबंधी प्रस्ताव' और इसी प्रकार के दूसरे 'कानून' और 'निर्णय' आदि, जो धर्मसभाओं में स्वीकृत होते थे, लिख लिए जाते थे; और हम यह भी जानते हैं कि लिच्छवी लोग न्याय विभाग का अथवा अदालती बातों का पूरा पूरा विवरण रखा करते थे। प्रजातंत्री गणों के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती थी, इसलिये उनमें एक से अधिक लेखकों की भी आवश्यकता होती थी। उपस्थित सदस्य अपने अपने आसन पर से भाषण किया करते थे; और जो लेखक उस विभाग के समीप हुआ करते थे, वे उन भाषणों को लिख लिया करते थे। यह भी प्रत्यक्ष ही है कि इन सभाओं के लेखक अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष हुआ करते थे।

शब्दों और कार्यप्रणाली का ऐतिहासिक महत्व

§ ११५. ईसा से छः शताब्दी पहले सुदूर भूत का जो यह दृश्य प्रस्तुत किया गया है, उससे यह बात स्पष्ट रूप से जान पड़ती है कि उस समय की अवस्था बहुत ही उन्नत और विकसित थी। पारिभाषिक शब्द भी थे और निश्चित या बँधी हुई भाषा भी थी; और साथ ही बहुत उच्च कोटि के संघटन और

* र्‌हीस डेविड्स के Dialogues of the Budha में यह भी लिखा है—'धर्म्म सभाओं के अधिवेशनों में इस प्रकार के कार्य्यविवरण-लेखक अवश्य रहा करते होंगे'।

कानून या नियम की पाबंदी के भाव भी रहते थे। इसे देखते ही यह ध्यान आता है कि इस संबंध में लोगों का शताब्दियों पहले का अनुभव होगा। ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा, गणपूर्त्ति, शलाका, बहुतर या बहुमत और सम्मुख विनय आदि शब्दों का बुद्ध ने बिना किसी प्रकार की व्याख्या के उल्लेख किया है; और इस प्रकार उल्लेख किया है जिससे सूचित होता है कि ये सब पारिभाषिक शब्द उस समय लोगों में अच्छी तरह प्रचलित थे।

जातक और छंदक

§ ११६. जातकों को, जो कि बुद्ध के समय से भी पहले के हैं, देखने से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि राजनीतिक विषयों में छंदक या वोट लेने की प्रथा शाक्य मुनि के जन्म धारण करने से भी पहले से ही प्रचलित थी। जातक खंड १ (पृ० ३९९)* में इस बात का वर्णन है कि एक नगर के खाली राजसिंहासन के लिये राजा का किस प्रकार चुनाव हुआ। सब मंत्रियों और राजनगर की सभा के सदस्यों अथवा राजनगर के निवासियों या नागरिकों ने छंद प्रदान द्वारा एकमत होकर (एकछंदाहुत्वा) अपने नए राजा का निर्वाचन किया। इसमें नगर के सभी निवासियों की सम्मति ली गई थी जिसे अँगरेजी में Referendum कहते हैं। इसमें नगर की केवल सभा के ही सदस्यों की सम्मति नहीं ली गई थी, क्योंकि पाली भाषा में नगर की सभा के लिये नेगम शब्द है, (देखो आगे सत्ताइसवाँ

---

* फास्बोल का संस्करण।

प्रकरण) बल्कि सभी नगरनिवासियों की सम्मति ली गई थी। सारे शहर (सकल नगर) की वोट द्वारा सम्मति (छंदक) लेने की प्रथा बहुत पहले से थी; और आरंभिक बौद्ध साहित्य में उसका उल्लेख मिलता है, जिसके आधार पर जातकों की टीका हुई है। पाली में वोट देने को छंद कहते हैं; और किसी नगर-राज्य में यदि वहाँ के समस्त निवासियों की सम्मति (छंदक) ली जाय, तो उसका मतलब वही होगा जो आजकल के अँगरेजी शब्द Referendum का होता है।

जो हो, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि जातकों में राजा के निर्वाचन के संबंध में जो सारे नगर की सम्मति लेने का वर्णन है, वह बुद्ध के समय से पहले का है। जातक भाग २, पृ० ३५२–३ में एक और वाक्य है जिससे यह प्रमाणित होता है कि राजनीतिक विषयों में किसी प्रस्ताव या प्रतिज्ञा को सभा या समूह के सामने तीन बार उपस्थित करने की प्रथा बुद्ध के समय से पहले ही से प्रचलित थी। इस कारखाई का वर्णन एक हास्यपूर्ण कहानी में आता है, जिससे यह पता चलता है कि सर्वसाधारण यह बात बहुत अच्छी तरह से जानते थे—इतनी अच्छी तरह से जानते थे कि वे उसका इस रूप में उल्लेख करते थे। उस कहानी में यह आया है कि एक चिड़िया किसी राजा के, जो स्पष्ट ही प्रजातंत्री राज्य का राजा है, चुनाव के लिये प्रतिज्ञा कहकर दोहराती है। जब वह चिड़िया अपनी प्रतिज्ञा दो बार दोहरा चुकी, तब समूह के दूसरे सदस्य ने

उसका विरोध किया। प्रतिज्ञा का विरोध करनेवाले ने कहा—जरा ठहर जाओ। और उसने विरोध में कुछ कहने की आज्ञा माँगी। वह आज्ञा उसे इस शर्त्त पर मिली कि वह अर्थ और धर्म के सिद्धांतों के संबंध में अपनी युक्तियाँ उपस्थित करे। इस पर उस भाषण करनेवाले ने अपनी युक्तियाँ बतलाईं और उसका विरोध सब लोगों ने स्वीकृत कर लिया। उसका विरोध प्रसिद्ध प्रजातंत्री आधार पर था; और वह आधार यह था कि जिस राजा* के लिये प्रस्ताव किया गया है, उसकी आकृति मनोहर नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि यह प्रजातंत्री निर्वाचन के उस सिद्धांत की केवल नकल ही उतारी गई है जिसमें अन्यान्य आधारों के अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान रखा जाता है कि चुना जानेवाला राजा देखने में सुंदर और रूपवान् हो। परंतु इस नकल और परिहास में जो काररवाई बतलाई गई है, वह हमारे सिद्धांत की पुष्टि करती है। यह काररवाई मुख्यत: प्रजातंत्र ही से संबंध रखती है। बौद्ध धर्म के साथ उसका संबंध बाद में स्थापित किया गया है और वह संबंध गौण ही है।

जब जब अपने संघ के संघटन में कुछ विशिष्ट अवस्थाएँ उत्पन्न होती थीं, तब तब बुद्ध भगवान् कार्य निर्वाह के उन्हीं नियमों आदि का अवलंबन करते थे जो पहले से चले आते थे। स्वयं उनका जन्म एक प्रजातंत्री राज्य में हुआ था और

* उल्लू।

वहीं के वे रहनेवाले थे। इसके अतिरिक्त उनका जीवन भी प्रजातंत्री समाजों में ही व्यतीत हुआ था। वे उन प्रजातंत्रों की कार्य-प्रणालियों से भली भाँति परिचित थे और उन्हें उन्होंने अपने संघ के हित के विचार से ग्रहण किया था। वे धार्मिक ढंग से एक बड़ा राज्य बल्कि साम्राज्य (धर्मचक्र) स्थापित करना चाहते थे; परंतु अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये उन्होंने जो संघटन स्थापित किया था, वह वर्गीय ही था। परंतु वह संघटन धर्मचक्र स्थापित करने के लिये उपयुक्त नहीं था, बल्कि धर्म का एक नगर-राज्य स्थापित करने के ही उपयुक्त था। उनके कार्य की सीमा जो इस प्रकार संकुचित हो गई थी, उसका कारण उनके आरंभिक जीवन का संस्कार था। उनका जन्म एक ऐसे प्रजातंत्र में हुआ था जिसमें अपने समकालीन अन्य राज्यों की अपेक्षा राजनीतिक तथा सार्वजनिक भावों की विशेष प्रबलता थी; और इसी लिये उनमें एक शांत त्यागी के योग्य उत्साह और आकांक्षाएँ नहीं थीं, बल्कि एक प्रजातंत्री राजा तथा विजेता के उपयुक्त गुण और आकांक्षाएँ आदि थीं*। साधारण हिंदू संन्यासियों के विपरीत वे अपने संघ के

---

* व्यक्तिगत विषयों में भी बुद्ध भगवान् वही सनातन संकुचित भाव प्रकट किया करते थे जो उनमें आरंभिक संस्कारों के कारण उत्पन्न हुए थे। वे संसारत्यागी हो जाने पर भी अपने इक्ष्वाकुवंशी होने का अभिमान किया करते थे। ब्राह्मण कृष्णायन से, जिसने उन्हें शाक्य कहकर अपमानित किया था, उन्होंने कहा था कि वह (कृष्णायन) इक्ष्वाकु की एक दासी का वंशधर था। उन्होंने कहा था—'यदि तुम

लिये संपत्ति पर अधिकार करते थे, अधिवेशन करते थे, प्रस्ताव स्वीकृत करते थे और अपराधियों को दंड देते थे। वे अपने सभी आध्यात्मिक कृत्यों में प्रजातंत्री शाक्य थे; और उनकी सारी व्यवस्था में संघटित आध्यात्मिक प्रचार या विजय-प्राप्ति का भाव भरा हुआ था। अपने आध्यात्मिक उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिये उन्हें अपने धर्म संघ को स्थायी करना था—अपने धर्म के प्रजातंत्र को स्थायी बनाना था; और इसी लिये उन्हें राजनीतिक प्रजातंत्रों की शासन-संबंधी कार्य-प्रणालियों तथा संघटन को ग्रहण करना पड़ा था।

मेरे इस कथन का स्पष्ट उत्तर नहीं दोगे, तो इसी जगह तुम्हारे सिर के टुकड़े टुकड़े उड़ा दिए जायँगे।' अंबट्ठ सुत्त, २०, र्हीस डेविड्स कृत Dialogues १, ११४-११६.

बारहवाँ प्रकरण

छंदाधिकार और नागरिकता

§ ११७. जिन कुल-प्रजातंत्रों में केवल बड़े बड़े सरदारों और प्रधान पुरुषों का ही शासन हुआ करता था, उनमें छंद अथवा मत प्रदान करने का अधिकार केवल कुल अर्थात् हिंदू कुल के आधार पर ही निर्भर करता था। महाभारत में जो यह लिखा हुआ है कि गण में कुल और जाति* के विचार से समानता होती है, उससे यही ध्वनि निकलती है। जाति और कुल के विचार से जो समानता होती थी, उसी के आधार पर हिंदू प्रजातंत्र के अंतर्गत राजकार्य संबंधी समानता भी स्थित थी। संघ में का प्रत्येक स्वतंत्र मनुष्य जाति के विचार से समान होता था और राजनीतिक कार्यों के लिये सब कुल समान माने जाते थे। पाली त्रिपिटक में भी एक ऐसा वाक्य आया है, जिससे यह सिद्ध होता

छंदाधिकार का आधार

* देखो चौदहवाँ प्रकरण। जाति का वास्तविक अर्थ जन्म ही है, वर्ग नहीं। जैसा कि हम बतला चुके हैं, प्रजातंत्रों में सभी वर्गों के लोग हुआ करते थे। संभवतः इस जाति या जन्म का अभिप्राय यह है कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र रहा हो, दास के घर में जन्मा हुआ न हो। वैदिक 'सजात' शब्द से मिलान करो। देखो पचीसवाँ प्रकरण।

है कि छंद या मत प्रदान करने का अधिकार कुल के विचार से ही प्राप्त होता था*। बुद्ध ने लिच्छवियों के पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा था कि कुलपुत्त उन्नति करके किसी राज्य के शासक हो सकते हैं, राष्ट्रिक या पैत्तनिक हो सकते हैं, सेनापति हो सकते हैं या किसी नगर के निर्वाचित राजा या सभापति (गामगामणिक—किसी ग्राम के प्रधान अधिकारी) या शिल्प संबंधी किसी गण या संघ के सभापति (पूगगामणिक) हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन सब पदों के लिये अधिकारियों का निर्वाचन हुआ करता था और किसी गण राज्य में एक कुलपुत्त इनमें से प्रत्येक पद के लिये निर्वाचित हो सकता था। इसके अतिरिक्त एक छठा कार्य और बतलाया गया है और वह उस कुल राज्य के संबंध में है जिसका हम अभी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। वह कार्य है—'पारी पारी से दूसरे शासकों पर प्रधान शासक होना'†। धर्मशास्त्रकार कात्यायन का कथन है कि गण कुलों का समूह है‡। कुल-राज्यों तथा कुल-प्रजातंत्रों में राजनीतिक अधिकारों आदि का आधार कुल या वंश ही था। परंतु यह नियम उन राज्यों में नहीं हो सकता था, जिन्हें यूनानियों ने

---

* देखो पहले पृ० १४३ का दूसरा नोट।

† कुलेसु पच्चेकाधिपच्चं। अंगुत्तर निकाय, खंड ३. पृ० ७६.

‡ कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्परिकीर्त्तितः। वीरमित्रोदय पृ० ४२६.

प्रजातंत्र या Democracies कहा है। उनमें जन्म या जाति के विचार से प्रत्येक व्यक्ति समान होता था। कठों और सौभूतों की शासन-प्रणालियों में मत अथवा छंद प्रदान करने का अधिकार केवल जन्म के ही आधार पर प्राप्त होता होगा; क्योंकि उन लोगों में राजा का निर्वाचन केवल व्यक्तिगत गुणों के ही विचार से हुआ करता था, कुल आदि का कोई विचार नहीं होता था; और राज्य का मुख्य ध्यान इसी बात पर रहता था कि सब प्रकार से सब व्यक्तियों की उन्नति हो। शाक्यों की सभा में हमें छोटे बड़े सभी एकत्र दिखाई देते हैं; और वृष्णियों के संघ में पिता, पुत्र और उसके छोटे भाई (कृष्ण, प्रद्युम्न और गद) सब को मत या छंद प्रदान करने का अधिकार था। (§ १९७.)

प्रजातंत्रों में विदेशी भी नागरिकता का अधिकार प्राप्त करते थे

§ ११८. पाणिनि ने शब्दों के ऐसे ऐसे रूप बनाने के नियम दिए हैं जिनसे यह सूचित होता हो कि किसी व्यक्ति का जन्म किस देश का है (४. ३. ९०*), वह इस समय कहाँ का निवासी है (४. ३. ८९.†), और वह किस विशिष्ट देश, वर्ग (tribe) शासक या जनपद के अधिकारी प्रजातंत्री शासक‡ के प्रति भक्ति रखता है। पतंजलि ने जो उदा-

---

* अभिजनश्च। ४। ३। ९०॥

† सोऽस्य निवासः। ४। ३। ८९॥

‡ पाणिनि, ४.३. ९५—१००; भक्तिः॥९५॥ अचित्ताददेशकाला-

हरण दिए हैं, उनमें से एक उदाहरण ग्लौचुकायनकों का भी है, जिनके राज्य का पता हमें यूनानी लेखकों से लगता है*। वे ग्लुचुकायन के प्रति भक्ति रखते हैं, इसलियें वे ग्लौचुकायन कहलाते हैं। पाणिनि के एक नियम का संशोधन करते हुए कात्यायन ने मद्रों और वृजियों के प्रजातन्त्री उदाहरण दिए हैं†। मद्र का भक्त मद्रक कहलावेगा; और जो वृजी के प्रति भक्ति रखेगा, वह वृजिक कहा जायगा। यहाँ भक्ति का अभिप्राय राजभक्ति या राजकीय दृष्टि से प्रभुत्व की स्वीकृति है।

भक्ति का मुख्य अर्थ है—भाग या विभाग करना; और गौण अर्थ है—अनुराग या मन की प्रवृत्ति। किसी व्यक्ति का जन्म-स्थान या निवासस्थान सूचित करनेवाले नाम बनाने के जो नियम

ठक् ॥ ९६ ॥ महाराजाट्ठञ् ॥ ९७ ॥ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ॥ ९८ ॥ गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् ॥ ९९ ॥ जनपदिनां जनपदवत्सर्वंजनपदेन समानशब्दानां बहुवचने ॥ १०० ॥

सूत्र ९६ में भक्ति के व्यवहार में पक्षपात और राजभक्ति का अंतर बतलाया गया है। मिलाओ काशिका (३४३); इसमें "अचित्त" शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। दूध की ओर प्रवृत्ति होना "अचित्त" भक्ति है; पर राजनीतिक भक्ति मन की वह अवस्था है जो बहुत समझ बूझ और विचार के उपरांत होती है।

* देखो ऊपर पृ० १२७।

† पाणिनि ४. ३. १००. सर्ववचनं प्रकृतिनिर्ह्रासार्थम् ॥ १ ॥ तच्च मद्रवृज्यर्थम् ॥ २ ॥ पतंजलि—माद्रो भक्तिरस्य माद्रौ वा भक्तिरस्य मद्रक इत्येव यथा स्यात् वार्ज्यो भक्तिरस्य वार्ज्यौ वा भक्तिरस्य वृजिक इत्येव यथा स्यात्। महाभाष्य, खण्ड २; पृ० ३१४—१५.

दिए गए हैं, उनके अतिरिक्त ऐसे नियम भी हैं जिनसे यह सूचित करनेवाले नाम बनाए जाते हैं कि कोई व्यक्ति किस देश अथवा राज्य के प्रति भक्ति रखता है और जिससे यह सिद्ध होता है कि उन दिनों लोगों में कृत्रिम नागरिकता का भी भाव होता था। मद्र या वृजि के प्रति भक्ति रखने के कारण व्यक्ति मद्रक या वृजिक कहलाता था। अतः यदि कोई वृजिक होता था, तो उसके लिये यह आवश्यक नहीं था कि वह जन्म से ही वृजि हो अथवा यदि मद्रक हो, तो जन्म से ही मद्र हो। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवी संघों का उल्लेख करते हुए वृजिक और मद्रक रूपों का ही व्यवहार किया है। जैन सूत्र में भी मल्लक (ि) और लेच्छवि (क) रूप ही आए हैं। वृजिकों में वृजि और अ-वृजि दोनों ही होते थे, पर दोनों वृजि के प्रति भक्ति रखते थे; और इन अ-वृजियों में वे लोग भी हो सकते थे, जिन पर आरंभ में वृजियों ने विजय प्राप्त की थी अथवा जो लोग स्वेच्छापूर्वक आकर वृजियों में मिल गए थे।

इससे यह बात प्रमाणित होती है कि प्रजातंत्रों में विदेशियों या बाहरवालों को भी नागरिकता के अधिकार प्रदान किए जाते थे। इससे यह बात भी खुल जाती है कि मालवों और यौधेयों का, जिनके अधिकार में पिछली शताब्दियों में बहुत अधिक विस्तृत प्रदेश आ गए थे, सीमा और वर्ग की दृष्टि से इतना अधिक विस्तार क्यों और कैसे हो गया था।

[§ ११९. भारतीय तथा युरोपियन संस्कृतज्ञों ने पाणिनि के वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४. ३. ९८.) के आधार पर एक तर्क खड़ा किया है। इसके आधार पर यह कहा जाता है कि पाणिनि के समय में और उससे पहले लोग वासुदेव की पूजा किया करते थे। परंतु मूल पाठ से प्रकट होता है कि वहाँ धार्मिक भक्ति से अभिप्राय नहीं है। यहाँ पाणिनि का अभिप्राय राजनीतिक भक्ति या शासन-विधान के प्रति होनेवाली भक्ति से है। उदाहरण के लिये ४. ३. १००. में आई हुई जनपदों के अधिकारियों या स्वामियों के प्रति होनेवाली भक्ति को लीजिए। अवश्य ही जनपदों के इन अधिकारियों या स्वामियों का कभी पूजन नहीं होता था। इसके अतिरिक्त इससे पहलेवाला सूत्र ४.३.९७. लीजिए जिसमें महाराज के प्रति भक्ति का उल्लेख है। कोई यह नहीं कह सकता कि महाराज की, चाहे वह व्यक्ति हो और चाहे देश हो, कोई पूजा करता था। फिर हमें इसके पहले के और सूत्रों का भी विचार करना चाहिए, जिनमें सिंधु, तक्षशिला, और शलातुर आदि के संबंध में किसी व्यक्ति के अभिजन या जन्म-स्थान और उसके विपरीत उसके निवास अथवा रहने के देश के संबंध में विवेचन किया गया है। इन सब में कहीं धार्मिक भक्ति का पता ही नहीं है। और फिर विद्वानों ने वासुदेव शब्द पर तो विचार किया है, पर उसी सूत्र में वासुदेव के साथ ही जो अर्जुन शब्द आया है, उस पर उन्होंने कोई

अर्जुन के प्रति भक्ति

ध्यान ही नहीं दिया। इस बात का कोई प्रमाण ही नहीं है कि अर्जुन को भी लोगों ने देवता बना डाला था। इन दोनों क्षत्रियों के प्रति जो भक्ति बतलाई गई है, वह राजनीतिक भक्ति है। जिस प्रकार कात्यायन (कीलहार्न, भाग २. पृ० २९५.) ने वासुदेव के वर्ग का उल्लेख किया है, उसी प्रकार जान पड़ता है कि साहित्य में वासुदेव और अर्जुन के प्रति राजनीतिक भक्ति रखनेवालों का दल प्रसिद्ध हो गया होगा। पाणिनि में एक सूत्र (४.३.९९.) आया है जिसमें क्षत्रिय शासक के नाम के प्रति भक्ति रखनेवालों की संज्ञा का रूप बनाने का विधान किया गया है। पतंजलि की समझ में यह बात नहीं आई थी कि जब यह सूत्र आ ही चुका है, तब फिर वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् वाला एक अलग सूत्र देने की क्या आवश्यकता थी। उसने लिखा है—

"गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् (४.३.९९) इत्येव सिद्धम्। न ह्यस्ति विशेषो वासुदेवशब्दाद्वुनो वा वुञो वा। तदेव रूपं स एव स्वरः। इदं तर्हि प्रयोजनं वासुदेवशब्दस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामीति। अथवा नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्र भवतः।"

इससे सिद्ध होता है कि पतंजलि ने यहाँ इतनी बात तो अवश्य समझ ली है कि पाणिनि के ४. ३. ९८. वाले सूत्र में वासुदेव और अर्जुन के प्रति जिस भक्ति का उल्लेख है, वह उन्हें क्षत्रिय शासक मानकर की जानेवाली भक्ति है, देवता मानकर की जानेवाली भक्ति नहीं है। परंतु उसकी

समझ में यह नहीं आया है कि यह सूत्र अलग देने की क्या आवश्यकता थी। पतंजलि की घबराहट का कारण यह जान पड़ता है कि उसने भ्रम से कात्यायन के 'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्' वाले वार्तिक को पाणिनि का एक सूत्र ही समझ लिया है; और इसी से यह गड़बड़ी हुई है। वास्तव में बात यह है कि 'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्' सूत्र नहीं है, बल्कि पाणिनि के सूत्र ४. २. १०४. का वार्तिक (अंक १८, कीलहार्न पृ० २९६.) है। यह संभव नहीं है कि एक ही नियम कात्यायन का वार्तिक भी हो और पाणिनि का सूत्र भी हो। यह वार्तिक के रूप में आया है और इसे वार्तिक के रूप में ग्रहण करने से भाव स्पष्ट हो जाता है। प्रसिद्ध क्षत्रिय शासकों के प्रति होनेवाली भक्ति के संबंध में एक साधारण नियम देकर कात्यायन ने मानों पाणिनि में होनेवाली त्रुटि पूरी कर दी है।]

तेरहवाँ प्रकरण

प्रजातंत्रों की न्याय-व्यवस्था और कानून

§ १२०. हिंदुओं के धर्मशास्त्रों में कुल-राज्यों के भी कानून, नियम या धर्म मान्य किए गए हैं और गणों के भी*। कुल-न्यायालय में कुलिक अथवा उच्च कुलों के सरदार न्यायाधीश हुआ करते थे†। जहाँ कुल-शासन और

---

* याज्ञवल्क्य, १, ३६०; २, १८६.

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ।

स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ १ । ३६० ॥

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।

सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥ २ । १८६ ॥

इसके अतिरिक्त देखो—ग्रामश्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया ।

(वीरमित्रोदय, पृ० ४२४ में उद्धृत बृहस्पति का वाक्य ।)

और मनु, ८, ४१;

जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।

समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ८ । ४१ ॥

† राजपाल, जिसके नाम पर पाली त्रिपिटक में एक निकाय है, स्वयं एक कुलपुत्त था और एक अग्गकुलिक का पुत्र था । साथ ही देखो—

कुलिकास्सार्थमुख्याश्च पुरग्रामनिवासिनः ।

ग्रामपौरगणश्रेण्यश्चातुर्विद्यश्च वर्गिणः ।

कुलानि कुलिकाश्चैव नियुक्ता नृपतिस्तथा ॥

(वीरमित्रोदय, पृ० ११ टीका—कुलिकाः कुलश्रेष्ठाः ।

प्रजातंत्र दोनों की मिश्रित शासन-प्रणाली होती थी, वहाँ भी हमें कुलिक न्यायालय मिलेगा। इस प्रकार का न्यायालय हमें वृजियों में मिलता है, जिनमें फौजदारी मुकदमों की जाँच करने के लिये आठ कुलिकों का एक समूह या बोर्ड होता था*। धर्मशास्त्रों में इस बात का विधान है कि कुल-न्यायालय के निर्णय के उपरांत उसकी अपील गण न्यायालय में होनी चाहिए†। यह बात हमारी समझ में तभी आ सकती है, जब कि हम यह मान लें कि एक ऐसी मिश्रित शासन-प्रणाली भी होती थी, जिसमें कुल शासन भी होता था और प्रजातंत्र शासन भी। जिस देश में इस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित होगी, उसमें कुलिक न्यायालय तो होगा, पर वह गण की अधीनता में और उसके मातहत होगा। वृजि शासन-प्रणाली में कुलिक न्यायालय वहाँ के गण के तीन प्रधान अधिकारियों—सेनापति, उपराज और राजा—की अधीनता और मातहती में था। महाभारत में कहा गया है कि फौजदारी के मुकदमों पर विचार करना कुल-वृद्धों का धर्म या कर्तव्य है; और न्याय सभापति या प्रधान के द्वारा

---

* देखो ऊपर § ४६-५०, मिलाओ कात्यायन (वीरमित्रोदय पृ० ४१ में उद्धृत)।

वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम्, जिसमें 'कुल' न्यायालय के अर्थ में आया है।

† देखो आगे पृ० २०३ का तीसरा नोट।

होना चाहिए; अर्थात् दंड सभापति या गण के प्रधान शासक के नाम से दिया जाना चाहिए* । जान पड़ता है कि वृजियों में यही हुआ करता था । एकराज शासन-प्रणाली की भाँति गण में भी शिल्पियों आदि की संघटित संस्थाएँ हुआ करती थीं† । इन संस्थाओं को, जिन्हें उस समय पूग कहते थे, न्याय संबंधी कुछ अधिकार भी प्राप्त होते थे । परंतु उनके जो निर्णय हुआ करते थे, उनकी अपील कुल तथा गण के न्यायालयों में हो सकती थी‡ ।

जब गणों पर एकराजों ने विजय प्राप्त कर ली और वे एकराज शासन-प्रणाली के अधीन हो गए, जैसा कि परवर्ती धर्मशास्त्री नारद, बृहस्पति और कात्यायन के समय में हुआ था, तब यह नियम बन गया था कि गण के निर्णय की

---

* देखो आगे चौदहवाँ प्रकरण ।

† अंगुत्तर निकाय, खण्ड ३, पृ० ७६, देखो ऊपर § ११७.

‡ कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः प्रोक्तनिर्णयकारिणः ।
येषामग्रे निश्चितस्य प्रतिष्ठा तूत्तरोत्तरा ॥
विचार्य श्रेणिभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम् ।
गणैश्च श्रेण्यविख्यातं गणाज्ञातन्नियुक्तकैः ॥
कलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः ।
सर्वेषामधिको राजा धर्म्यं यत्नेन निश्चितम् ॥
(वीरमित्रोदय पृ० ४० में उद्धृत बृहस्पति)

ये सब उद्धरण उस समय के संबंध में हैं, जब कि सब गण एकराज्यों के अधीन हो गए थे ।

अपील स्वयं एकराज के न्यायालय में अथवा राजकीय प्रधान न्यायाधीश के न्यायालय में हुआ करे* ।

§ १२१. हिन्दू धर्मशास्त्रों से यह बात प्रमाणित होती है कि गणों के निज के कानून या धर्म हुआ करते थे; क्योंकि जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं, उन धर्मशास्त्रों ने उनका स्वतंत्र अस्तित्व मान्य किया है। यूनानी लेखकों के लेखों से भी, जिन्होंने हिंदू प्रजातंत्रों के कानूनों की प्रशंसा की है, यह बात प्रमाणित होती है। महाभारत में भी इनकी कानून संबंधी व्यवस्था की प्रशंसा की गई है। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि लिच्छवियों में एक लेखा ऐसा भी होता था जिसमें पहले के कानूनी उदाहरण या नजीरें आदि लिखी रहती थीं† ।

धर्मशास्त्रों में गणों के कानूनों को समय कहा गया है‡ । समय का शब्दार्थ होता है—वह निर्णय या प्रस्ताव जो किसी समूह में स्वीकृत या निश्चित हुआ हो। सम्+इ=सभा, जिसमें बहुत से लोग एकत्र हों। अर्थात् गणों के जो नियम होते थे, वे उनकी सभाओं या समूहों में स्वीकृत होते थे।

---

* देखो पृ० १२०२ के नोट और पृ० २०३ का तीसरा नोट।

† र्‌हीस डेविड्स कृत Budhist India पृ० २२. जिन राज्यों में एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित होती थी, उनमें भी इस प्रकार के लेखे रखे जाते थे। देखो जातक भाग ३. पृ० २९२. और जातक भाग ५. पृ० १२५.

‡ वीरमित्रोदय (पृ० ४२३—४२५) में उद्धृत किए हुए नारद और बृहस्पति के उद्धरण।

चौदहवाँ प्रकरण

महाभारत के अनुसार प्रजातंत्रों की मुख्य मुख्य बातें

§ १२२. शांतिपर्व के १०७ वें अध्याय में बतलाया है कि गणों की मुख्य मुख्य बातें अथवा गुण क्या हैं। उस विवेचन में कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनसे यह सूचित होता है कि वे मुख्य मुख्य बातें अथवा गुण बहुत कुछ प्राचीन या आरंभिक काल से संबंध रखते हैं। गणों के विजित होने की बात तो दूर रही, उसमें कहीं इस बात का भी उल्लेख नहीं पाया जाता कि गणों ने कभी एकराजों की अधीनता भी स्वीकृत की थी। अत: महाभारत के उक्त अध्याय में जो कुछ कहा गया है, वह साम्राज्यों के उदय या आरंभ से और पहले के समय के विषय में है।

§ १२३. यह विवेचन बहुत अधिक महत्व का है, इसलिये यहाँ हम ज्यों का त्यों कुल मूल उद्धृत कर देते हैं और साथ ही उसका अनुवाद भी दे देते हैं*। पहले जो अनुवाद या टीकाएँ हुई थीं, वे बहुत ज्यादा गड़बड़ थीं; और उनके गड़बड़ होने का कारण यह है कि उन टीकाओं के टीकाकारों के

---

*. महाभारत का एशियाटिक सोसायटी आफ बंगालवाला संस्करण, शांतिपर्व, अध्याय १०७.

समय से बहुत पहले ही गणों का अस्तित्व नहीं रह गया था और लोग उनका वास्तविक महत्व भूल गए थे।

§१२४. महाभारत के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गण का अभिप्राय समस्त राजनीतिक वर्ग से है और उसके अभाव में पार्लीमेंट से है, केवल शासक-मंडल से उसका अभिप्राय नहीं है। (डाक्टर थामस ने भी इस मत का समर्थन किया है (J. R. A. S. १९१५, पृ० ५३४)। शासक-मंडल में एक प्रधान या सभापति और अनेक गण-मुख्य होते थे; और ये सब लोग मिलकर समाज या लोक का कार्य संचालन करते थे (श्लोक २३*)। राजकीय मंत्र या मंतव्य आदि निश्चित करना भी उन्हीं के अधिकार में था (श्लोक २४)। वे लोग एकत्र होकर सभाएँ या अधिवेशन करते थे और उनमें मंत्रों या मंतव्यों पर विचार करते थे (श्लोक २५)। वे न्याय विभाग की व्यवस्था पर भी ध्यान रखते थे (श्लोक २७)। इस प्रकार शासन कार्य के लिये गण के अंतर्गत एक भिन्न संस्था होती थी।

यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि आठवें श्लोक में गण के बहुत से सदस्य होने का उल्लेख है और चौबीसवें श्लोक में इन सब की समष्टि का उल्लेख है। गण के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती थी, इसलिये मंत्रों या मंतव्यों को गुप्त रखना असंभव होता था। महाभारत के

* गण-मुख्य = संघ-मुख्य; अर्थ-शास्त्र पृ० ३७७. (४०–१)।

कर्त्ता की सम्मति में गण शासन-प्रणाली का यह एक बड़ा दोष था (श्लोक ८ और २४)। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि थोड़े से लोगों की परिमित समष्टि का ही नाम गण नहीं था। अनेक गण मिलकर अपना एक संयुक्त संघ या समूह भी बना लेते थे (श्लोक ११ से १५)। २१ वें श्लोक में इस बात की ओर भी संकेत है कि गणों में विद्या की चर्चा भी यथेष्ट होती थी।

महाभारत में आया है—

गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ६ ॥
यथा गणाः प्रवर्द्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥
भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परन्तप।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

गणानाञ्च कुलानाञ्च राज्ञां भरतसत्तम।
वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥ १० ॥
लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यञ्च विनाशिनौ ॥ ११ ॥
चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः।
क्षयव्ययभयोपायैः कर्षयन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥

तत्राद्दानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।
भिन्ना विमनसः सर्व्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥
भेदे गणा विनश्येयुर्भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥ १४ ॥
अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघात-बल-पौरुषैः ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्व्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥
ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसन्धानाः सुखमेधन्ति सर्व्वशः ॥ १६ ॥
धर्म्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥
पुत्रान् भ्रातॄन् विगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥
चारमन्त्रविधानेषु कोषसन्निचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्द्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥
प्राज्ञान् शूरान्महोत्साहान् कर्म्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्तान् विवर्द्धन्ते गणा नृप ॥ २० ॥
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणाः सन्तारयन्ति ते ॥ २१ ॥
क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥ २२ ॥
तस्मान्मानयितव्यास्ते, गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥

मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चारित्र-कर्षण ।
न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ २४ ॥
गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः ।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥
अर्थाः प्रत्यवसीदंति तथाऽनर्था भवंति च ।
तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ॥ २६ ॥
निग्रहः पंडितैः कार्य्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ।
कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ॥ २७ ॥
गोत्रस्य नाशं कुर्व्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।
आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ॥ २८ ॥
आभ्यंतरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ।
अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वाऽपि स्वभावजात् ॥ २९ ॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत् पराभव-लक्षणम् ।
जात्या च सदृशाः सर्व्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥ ३० ॥
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥ ३१ ॥
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३२ ॥

अनुवाद

युधिष्ठिर ने कहा—(६) "हे मतिमानों में श्रेष्ठ, मैं (अब) गणों की वृत्ति सुनना चाहता हूँ। (७) गण किस प्रकार वर्द्धित होते हैं और किस प्रकार वे (शत्रु द्वारा प्रवर्तित) भेद नीति से बचते हैं। हे भारत, (और किस प्रकार) शत्रुओं पर विजय प्राप्त

करने की कामना करते हैं और अपने सुहृद् या मित्र प्राप्त करते हैं। (८) मेरी समझ में यह आता है कि भेद या फूट ही उनके विनाश का मुख्य कारण है। (और फिर) मेरी समझ में (अपनी) बहु संख्या के कारण अपना मंत्र गुप्त रखने में कठिनता होती है। (९) हे शत्रुओं का दमन करनेवाले, मैं इस विषय में विस्तृत बातें सुनने का आकांक्षी हूँ। हे पार्थिव, मुझे यह भी बतलाओ कि वे किस प्रकार अपने आपको भेद या फूट से बचाते हैं।"

भीष्म ने कहा—(१०) "हे नराधिप, लोभ और अमर्ष (द्वेष) ये दो मुख्य कारण ऐसे हैं जिनसे गणों में परस्पर वैर उत्पन्न होता है; और हे भारतों में श्रेष्ठ, इन्हीं से राजाओं के कुलों* में भी वैर उत्पन्न होता है। (११) पहले गणों या कुलों में लोभ उत्पन्न होता है और उसके अनंतर अमर्ष आता है; और तब इन दोनों के कारण क्षय और व्यय होता है जिससे एक दूसरे का विनाश होता है। (१२) साम, दान और विभेद के द्वारा तथा क्षय, व्यय और भय के दूसरे उपायों का अवलंबन

संभावित हानियाँ

* यहाँ पटल की तरह के कुल-राज्यों से अभिप्राय है; क्योंकि इस समाज में युद्ध के संचालन का भार दो भिन्न भिन्न कुलों के वंशानुक्रमिक राजाओं के हाथ में होता है और सारे राज्य पर वृद्धों के एक मंडल का पूरा पूरा और सर्व-प्रधान अधिकार होता है। (डायोडोरस) इसके अतिरिक्त देखो अर्थशास्त्र पृ० ३५. कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।

करके वे गुप्तचर, गुप्त मंत्रणा और सैनिक बल की सहायता से एक दूसरे को दबाते हैं। (१३) जो अनेक गण अपना एक संघ बना लेते हैं, उनमें इन्हीं उपायों से विभेद या फूट उत्पन्न होती है। भिन्न या विभक्त हो जाने के कारण वे (अपने सार्वजनिक हित की ओर से) विमनस् या उदासीन हो जाते हैं; और अंत में भय के वशवर्ती होकर वे शत्रु के वश में हो जाते हैं। (१४) इस प्रकार विभेद उत्पन्न होने के कारण वे अवश्य विनष्ट होते हैं। अलग अलग हो जाने के कारण शत्रु सहज में उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। अतः गणों को सदा अपनी संघ-शक्ति को बनाए रखना चाहिए*। (१५) संघात बल या सम्मिलित सेना के पौरुष से अर्थ की प्राप्ति होती है; और बाहरी लोग भी संघात वृत्तिवालों से मैत्री करते हैं।

गणों की अच्छी बातें

(१६-१७) "अच्छे गणों में सब परस्पर एक दूसरे की शुश्रूषा करते हैं जिससे ज्ञानवृद्ध उनकी प्रशंसा करते हैं। (एक दूसरे के साथ) पूर्ण उत्तम रीति से व्यव-हार करते रहने के कारण अच्छे गण सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं। जो उत्तम गण होते हैं, वे शास्त्र-सम्मत धर्मपूर्ण व्यवहार स्थापित करने से विवर्द्धित होते हैं और आपस में एक दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार

---

* मिलाओ अर्थशास्त्र पृ० ३७६. संघाभिसंहतत्वादधृष्यान् परेषां तानगुणान् भुंजीत सामदामाभ्याम्। द्विगुणान् (विगुणान् पाठ होना चाहिए) भेददण्डाभ्याम्।

करते हैं। (१८) अच्छे गण इसलिये विवर्द्धित होते हैं कि वे अपने पुत्रों और भ्राताओं (नई पीढ़ी के लोगों और सदस्यों*) को ठीक तरह मर्यादा से रखते हैं और सदा उन्हें विनयी बनने की शिक्षा देते हैं; और (केवल) उन्हीं को ग्रहण करते हैं जो विनीत होते हैं।

(१९) "हे महाबाहु, सदा अपने गुप्तचरों, मंत्र और राज-कोष का सब काम ठीक तरह से करते रहने से गण सदा सब प्रकार से विवर्द्धित होते रहते हैं। (२०) (अपने) प्राज्ञों, शूरों, महोत्साहियों और कर्तव्य के पालन में दृढ़ रहनेवाले राजपुरुषों का सदा उचित मान करते रहने से गण विवर्द्धित होते रहते हैं। (२१) धनवान्, शूर, शास्त्रज्ञ और शास्त्रपारग† गण संकटों और कष्टों में पड़े हुए असहायों (अर्थात् अपने सह-योगियों या सदस्यों) की सहायता करते हैं।

(२२) "क्रोध, भेद, भय, पारस्परिक विश्वास के अभाव, दंड, सैनिक आक्रमण, अत्याचार, निग्रह, पारस्परिक दमन और वध के कारण गण तुरंत ही शत्रु के वश में हो जाते हैं। (२३) अतः गण के प्रधान के द्वारा गणमुख्यों या गण के अच्छे अच्छे

---

* आजकल भी भारतीय पंचायतों और बिरादरियों में सब लोग एक दूसरे को 'भाई' कहकर सम्बोधन करते हैं, जिससे सब की समानता का भाव सूचित होता है।

† जैसा कि हमें अन्यान्य साधनों से भी पता चल चुका है, गणों में होनेवाली विद्या और शास्त्रों की चर्चा का यह स्पष्ट उल्लेख है।

लोगों का मान होना चाहिए—उनकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। हे राजन, लोकयात्रा या समाज के संचालन का अधिकार मुख्यतः उन्हीं के हाथ में रहना चाहिए। (२४) हे शत्रुओं का दमन करनेवाले, मंत्रगुप्ति या राजकीय मंतव्यों को गुप्त रखने का कार्य (विभाग) गणों के प्रधानों के हाथ में रहना चाहिए। हे भारत, गण के सब लोग इन मंत्रों को जान लें, यह बात ठीक नहीं है। (२५) गणमुख्य या गण के नेता एकत्र होकर गणों के हित का कार्य करें।

"जो गण दूसरे गणों से अलग रहता है, गणों के संघात से अपने आप को अलग कर लेता है या दूसरे गणों के साथ व्यवहार में ठीक नहीं रहता, उसकी गति इससे भिन्न या अन्यथा हुआ करती है। (२६) जब वे एक दूसरे से भिन्न या अलग हो जाते हैं और केवल अपनी व्यक्तिगत शक्ति पर ही निर्भर करते हैं, तब उनका अर्थ या वैभव नष्ट हो जाता है और अनर्थ होने लगता है।

(२७) "निग्रह या फौजदारी मुकदमों का न्याय गण के प्रधान के द्वारा (धर्मशास्त्र के) पंडितों के हाथों और ठीक तरह से होना चाहिए। यदि कुलों में कलह उत्पन्न हो और कुल-वृद्ध लोग उसकी उपेक्षा करें—उसकी ओर से उदासीन रहें—तो (२८) वे गोत्र का नाश करते हैं और गण का भी भेद या नाश करते हैं।

"आभ्यंतरिक भय से गण की रक्षा करनी चाहिए; बाह्य भय तो असार है। (२९) क्योंकि हे राजन्, आभ्यंतरिक भय

तुरंत ही मूल या जड़ को काटता है। (३०) जब (किसी गण के सदस्य) अकस्मात् उत्पन्न हो जानेवाले क्रोध, मोह या स्वभावतः उत्पन्न होनेवाले लोभ के कारण आपस में बातचीत या वाद विवाद करना छोड़ दें, तो इसे पराभव का लक्षण समझना चाहिए।

आभ्यंतरिक भय

"(गणों में) जाति की दृष्टि से और कुल* की दृष्टि से भी सब लोग समान होते हैं। (३१) उन लोगों में उद्योग, बुद्धि या रूप† के लालच से भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता। हाँ, शत्रु लोग भेद नीति और प्रदान (धन का लालच) की नीति का अवलंबन करके उनमें भेद भाव उत्पन्न कर सकते हैं।

गणों में समानता और उसका प्रभाव

(३२) इसलिये गणों की सब से अधिक रक्षा संघात (के निर्वाह) में ही समझी जाती है।"

संघात की सिफारिश

---

* कुल से अभिप्राय राजाओं के वंशों से है, जैसा कि ऊपर दसवें श्लोक में कहा गया है; अथवा इसका अभिप्राय समस्त वंशों के समूह से है जिसका भाव अलग अलग व्यक्तिवाले भाव के विपरीत है। हमारे यहाँ की सामाजिक परिभाषा में इस विभेद का अब तक निर्वाह होता है; क्योंकि लोग प्रायः 'घर पीछे' (अर्थात् प्रति गृहस्थी) और 'पगड़ी पीछे' (अर्थात् प्रति व्यक्ति) पदों का व्यवहार करते हैं। अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि इससे कुलों की समानता अभिप्रेत हो; अन्यथा जाति या जन्म के विचार से सब लोगों की समानता का उल्लेख कर चुकने के उपरांत इस प्रकार का कथन युक्तियुक्त नहीं होगा।

† रूपद्रव्येण।

पंद्रहवाँ प्रकरण

नए प्रजातंत्रों की सृष्टि

§ १२५. जब हम ईसा पूर्व छठी और पाँचवीं शताब्दियों के समय की ओर ध्यान देते हैं, तब केवल बौद्धों के ही नहीं बल्कि जैनों के भी ऐसे धार्मिक संघ हमें मिलते हैं जिनके संबंध में राजनीति-विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया जाता था। जैन सूत्रों से विदित होता है कि कई व्यक्तियों ने नए गणों और कुलों की स्थापना की थी, जिनका नामकरण कभी तो उनके संस्थापक के नाम पर और कभी उनके स्थान के नाम पर होता था। उदाहरणार्थ गोदास द्वारा स्थापित गोदास गण, उत्तर और वलिस्सह दोनों का मिलकर स्थापित किया हुआ उत्तर-वलिस्सह गण, रोहगु द्वारा स्थापित उद्देह गण, कर्मर्द्धि द्वारा स्थापित इन्द्रपूरक कुल*। इसी प्रकार हमें बौद्ध संघ के अनेक संप्रदायों तथा नए संघों की स्थापना का भी पता चलता है। केवल हमारे धार्मिक प्रजातंत्रों के इतिहास में ही इस प्रकार की नई सृष्टियाँ नहीं होती थीं। महाभारत में यह बतलाया गया है कि प्रजातंत्रों में अनैक्य उत्पन्न होने तथा नए संप्रदायों के स्थापित होने से अनेक प्रकार की हानियों की

नए धार्मिक गण

---

* हार्नले, इंडियन एंटीक्वेरी, ११. २४६. और २०. ३४७.

संभावना होती है। कदाचित् महाभारत के कर्ता लोग यह बात भली भाँति जानते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के विरोध तथा विभाग आदि होते रहते हैं। संभवतः दो मल्लों* और दो मद्रों की सृष्टि भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम थी।

इस प्रकार के विभेदजन्य उदाहरणों के अतिरिक्त हमें बिलकुल ही नए प्रजातंत्रों की सृष्टि के भी उदाहरण मिलते हैं। जो कुरु और पंचाल, वैदिक साहित्य† तथा जातकों के अनुसार, पहले एकराज शासन-प्रणाली के अधीन थे, उन्होंने ईसवी पाँचवीं या चौथी शताब्दी में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली ग्रहण की थी। जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उनका उल्लेख प्रजातंत्रों के वर्ग में है। शासन-प्रणाली के परिवर्तन का दूसरा उदाहरण, जो प्रोफेसर र्‍हीस डेविड्स बतला चुके हैं, विदेहों का है‡। वैदिक साहित्य तथा जातकों के अनुसार ये भी पहले एकराज शासन-प्रणाली के अधीन थे। मेगास्थनीज कहता है कि तीन बार प्रजातंत्र शासन-प्रणाली

नए प्रजातंत्रों के ऐतिहासिक उदाहरण

---

* सभापर्व (अ० ३१. १२.) में निम्न मल्लों को दक्षिण मल्ल कहा गया है जिसके अनुसार उच्च मल्लों का स्थान कोशल के बगल में पड़ता है (३०. ३.)।

† देखो आगे § १६८. भाग २.

‡ Budhist India पृ० २६.

स्थापित की गई थी और तीन बार वह फिर एकराज शासन-प्रणाली के रूप में परिवर्तित की गई थी* । दुआब की एकराज शासन-प्रणाली की किसी मुख्य राजधानी में, जहाँ प्राचीन ऐतिहासिक लेख आदि रक्षित रखे जाते थे, इस संबंध का प्रवाद प्रचलित रहा होगा ।

कृत्रिम अवस्था

§ १२६. कुछ ऐसे प्रजातंत्री सिक्के भी मिले हैं जो या तो गण के नाम से अंकित हैं और या देश के नाम से । और एक प्रकार के सिक्के† तो ऐसे मिले हैं जिन पर गण को रक्षक या त्राता (त्रात-सि) कहा गया है । यद्यपि इस प्रकार के सिक्के कुछ बाद के हैं, तथापि इनसे यह अवश्य सूचित होता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुत पहले से चली आ रही थी । इस प्रकार हम उस अवस्था तक आ पहुँचते हैं जिसमें कृत्रिम रूप से देश की सीमा निर्धारित होती है अथवा केवल सीमा के विचार से राष्ट्र का निर्देश होता है और शासन केवल भावात्मक रह जाता है । हमें आर्जुनायन मिलते हैं, जिनका नामकरण केवल एक मूल पुरुष आर्जुनायन के नाम पर हुआ है; और आर्जुनायन शब्द का अर्थ है --अर्जुन के वंश का कोई व्यक्ति‡ । इस प्रकार बहुत कुछ पहले ही शासन-प्रणाली के पुराने जाति, वंश या गोत्र के

* मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes, पृ० २०३.

† वृष्णि सिक्का, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है ।

‡ देखो पाणिनि का गणपाठ ४. २. ५३.

आधार का अंत हो चुका था। जाति या गोत्र आदि का यह आधार ऐसा था, जिस पर भारत से बाहर रहनेवाली हमारी बराबरी की सभी जातियों में प्राचीन काल में प्रजातंत्रों की सृष्टि हुई थी; और जैसा कि महाभारत में वृष्णियों के संबंध में आए हुए उल्लेखों तथा संभवतः शांतिपर्व के १०७ वें अध्याय में आए हुए गोत्र शब्द से भी पता चलता है, स्वयं भारत में भी सब से आरंभ में प्रजातंत्रों की स्थापना इसी आधार पर हुई थी।

किसी संघात या समाज का नाम उसके संस्थापक या प्रधान आदि के नाम पर रखने की जो प्रथा है, उससे हमें प्रजातंत्रों के मूल का अन्वेषण करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। गाँव की पंचायत का नाम उसके ग्रामणी के नाम पर होता था*। वैदिक चरणों के नाम उनके संस्थापकों के नाम पर होते थे। धार्मिक संघों या संस्थाओं आदि के नाम उनके पहले संघटनकर्त्ताओं के नाम पर होते थे; और इसी प्रकार हमारे प्रजातंत्रों का भी नामकरण होता था।

जैसा कि ऊपर (गणपाठ ४. २. ५३.) कहा जा चुका है, वैदिक काल में एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

भारतीय प्रजातंत्र गोत्रों या कुलों के बाद के हैं

जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, मेगास्थनीज ने भी लिखा है कि ईसवी चौथी शताब्दी में यहाँ यह प्रवाद था कि एकराज शासन-प्रणाली के उपरांत प्रजातंत्र शासन-प्रणाली

---

* देखो पहले पृ० १६ का अंतिम नोट।

की स्थापना हुई थी। इन सब प्रमाणों से सूचित होता है कि प्रजातंत्र प्रणाली वैदिक काल के बाद की और कृत्रिम है, अर्थात् वह गोत्रों आदि की सृष्टि हो चुकने के उपरांत की तथा दार्शनिक है। उदाहरण के लिये इस प्रकार की शासन-प्रणालियों के नामों को ही लीजिए—वैराज्य जिसका शब्दार्थ है राजारहित प्रणाली, स्वाराज्य = आत्म शासन-प्रणाली, भौज्य = अस्थायी शासन-प्रणाली। ये सब नाम किसी गोत्र या जाति आदि के नाम पर नहीं बने हैं। इनमें गोत्रों के नाम पर शासन-प्रणालियों के नाम नहीं रखे गए थे। शासन-प्रणालियों के ये सब नाम कृत्रिम या दार्शनिक हैं। इस परंपरागत प्रवाद का समर्थन वेदों से होता है कि पहले एकराज शासन-प्रणाली थी; और इस प्रवाद का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण से होता है कि एकराज शासन-प्रणाली परित्यक्त कर दी गई थी और प्रजातंत्र शासन-प्रणालियाँ स्थापित की गई थीं।

कृत्रिम राजनीतिक कुल

§ १२७. ऊपर जो कुछ परिणाम निकाला गया है, उस पर ध्यान रखते हुए पुराणों में आए हुए इस परंपरागत कथन को लीजिए कि मध्य देश के एक राजवंश के दो छोटे राजकुमार, यौधेय और मद्र, पंजाब से निकलकर बाहर चले गए थे और उन्होंने अपने नामों पर राज्यों की स्थापना की थी। यह पौराणिक इतिहास सर्वश्रुत वास्तविक घटनाओं या तत्वों से पूरा सामंजस्य रखता है। इस प्रकार के संघातों या संस्थाओं

के नाम उनके संस्थापकों के नाम पर रखे जाते थे। इस प्रकार मद्र और यौधेय किसी एक वंश या गोत्र के नहीं थे, बल्कि कृत्रिम धार्मिक शाक्य-पुत्रों की भाँति इनके भी कृत्रिम राजनीतिक गोत्र तथा राज्य थे। इन दोनों अवस्थाओं में राज्य के आधार पर ही उनके नागरिकों का नामकरण हुआ था, अर्थात् यह नाम कृत्रिम गोत्र के रूप में था; अथवा आजकल के शब्दों में यह राजनीतिक राष्ट्रीयता का सूचक नाम था और उस राष्ट्रीयता के विपरीत था जिसे हम गोत्रीय राष्ट्रीयता कह सकते हैं। इस विवेचन को देखते हुए और इस पर पूरा ध्यान रखते हुए हम पतंजलि द्वारा उद्धृत किसी प्राचीन वैयाकरण (संभवतः व्याडि) के इस कथन का अभिप्राय समझ सकते हैं कि क्षुद्रक-मालव गोत्र-नाम नहीं है* अर्थात् ये किसी एक ही वंश में उत्पन्न लोगों के नाम नहीं हैं। मद्रों और यौधेयों की भाँति ये दोनों भी राजनीतिक राष्ट्र थे। ये लोग भी ऐसे राज्यों के निवासी या नागरिक थे जिनके नाम दो व्यक्तियों के नाम पर पड़े थे। इसके अतिरिक्त हमें पाणिनि से एक और प्रमाण यह मिलता है कि योद्धा राज्यों में किसी एक गोत्र या वंश के नहीं, बल्कि सभी जातियों के लोग हुआ करते थे। महाभारत के अनुसार अराजक प्रजातंत्र भी गोत्रीय आधार पर नहीं था, बल्कि वह कानूनी और पंचायती आधार पर था। यौधेय तथा मद्र, मालव तथा क्षुद्रक की भाँति और भी

---

* देखो पहले पृ० ११४, नोट।

बहुत से ऐसे प्रजातंत्र थे जिनकी सृष्टि बिलकुल अगोत्रीय अवस्थाओं में हुई थी—जिनकी स्थापना और नामकरण में गोत्र या वंश आदि का कोई भाव नहीं था। बाद के शालंकायन, आर्जुनायन और पुष्यमित्र आदि अनेक राज्य (अठारहवाँ प्रकरण) ऐसे थे जो व्यक्तियों के नाम पर बने थे और जिनके नाम का मूल बहुत बाद का है। इन नामों से भी यही सूचित होता है कि ये सब राज्य किसी एक ही गोत्र या वंश के लोगों के नहीं थे।

गोत्रीय तथा कृत्रिम संघटनों का विभेद

§१२८. पर साथ ही, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हिंदू प्रजातंत्रों में कहीं गोत्रीय तत्त्व या सिद्धांत पाया ही नहीं जाता। सभी कालों और सभी देशों में प्रत्येक राज्य का आधार एक बड़ी सीमा तक जातिमूलक या गोत्रीय हुआ करता है। परंतु इस संबंध में वास्तविक प्रश्न अथवा जानने योग्य बात यह है कि क्या वह राज्य-संघटन अभी तक जातिमूलक या वैसा ही है जैसा कि समाजों की बिलकुल आरंभिक अवस्था में स्वाभाविक और साधारण रीति से हुआ करता है, अथवा वह बुद्धिमत्तापूर्ण विचारों, सिद्धांतों और समझ बूझकर किए हुए अनुभवों तथा प्रयोगों का परिणाम है। जिस अवस्था में यह समझा जाता है कि राज्य आपस के समझौते के आधार पर स्थित है और शासक केवल शासितों का सेवक

समझा जाता है और जिस अवस्था में राजनीतिक भक्ति (§११८-११९) का द्वार विदेशियों या अजनबियों तक के लिये खुला रहता है, शासन-प्रणाली के विकाश में वह अवस्था बहुत ऊँची समझी जाती है। साधारण रूप से मत या छंद प्रदान करना, शलाकाओं के द्वारा मत प्रदान करना, ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा और कानून बनाना तथा किसी विषय के निर्णय या मीमांसा में नियमों तथा निश्चित रीतियों आदि का पालन करना आदि उस उच्च अवस्था के अन्यान्य लक्षण हैं।

व्यक्तिगत राजनीतिक समाजों को इन्हीं शासन-प्रणालियों तथा संघटनों ने विशिष्ट रूप प्रदान किया था; और यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उनको कृत्रिम गोत्रों में परिवर्तित कर दिया था। इसलिये वास्तविक तथा कृत्रिम गोत्रों—जातिमूलक तथा राजनीतिक गोत्रों—का ठीक ठीक विभाग करना बहुत ही कठिन हो जाता है। जैसा कि महाभारत में दिए हुए वृष्णियों तथा अंधकों के विवरण से सूचित होता है, संभवतः आरंभिक सात्वत् लोग वास्तव में एक ही गोत्र के थे। परंतु राजन्य जनपद (निर्वाचित राजा का देश) स्पष्टतः एक राजनीतिक गोत्र, एक राजनीतिक समाज और केवल शासन-प्रणाली या संघटन से उद्भूत था। यही बात महाराज जनपद के संबंध में भी थी। ऐसी अवस्थाओं में जनपद एक राजनीतिक समष्टि या संभवतः नगर राज्य हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्रिक और भोज भी शासन-प्रणाली या संघटन

की ही सृष्टियों में से थे। यह संभव है कि आरंभ में सब कठ लोग एक ही गोत्र के रहे हों, [जैसा कि पतंजलि* के कठ-जातीयाः पद से सूचित होता है। संभव है कि जाति का विचार गौण रहा हो। गण राज्य में किसी स्वतंत्र व्यक्ति को नागरिकता का समान अधिकार प्रदान करने में जन्म (जाति) का विचार रखा जाता था। अतः ऐसी दशा में कठ-जातीय और कठ-देशीय का अभिप्राय 'कठ देश में उत्पन्न मनुष्य' 'कठ देश के मनुष्य' ही हो सकता है। और उस कठ देश तथा कठ राज्य का नामकरण उसके राजनीतिक संस्थापक किसी एक कठ के नाम पर हुआ होगा। पतंजलि के दिए हुए दूसरे उदाहरण भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। उदाहरण के लिये करक-जातीय, करक-देशीय, औघ्र-जातीय, औघ्र-देशीय आदि को लीजिए। अुघ्र और करक ये दोनों स्थानों के नाम थे—गोत्र-नाम नहीं थे। जान पड़ता है कि करक शब्द की व्युत्पत्ति किसी नदी से है, जैसा कि पारस्कर शब्द में के 'कर' से भी सूचित होता है, अर्थात् कर के आसपास का प्रदेश। यहाँ भी और पाणिनि (६. ३. ४१.) में भी जाति का अर्थ बहुधा जन्म ही है। उसका अभिप्राय आजकल का सा सामाजिक विभाग या कौम नहीं है।] और फिर जो समाज पहले एक गोत्रीय समष्टि के रूप में रहा हो और जिसने अपने पहले संघटन

* पाणिनि ६. ३. ४२. कीलहार्न, २. पृ० १४७.

के चिह्नों को अब तक रक्षित रखा हो, उसके लिये संघटन-निर्माण की उन्नत अवस्था में पहुँचने पर इस प्रकार की उन्नत शासन-प्रणाली ग्रहण करना कोई असंभव या बे-मेल बात भी नहीं है। परंतु ऐसे प्रजातंत्रों को केवल गोत्रीय संघटन या गोत्रीय प्रजातंत्र कहना अवैज्ञानिक होगा—वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक न होगा। यदि पूरी छानबीन की जाय तो यही प्रमाणित होगा कि प्राचीन रोम तथा यूनान का प्रत्येक राज्य आरंभ में गोत्रीय ही था; परंतु शासन-प्रणालियों का इतिहास जाननेवाला कोई विद्वान् रोम तथा यूनान के प्रजातंत्रों को केवल गोत्रीय संघटन या संस्था कहने की कल्पना भी न करेगा।

सोलहवाँ प्रकरण

उदय-काल का सिंहावलोकन

§ १२८. इस प्रकार हमें ऐतरेय ब्राह्मण तक के समय में भी हिंदू प्रजातंत्रों के अस्तित्व और अच्छी दशा में होने के प्रमाण मिलते हैं। उस समय तक प्राचीन हिंदुओं ने अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियों का विकास कर लिया था; और प्रत्येक प्रकार की शासन-प्रणाली के लिये अभिषेक संबंधी कुछ विशिष्ट कृत्य या विधान भी निर्धारित कर लिए थे। अवश्य ही ऐतरेय ब्राह्मण की रचना से कई शताब्दी पहले ही उन लोगों ने उन शासन-प्रणालियों का प्रयोग करके उनके संबंध में अनुभव प्राप्त कर लिया होगा। इस वैदिक ग्रंथ का रचना-काल ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है। उसके अंत में राजा परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय तक का उल्लेख है। उसमें दिए हुए उत्तर कुरुओं के इतिहास से भी यही सूचित होता है कि उसका रचना-काल बहुत प्राचीन है। परवर्ती वैदिक साहित्य में उत्तर कुरु लोग पौराणिक कोटि में आ जाते हैं और उनका देश भी पौराणिक कोटि में चला जाता है; पर जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, ऐतरेय

ऐतरेय ब्राह्मण से कौटिल्य तक

हि—१५

ब्राह्मण में उनका उल्लेख एक ऐतिहासिक समाज या जाति के रूप में है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आर्य भारत का एक बड़ा अंश—उत्तर-पश्चिम और दक्षिण—प्रजातंत्र शासन-प्रणालीवाले राज्यों से भरा पड़ा था; केवल मध्य देश में एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी। यह मध्य देश कुरुक्षेत्र (दिल्ली के जिले) से प्रयाग तक, गंगा और यमुना के मध्य के दुआब में, था*। इससे और पूर्व प्राची में (जिसका केन्द्र मगध में या उसके आस पास था) इस ब्राह्मण के अनुसार साम्राज्य नामक शासन-प्रणाली प्रचलित थी, जिसका शब्दार्थ है—अनेक एकराजों की समष्टि; अर्थात् किसी प्रधान एकराज के साथ या उसकी अधीनता में कई और एकराज हो जाया करते थे। केवल गंगा यमुना के मध्य के प्रदेश दुआब तथा मगध को छोड़कर शेष समस्त देश में प्रजातंत्र शासन प्रचलित था। जैसा कि पाली प्रामाणिक ग्रंथों से सूचित होता है, प्रायः ठीक यही दशा बुद्ध के समय में भी थी। अवदानशतक के अनुसार बुद्ध के समय में आर्य भारत के राज्य गणाधीन और राजाधीन इन दो भागों में विभक्त हो सकते थे; अर्थात् कुछ स्थानों में गण राज्य थे और कुछ में एकराज शासन-प्रणाली थी (केचिद् देशा गणाधीनाः, केचिद् राजाधीनाः†)। संस्कृत की प्रसिद्ध प्रचलित

---

* ऐतरेय ब्राह्मण में इस मध्य देश में अवस्थित जिन एकराजों का उल्लेख है, वे ये हैं—कुरु, पंचाल, उशीनर और वश।

† देखो पहले § २६. पृ० ४१—४२.

प्रणाली के अनुसार यह क्रम, जिसमें प्रजातंत्रवाले देशों का उल्लेख पहले हुआ है, यह सूचित करता है कि उस समय भी यहाँ अधिक संख्या ऐसे ही देशों की थी जिनमें प्रजातंत्र-प्रणाली प्रचलित थी।

सिकंदर के समय में भी उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में अधिकांश प्रजातंत्रवाले देश ही थे। अतः जिस समय चंद्रगुप्त अपने साम्राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, उससे पहले कम से कम लगातार एक हजार वर्ष तक यहाँ प्रजातंत्र चले आते थे।

हिंदू प्रजातंत्रों का यही सब से अधिक उन्नति का काल था। राष्ट्रीय वैभव के लिये उत्तर कुरु लोग परम प्रसिद्ध हो चुके थे। इस काल में विद्वत्ता तथा पांडित्य के लिये मद्र और कठ, वीरता के लिये क्षुद्रक और मालव, राजनीतिक ज्ञान तथा अदम्य स्वतंत्रता के लिये वृष्णि और अंधक, बल के लिये वृजि, ज्ञान-प्रकाश, समानता के दार्शनिक सिद्धांतों तथा निम्न कोटि के लोगों के उद्धार के लिये शाक्य तथा उनके पड़ोसी आर्य भारत के राष्ट्रीय जीवन तथा राष्ट्रीय साहित्य में अपने ऐसे चिह्न अंकित कर गए हैं जो किसी प्रकार मिटाए नहीं मिट सकते।

सत्रहवाँ प्रकरण

मौर्यों के अधीनस्थ प्रजातंत्र

प्रजातंत्रों के प्रति मौर्य साम्राज्य की नीति

§ १२६. मौर्यों के साम्राज्य के अंतर्गत ही प्रजातंत्रवाले प्रदेश भी थे। यूनानी लेखकों का कथन है कि चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस से अरकोशिया (Arachosia) और एरिया (Aria) जीता था*। अशोक अपने शिलालेखों में कहता है कि एंटियोकस मेरा पड़ोसी था†। एंटियोकस का अधिकार सीरिया और फारस पर था। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम में मौर्य साम्राज्य का विस्तार फारस तक था। दक्षिण में वह तामिल प्रदेश तक विस्तृत था‡। आखिर इस विशाल एकराज शासन-व्यवस्था की अधीनता में रहनेवाले प्रजातंत्रों की क्या दशा होती होगी? इस बात को समझने से पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि प्रजातंत्रों के प्रति मौर्यों की क्या नीति थी। कौटिल्य ने उस नीति का बहुत अच्छा वर्णन किया है।

---

* विन्सेंट स्मिथ कृत Early History of India, तृतीय संस्करण, पृ० १४६-१५१ में उद्धृत वाक्यों को देखो।

† दूसरा शिलाभिलेख.

‡ यह बात मिश्रस्कीवाले प्रज्ञापन के स्थान से प्रमाणित होती है।

वह लिखता है—"किसी संघ को प्राप्त करना, जीतना, मित्रता संपादित करने अथवा सैनिक सहायता प्राप्त करने से अधिक उत्तम है। जिन्होंने मिलकर अपना संघ बना लिया हो, उनके साथ साम और दान की नीति का व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वे अजेय हैं। जिन्होंने इस प्रकार अपना संघ न बनाया हो, उन्हें दंड और भेद की नीति से जीतना चाहिए।" इसके उपरांत भेद नीति का विस्तारपूर्वक वर्णन करके अंत में कहा गया है—"संघों के साथ एकराज को इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए; इत्यादि।"*

---

* संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः। संघाभिसंहतत्वादधृष्यान् परेषांताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। द्विगुणान् (विगुणान् पाठ होना चाहिए) भेददण्डाभ्याम्। अर्थशास्त्र, पृ० ३७६. अनुगुणान् का भाव विगुणान् के भाव के विपरीत होगा। द्विगुण का कोई सन्तोषजनक अर्थ नहीं होता। उसका अर्थ हो सकता है—'दो का संघ'; परंतु वे अनुगुण होंगे। इसी लिये मेरी समझ में उक्त संशोधन होना चाहिए। इसी प्रकरण में आगे चलकर अर्थात् पृ०३७९ में विगुण का जो व्यवहार हुआ है और विवेचन में द्विगुण का नितांत अभाव पाया जाता है, उससे मेरे इस मत का समर्थन होता है। श्रीयुत शाम शास्त्री ने अनुगुणान् का जो favourably disposed अर्थ किया है, वह वास्तविक अर्थ से बहुत दूर है। अर्थ-शास्त्र (अ० ११)।

पृ० ३७६–७९ में शत्रुओं में भेद उत्पन्न करने के उपायों का विवेचन किया गया है; और उसके अंत में आया है—संघेष्वेवमेकराजो वर्त्तेत। साथ ही देखो पृ० ३७९ में "कलहस्था तेषु हीनपक्षं राजा" आदि में "राजा" शब्द।

तात्पर्य यह कि जो गण या प्रजातंत्र राज्य बलवान् होते थे और मिलकर अपना संघात बना लेते थे, मौर्य नीति उन्हें आदर-पूर्वक रहने देती थी, क्योंकि उन पर विजय प्राप्त करना कठिन होता था। परंतु जो संघात में सम्मिलित नहीं होते थे, बल्कि अलग रहते थे, वे भेद नीति के द्वारा निर्बल कर दिए जाते थे और तब बल-प्रयोग करके उनका अंत कर दिया जाता था।

पता चलता है कि जब अर्थशास्त्र की रचना हुई थी, उससे पहले ही इस प्रकार के कई अलग रहनेवाले फुटकर गण मौर्य साम्राज्य की अधीनता में आ चुके थे। संघात में बद्ध गणों की प्रतिष्ठा उनके बल के अनुसार होती थी। उनमें से कुछ के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था और कुछ को दान नीति के द्वारा अथवा समय कुसमय पर कुछ निश्चित आर्थिक सहायता देकर अपने पक्ष में कर लिया जाता था; और कदाचित् समय पड़ने पर उनसे कुछ सैनिक सहायता की भी आशा की जाती थी, क्योंकि उनकी केवल मित्रता ही नहीं संपादित की जाती थी (मित्रलाभ), बल्कि साथ ही उनसे सैनिक सहायता पाने की भी शर्त रखी जाती थी। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य में जो बलवान् गण थे, वे तो बच रहे और जो दुर्बल थे, उनका अंत हो गया। क्षुद्रक, मालव और वृजि आदि राज्य, जो कात्यायन और पतंजलि में प्रधान राज्य और बहुत अच्छी दशा में मिलते हैं*,

* पाणिनि पर महाभाष्य ४. २. ४५. और ५. ३. ५२.

अपने संघात के कारण बच रहे थे। इसी प्रकार राष्ट्रिक और भोजक भी, जिन्होंने पतंजलि के समय में मिलकर खारवेल के साथ युद्ध किया था*, बचे रह गए थे।

§ १३०. कौटिल्य तथा सिकंदर के समय की शासन-प्रणाली के इतिहास की जो बातें अब तक मालूम हुई हैं, उन पर ध्यान रखते हुए हम अशोक के शिलालेखों की एक बात अच्छी तरह समझ सकते हैं। अशोक ने अपने शिलालेखों में जिन राजनीतिक समाजों या बिरादरियों का उल्लेख किया है, अब हम उनका प्रजातंत्री स्वरूप पहचान सकते हैं।

अशोक के अधीनस्थ गण राज्य

प्रधान शिलाभिलेखों के पाँचवें प्रज्ञापन में अशोक ने नीचे लिखे नाम गिनाए हैं—

(१) योन
(२) कंबोज
(३) गांधार
(४) राष्ट्रिक
(५) पितिनिक
(६) तथा दूसरे अपरांत। (गिरनार का पाठ)

कालसीवाले शिलाभिलेख में केवल १ से ३ तक के नाम गिनाए हैं और उनके बाद "तथा दूसरे अपरांत" दिया है।

---

* खारवेल का हाथीगुंफावाला शिलालेख; जरनल बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी; खंड ३, पृ० ४५५.

अर्थात् यही बात हम यों भी कह सकते हैं कि (१) से (५) तक सब को* अशोक अपरांत ही कहता है।

इसके विपरीत प्रधान शिलाभिलेखों के तेरहवें प्रज्ञापन में नीचे लिखे नाम आए हैं—

(१) योन

(२) कंबोज

(३) नाभक और नाभपंक्ति

(४) भोज

(५) पितिनिक

(६) अंध्र और पुलिंद।

यहाँ इन्हें अपरांत नहीं कहा गया है, बल्कि इनके संबंध में लिखा है "यहाँ राजविषयों के अंतर्गत"। यह तो हम जानते ही हैं कि इनमें से अंक (२), (४) और (५) वालों में ऐसी शासन-प्रणालियाँ थीं जिनमें कोई राजा नहीं होता था। अब यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि अशोक के साम्राज्य में शासन की दृष्टि से इन सब का कौन सा स्थान था? और दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इस समूह में कांबोज-राष्ट्रिक, भोज तथा पितिनिक यही तीन प्रजातंत्री समाज या बिरादरियाँ थीं? इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये हमें स्वयं शिलालेखों की बहुत ही बारीकी से जाँच करनी चाहिए।

---

*. इध राजविसयम्हि। (गिरनार) सेनार्ट, जरनल रायल एशियाटिक सोसायटी; १९००. पृ० ३३७.

§ १३१. जानने की पहली बात यह है कि यहाँ अपरांत और राज-विषय का क्या अर्थ है। अशोक के प्रज्ञापनों में अंत शब्द का अर्थ पड़ोसी (पड़ोसी राज्य) है। इस बात का ध्यान रखते हुए अपरांत शब्द के दो अर्थ किए जा सकते हैं। पहला अर्थ तो 'पश्चिम के पड़ोसी' हो सकता है और दूसरा अर्थ 'पश्चाद्वर्ती पड़ोसी' हो सकता है। अर्थात् इस शब्द से या तो पश्चिमी भारत की सीमा पर के राज्य अभिप्रेत हो सकते हैं और या साम्राज्य के अंतर्भुक्त राज्य हो सकते हैं। यदि हम अपरांत शब्द का पहला अर्थ लें, तो उसका अर्थ केवल देश का पश्चिमी अंत या सीमा अर्थात् पश्चिमी भारत हो सकता है। भोज और राष्ट्रिक, तथा अनुमानतः पितिनिक भी, अपरांत या पश्चिमी भारत के निवासी थे। परंतु अफगानिस्तान में रहनेवाले योन तथा कांबोज किसी प्रकार पश्चिमियों के अर्थ में अपरांत नहीं कहे जा सकते; क्योंकि प्राचीन भारतीय साहित्य में उस प्रदेश को सदा उत्तर ही कहा गया है। इसी प्रकार गांधार भी पश्चिमी नहीं कहे जा सकते। वे भी सदा उत्तर (उदीची उत्तरापथ) में ही माने गए हैं। इसलिये हमें अपरांत शब्द का पश्चिमीवाला अर्थ छोड़ देना पड़ता है।

अपरांत का अर्थ

अब तेरहवें प्रज्ञापन में इन सब के लिये 'इधर' या 'यहाँ' शब्द आया है, जिसका अभिप्राय है—मौर्य साम्राज्य की सीमाओं के अंदर; और जो एंटियोकस तथा चोलों आदि की

भाँति अंत या बाहरीवाले भाव के विपरीत है। अपरांत का जो पहला अर्थ दिया गया है, वह मान्य नहीं हो सकता; इसलिये हमें उसका दूसरा अर्थ 'साम्राज्य के अंतर्गत' लेना चाहिए। तेरहवें प्रज्ञापन के 'इधर' या 'यहाँ' शब्द के साथ यह अर्थ मेल भी खाता है। ऐसी दशा में दोनों समूह एक ही प्रकार के अंतर्गत आ जाते हैं अर्थात् वे साम्राज्य के अंतर्गत अथवा अंतर्भुक्त पड़ोसी हो सकते हैं।

§ १३२. अब हमें यह देखना चाहिए कि राजविषय का क्या अभिप्राय है। अशोक अपने प्रदेशों का उल्लेख करते समय सदा उत्तम पुरुष संबंध कारक का व्यवहार करता है। वह कहता है—'मेरा साम्राज्य'। अतः उसके देशों को राजकीय देश कहना उसकी सर्व-विदित परिपाटी के विपरीत होगा। यदि उसका अभिप्राय होता तो वह कहता 'मेरे देश' 'मेरे विषय'; वह उन्हें कभी 'राजविषय' न कहता। इसके अतिरिक्त उसी वाक्य में वह पहले ही कह चुका है—'मेरे साम्राज्य भर में'; इसलिये यहाँ इस बात का कोई अवसर नहीं था कि वह अपने अलग अलग देशों या प्रांतों का उल्लेख करता। अतः यह राज-विषय पाँचवें प्रज्ञापन के अपरांत का समानार्थी ही है। ऐसी दशा में राजविषय का अर्थ होना चाहिए—साम्राज्य के अंतर्भुक्त शासन करनेवाले (अथवा राजकीय) देश (अथवा जिले)। यहाँ अंतर्भुक्त पड़ोसी का भी वही अर्थ है जो शासन करनेवाले विषय का है।

§ १३३. इस वर्ग के प्रजातंत्र, अशोक के राजविषय अथवा अंतर्भुक्त पड़ोसी अपरांत ऐसे राज्य थे जो सम्राट् अशोक की ओर से साम अथवा दान की नीति के अधिकारी थे। वे साम्राज्य की सीमाओं के अंतर्भुक्त अपना शासन आप करनेवाले राज्य थे। इसमें संदेह नहीं कि यह सूची पूरी नहीं है। सम्राट् ने केवल उन्हीं राजविषयों का उल्लेख किया है, जिन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। जान पड़ता है कि अशोक को भोजों के साथ जैसी सफलता हुई थी, वैसी राष्ट्रिकों के साथ नहीं हुई थी; क्योंकि तेरहवें प्रज्ञापन में उसने भोजों को उन स्थानों की सूची में रखा है जिनकी प्रवृत्ति बौद्ध धर्म ग्रहण करने की ओर हो चुकी थी। पर पाँचवें प्रज्ञापन में उसने राष्ट्रिकों को ऐसे स्थानों के अंतर्गत रखा है जिनमें अशोक के धर्मप्रचारक तत्परतापूर्वक कार्य कर रहे थे।

§ १३४. गांधार लोग सिकंदर के समय से पहले ही अपनी पुरानी राजधानी तक्षशिला से हटकर अलग हो गए थे।

नाभपंक्तियों की शासन-प्रणाली

ई० पू० ३२६ में उनमें एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी। सुप्रसिद्ध राजा बड़े पुरु का भतीजा युवक पुरु उनका शासक था। यद्यपि हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ई० पू० २०० में भी गांधारों में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी*,

---

* महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १६७ के अनुसार गांधारों में राजा के स्थान पर मुख्य लोग हुआ करते थे। परंतु पतंजलि (४.२.४२.)

तथापि यहाँ उनकी शासन-प्रणाली के संबंध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रधान शिलाभिलेखों के तेरहवें प्रज्ञापन में गांधारों के स्थान में नाभक और नाभपंक्ति दिए गए हैं। ये लोग या तो गांधारों के पड़ोसी थे और या उन्हीं के उपविभाग थे। नाभपंक्ति भी अग्रश्रेणियों तथा यौधेयत्रय अथवा शालंकायन-त्रय की ही भाँति थे; अर्थात् इन्हें भी नामों का संघात ही समझना चाहिए। अशोक के शिलालेखों में से एक में वे नाभितिन भी कहे गए हैं जिसका अर्थ नाभत्रय अथवा तीन नाभ भी हो सकता है।

अभी तक इस बात का पता नहीं लगा है कि ये नाभक लोग कौन थे। पाणिनि (४.१.११२.) के गणपाठ में हमें यह शब्द नाभक रूप में मिलता है। ४.१.११२ के पहले जो सूत्र है, उसमें यह बतलाया गया है कि गण राज्यों के नामों के आधार पर उनके निवासियों आदि के सूचक नाम किस प्रकार बनाने चाहिएँ; और उसके बाद यह बतलाया गया है कि नदियों के नामों के आधार पर उनके तटवर्ती निवासियों के सूचक नाम किस प्रकार बनाए जाने चाहिएँ। पाणिनि के गणपाठ ४.१.११२. में शिवादि (शिव आदि) शीर्षक के अंतर्गत कुछ नाम गिनाए गए हैं। वे सब नाम गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषियों (जैसे ककुत्स्थ, कोहड आदि), राजवंशों (जैसे हैहय),

---

ने उन्हें वसातियों और शिबियों के संग रखा है, जिन्हें हम जानते हैं कि प्रजातंत्री थे।

नदियों (जैसे गंगा, विपाशा) आदि के हैं और उनमें कुछ अप्रसिद्ध तथा अज्ञात व्यक्तिवाचक नाम भी हैं। पिटक तथा त्रिच्चाक के साथ नाभक और ऊर्णनाभ का उल्लेख है। राजन्यों और आर्जुनायनों आदि के प्रजातंत्री वर्ग में भी ऊर्णनाभों का नाम मिलता है*। नाभक संभवत: एक जातीय उपाधि थी जो नाभ जाति से संबंध रखती थी अथवा उसकी सूचक थी। नाभपंक्ति†, जिनमें बिना राजा की शासन-प्रणाली प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है, संभवत: यही ऊर्णनाभ थे; और ऊर्णनाभ का अर्थ है ऊर्णवाले देश के नाभ। गांधार उन दिनों अपने ऊर्ण या ऊन के लिये बहुत प्रसिद्ध था।

पुलिंद

§ १३५. अब यह देखना चाहिए कि पुलिंदों की शासन-प्रणाली कैसी थी। ये लोग द्रविड़ जाति के थे और राष्ट्रिकों तथा भोजों के पड़ोसी थे। साधारणत: द्रविड़ लोगों में एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित थी। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि जिस समय असुरों के साथ हिंदुओं का युद्ध हुआ था, उस समय हिंदुओं ने असुरों से एकराज शासन-प्रणाली ग्रहण की थी‡। परंतु

* पाणिनि ४.२.५३.

† इसमें के पंक्ति शब्द का श्रेणी (पंक्ति या कतार) और सत्ताईसवें प्रकरण (दूसरे भाग) में किए गए उसके अर्थ के साथ मिलान करो।

‡ देखो दूसरा भाग § १६६—२००.

प्रश्न यह है कि क्या पुलिंदों पर उनके पड़ोसियों के आर्य उदाहरण का भी कुछ प्रभाव पड़ा था। इस वर्ग के किसी राज्य को अशोक ने एकराज राज्य नहीं कहा है; सब को राजविषय कहा है। परंतु काशिका और बृहत्संहिता में इस बात का निश्चित प्रमाण मिलता है कि पुलिंदों का एक संघ था*।

§ १३६. अंध्रों के संबंध की समस्या कुछ अधिक कठिन है। उनके संबंध में कोई समर्थनकारी प्रमाण नहीं मिलता।

अंध्र

दो पीढ़ियाँ पहले चंद्रगुप्त के समय में अंध्रों का एक बहुत बड़ा एकराज राज्य था जो शक्ति में केवल मगध से ही घटकर था†। परंतु हम देखते हैं कि अशोक के समय में वह उसके साम्राज्य के अंतर्गत और उसका एक राजविषय था। जान पड़ता है कि अशोक के पिता बिंदुसार ने अपने शासन-काल में अंध्रों का बल तोड़ दिया था; क्योंकि उसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने समस्त भारत को मिलाकर एक करने के संबंध में अपने पिता चंद्रगुप्त की नीति का अवलंबन किया था। कहा जाता है कि उसने पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के मध्य में सोलह राजधानियों

---

* पाणिनि पर काशिका. ४.३.११४. पृ० ४२६. बृहत्संहिता ५. ३६. पुलिंदगण।

† विन्सेन्ट स्मिथ कृत Early History of India (तृतीय संस्करण) पृ० २०६ में, प्लिंग के संबंध में विवेचन देखो

को जीतकर अपने राज्य में मिलाया था*। इस कथन का संबंध दक्षिण देश के दक्षिणी भाग से होना चाहिए, क्योंकि उससे ऊपर का सारा प्रदेश पहले से ही चंद्रगुप्त के अधिकार में था। जान पड़ता है कि विजय प्राप्त करने के उपरांत मौर्य राजनीतिज्ञों ने (कहा जाता है कि कौटिल्य तब तक जीवित था) अंध्रों के राजवंश को अधिकार-च्युत कर दिया था; और संभवतः उनसे समझौता करके किसी संघ शासन-प्रणाली के अनुसार उन्हें स्वयं अपना शासन करने के लिये छोड़ दिया था।

आठ में से छः राजविषयों के संबंध में पता चलता है कि उनमें प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी†। बाकी दो में से एक पुलिंदों की शासन-प्रणाली के संबंध में कदाचित् ही कोई संदेह किया जा सकता हो। अब बाकी रहा केवल एक अंध्र, सो उसके संबंध में सब से अधिक दृढ़ अनुमान यही हो सकता है कि अशोक के साम्राज्य के अंतर्गत उसमें भी कोई राजा-रहित शासन-प्रणाली ही प्रचलित थी।

§ १३७. यह जानना आवश्यक है कि अशोक के बतलाए हुए ये यवन कौन थे। इससे आप से आप एक बड़े विवाद का अंत हो जायगा। अशोक के योन, राजविषय योन,

---

* जायसवाल लिखित The Empire of Bindusara, J. B. O. R. S. खंड २. पृ० ८२.

† यवनों के संबंध में देखो नीचे § १३७—१४०.

मौर्य साम्राज्य की सीमाओं के अंदर ही थे। अशोक के लेखों में योन और कांबोज एक साथ रखे गए हैं और मनु में "कांबोज और यवन" एक साथ मिलते हैं। इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि ये यवन कांबोजों के पड़ोसी थे।

अशोक के यवन

कांबोज लोग काबुल नदी (आधुनिक कंबोह) के तट के निवासी माने जाते हैं। तो फिर ये यवन कौन थे? ये काबुलियों के पड़ोसी थे; इसलिये यह भी निश्चित है कि ये लोग या तो काबुल नदी के तट पर और या कहीं उसके आस-पास रहते थे। इसके अतिरिक्त अशोक के अनुसार ये अपना शासन आप किया करते थे; और मनु* से यह पता चलता है कि यद्यपि ये लोग पहले शासक जाति (क्षत्रियजातियः) के थे, पर ये बहुत दिनों से आर्य लोगों के पास रहते आए थे और इनकी जाति च्युत जाति के समान समझी जाती थी। महाभारत से पता चलता है कि ये लोग शासक नहीं रह गए थे और कांबोजों आदि की भाँति हिंदू राजाओं की अधीनता में रहते थे†। इन सब विवरणों से एक ही प्रकार की बातें सूचित होती हैं। ये यवन लोग उस सिकंदरिया नगर के रहनेवाले तो हो ही नहीं सकते, जिसे सिकंदर ने काकेशस या काफ पर्वत में स्थापित किया था। उन लोगों में कभी स्वराज्य

---

* शकों अर्थात् सीस्तान के शकों के साथ। मनु १०.४४.

† शांतिपर्व, अध्याय ६५. श्लो० १३—१५.

या प्रजातंत्र प्रणाली नहीं प्रचलित हुई थी। मैसिडोनिया के कुछ थोड़े से ऐसे सिपाही अवश्य थे, जो युद्ध में आहत होने के कारण बेकाम हो गए थे और जो उस स्थान से हट जाने के लिये बहुत उत्सुक थे। संभव है कि सिकंदर की मृत्यु के उपरांत उन्हें अवसर मिल गया हो और वे वहाँ से हट आए हों। इसके अतिरिक्त इस बात का निश्चित प्रमाण मिलता है कि कुभा या काबुल नदी के तट पर कुछ यूनानी लोग रहते थे और सिकंदर के आक्रमण से बहुत पहले से रहते थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि अभी तक लोगों ने इस बात की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया था। पाणिनि में यवनानी शब्द आया है, जिसके कारण कुछ लोग कहा करते हैं कि पाणिनि का समय भारत में यवनों के आने के पश्चात् का है। पर इस बात से जहाँ और बातों का निराकरण होता है, वहाँ एक इस प्रश्न का भी निराकरण हो जाता है।

§ १३८. सिकंदर के समय में काबुल के यवनों ने भारतीय प्रजातंत्रों के ढंग पर एक नगर राज्य स्थापित किया था। यह बात अशोक के राजविषय संबंधी विवरण से पूरा पूरा मेल खाती है। संभवतः ये लोग फारसी यूनानी थे, अर्थात् वे यूनानी थे जो फारसी साम्राज्य की अधीनता में अपने मूल निवासस्थान से हटकर इधर चले आए थे। उनके नगर का नाम नीसा इस बात का प्रबल प्रमाण है कि फारसवालों के साथ उनका संबंध था। वे लोग हिंदू बना लिए गए थे।

सिकंदर के साथियों ने पहले उन्हें भारतीय ही समझा था। जैसा कि मैसिडोनिया के लेखकों ने लिखा है, नीसावाले कहते थे कि हम मूलतः यूनानी हैं। वे अपने यूनानी देवताओं, यूनानी पुराणों तथा परंपरा आदि से परिचित थे*।

§ १३९. उनके राज्य का संघटन कुल-राज्य के ढंग पर था और उनका प्रमुख या प्रधान अकौभि कहलाता था। इस शब्द का कुभा के साथ कुछ संबंध जान पड़ता है, जो काबुल नदी का वैदिक नाम है। इसका अर्थ होता है—कुभा के लोगों (अकौभि) का शासक। अकौभियों ने अपनी मूल जाति के संबंध में जो कुछ कहा था, उस पर सिकंदर के साथियों को विश्वास हो गया था; और उन लोगों ने दस दिनों तक उनके साथ रहकर अपने हेलेनिक ढंग पर खूब दावतें उड़ाई थीं और जशन किए थे। यदि अकौभि लोग मूलतः यूनानी न होते, तो वे यूनानी पौराणिक विषयों से अपनी उतनी अधिक अभिज्ञता कदापि न प्रकट कर सकते, जितनी उन्होंने प्रकट की थी। और न वे मैसिडोनियावालों को इस बात का विश्वास ही करा सकते थे कि हम भी तुम्हारे भाई-बंद हैं।

§ १४०. मनु तथा महाभारत में यवनों, कंबोजों, अंध्रों तथा पुलिंदों का जो उल्लेख है, उससे प्रकट होता है कि उनके प्रजा-

---

* एरियन खंड ५. प्रक० १. एरियन कृत Indika खंड १. जिसमें एरियन ने बिना किसी प्रकार के संदेह के उन्हें यूनानी या भारतीय यूनानी माना है।

तंत्रों ने बहुत ही शीघ्र अपनी स्वतंत्रता खो दी; और उसके खोने के साथ ही साथ उन्होंने अपनी सामाजिक स्वतंत्रता भी खो दी; और तब से वे एक छोटी जाति के रूप में हिंदुओं में सम्मिलित हो गए; क्योंकि हिंदू लोग मानव संघटनों या समाजों को केवल जाति के ही रूप में और जाति के ही ढंग पर देख तथा ग्रहण कर सकते हैं। इसलिये इसका परिणाम यह हुआ कि ये लोग छोटी जातियों में सम्मिलित हो गए और हिंदू शासकों की अधीनता में रहने लगे।

अठारहवाँ प्रकरण

शुंग काल के और उसके परवर्ती प्रजातंत्र

§ १४१. शुंग काल में हमें कुछ ऐसे पुराने प्रजातंत्र मिलते हैं जो मौर्य नीति के बाद भी बच रहे थे। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, इन सब के बहुत ही दृढ़ संघात थे। परंतु शुंग काल में भी कुछ ऐसे प्रजातंत्र थे जो बिलकुल अलग रहते थे और जो किसी संघात में सम्मिलित नहीं थे। इनमें से अधिकांश का तो पता इधर हाल में ही उनके सिक्कों से चला है और जान पड़ता है कि वे नए राज्य थे। पुराने राज्यों में से अधिकांश ऐसे ही हैं जो फिर दोबारा हमें नहीं दिखाई देते; और इससे आवश्यक तथा निश्चित परिणाम यही निकलता है कि मौर्य साम्राज्य के समय में ये सब नष्ट हो गए थे। इन सब का दूसरा नाशक उन उत्तरी क्षत्रपों का विदेशी शासन था जिनकी राजधानी मथुरा में थी। इन बर्बरों की उपस्थिति से भारतीय प्रजातंत्रों के इतिहास में एक नई घटना हो गई; और वह यह कि जो अधिक बलवान् प्रजातंत्र थे, वे हटकर राजपूताने में चले गए।

§ १४२. पुराने प्रजातंत्रवालों में से एक यौधेय लोग भी थे। वे लोग केवल मौर्य साम्राज्य के बाद ही नहीं बच रहे

थे, बल्कि क्षत्रपों और कुशनों के बाद भी बच रहे थे। उन्होंने जो सिक्के चलाए थे, उनसे भी और शिलालेखों में आए हुए उनके संबंध में उनके विपरीत भाववाले उल्लेखों से भी, यह बात प्रमाणित होती है कि उनका अस्तित्व बहुत दिनों तक बना रहा। ईसवी दूसरी शताब्दी भर में सारा देश उनकी वीरता तथा सैनिक बल से आक्रांत था। ईसवी दूसरी शताब्दी में रुद्रदामन् ने उनके संबंध में लिखा है—"सभी क्षत्रियों के सामने अपना यौधेय (युद्ध करनेवाला) नाम चरितार्थ करने के कारण जिन्हें अभिमान हो गया था" और "जो परास्त नहीं किए जा सकते थे*"।

यौधेय

समुद्रगुप्त के शिलालेख में† इनका उल्लेख उन राज्यों के वर्ग में हुआ है जो गुप्त साम्राज्य (ईसवी चौथी शताब्दी) की सीमा निर्धारित करते हैं। भरतपुर राज्य में यौधेयों का एक अद्वितीय शिलालेख मिला है जो एक अलंकृत लिपि में लिखा हुआ है‡ और जिसमें यौधेय गण के निर्वाचित प्रधान का उल्लेख है ('जो प्रधान बनाया गया था' फ्लीट)। यह शिलालेख गुप्त काल का माना जाता है।

---

* सर्वक्षत्राविष्कृत-वीरशब्दजातोत्सेकाभिधेयानां यौधेयानाम्। Epigraphia Indica ८. पृ० ४४.

† फ्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० ८. नेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्म्मालवार्ज्जुनायन-यौधेयमाद्रक........।

‡ फ्लीट कृत Gupta Inscriptions, पृ० २५१. 'वह महाराज, महासेनापति की उपाधि धारण करता था'।

उनके सिक्के, जो शुंग काल से लेकर ईसवी चौथी शताब्दी तक के हैं, पूर्वी पंजाब में सतलज और यमुना के बीच के समस्त प्रदेश में पाए जाते हैं। दिल्ली और करनाल के बीच के सोनपत नामक स्थान में उन सिक्कों के दो बड़े बड़े संग्रह पाए गए हैं* ।

जान पड़ता है कि ईसवी दूसरी शताब्दी से पहले ही वे लोग अपने स्थान से हटकर पश्चिमी राजपूताने की ओर चले गए थे; क्योंकि वहीं पर रुद्रदामन् के साथ उनका मुकाबला हुआ था, और मरु देश रुद्रदामन् के राज्य के अन्तर्गत था। प्रकट यह होता है कि यौधेयों का राज्य बहुत विस्तृत था। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि उन्होंने अपना मूल स्थान आरंभिक कुशन काल में छोड़ा होगा।

§ १४३. यौधेय लोग अपने एक प्रकार (शुंग काल) के सिक्कों पर एक चलते हुए हाथी और एक साँड़ की मूर्त्ति अंकित करते थे। ये सब सिक्के यौधेयों के नाम से अंकित हैं—उन पर 'यौधेयानाम्' (यौधेयों का) अंकित है। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर उन्होंने कार्त्तिकेय की, जो वीरता तथा युद्ध के अधिष्ठाता देवता हैं, मूर्त्ति अंकित की है और उसके नीचे उनका नाम दिया है। वास्तव में स्वयं यह सिक्का ही युद्ध के अधिष्ठाता देवता को समर्पित किया गया है। दूसरे शब्दों में यही मूर्त्ति

---

* भगवती स्वामिन ब्राह्मण्यदेवस्य। वि० स्मिथ कृत Catalogue of Coins I. M. खंड १. पृ० १८१.

उनकी स्वतंत्रता की मूर्त्ति है। उनके तीसरे प्रकार के सिक्के शुद्ध राष्ट्रीय हैं और राजकीय दृष्टि से बनाए गए हैं। वे यौधेय गण या यौधेय पार्लिमेंट या यौधेय प्रजातंत्र के नाम के हैं। उन पर 'यौधेय-गणस्य जय' (यौधेय गण की जय) अंकित है। उन पर एक योद्धा की मूर्त्ति अंकित है जो हाथ में भाला लिए हुए है और शान से त्रिभंग भाव से खड़ा हुआ है। यही मानों उनके नागरिक योद्धा की मूर्त्ति है। कुछ सिक्कों पर द्वि (दो) और कुछ सिक्कों पर त्रि (तीन) अंकित है*। संभवतः इससे पतंजलि के त्रिक् शालंकायनों† की भाँति उनके तीन विभाग सूचित होते हैं।

शिलालेखों के अनुसार यौधेयों की शासन-प्रणाली

§ १४४. यौधेयों के शिलालेख से प्रमाणित होता है कि उन लोगों में निर्वाचित सभापति या प्रधान हुआ करता था। इसने एक आज्ञा प्रचलित की थी जिसमें उसने अपने आपको "यौधेयों के गण का बनाया हुआ प्रधान" कहा है‡। यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि होशियारपुर जिले में जो लेख आदि पाए गए हैं, वे राजकीय मोहरों या सिक्कों

---

* कनिंघम कृत Coins of Ancient India पृ० ७५-७६. कनिंघम A. S. R. खंड १४. पृ० १४१–४२.

† पतंजलि का महाभाष्य ५. १. ५८.।

‡ विजयगढ़ का शिलालेख (फ्लीट कृत Gupta Inscription पृ० २५२.)—

की छाप हैं अथवा और कुछ। अवश्य ही सिक्के और मोहर पर वही संघवाले लक्षण अंकित होने चाहिएँ। राजकीय अथवा शासन की दृष्टि से इन लेखों का महत्व बहुत अधिक है। वे यौधेयों तथा उनके मंत्रिमंडल या कार्यकारिणी समिति के नाम के हैं। इन्हें वे मंत्रधर कहते थे अर्थात् जिनके हाथ में राज्य की नीति हो। (यौधेयानां जय मंत्रधराणाम्* ।)

उनका अंत

§ १४५. सातवीं शताब्दी से कुछ पहले ही इतिहास में यौधेयों का अंत हो जाता है—कहीं पता नहीं चलता; क्योंकि वराहमिहिर ने उनका केवल परंपरागत भौगोलिक वृत्तांत दिया है और उन्हें गंधारों के साथ रखा है। उस समय उसके सामने कोई प्रत्यक्ष और सजीव प्रमाण या आधार नहीं था। सतलज नदी के तट पर बहावलपुर रियासत की सीमा पर जो जोहिया राजपूत पाए जाते हैं, वे ही इन प्राचीन यौधेयों के आधुनिक

सिद्धम् । यौधेय-गण-पुरस्कृतस्य महाराज-महासेनापतेः

पु........ब्राह्मणपुरोगं चाधिष्ठानं शरीरादिकुशलं पृष्ट्वा

लिखत्यस्तिरस्मा...... ।

अर्थात्—"सिद्धि हो। महाराज महासेनापति की जो प्रमुख (नेता) बनाए गए हैं यौधेय गण के द्वारा............... ।

"(वह) ब्राह्मण सरदार तथा अधिष्ठान के शारीरिक कुशल की कामना करता हुआ

लिखता—है 'वहाँ पर...... ।'

* एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल का कार्य्यविवरण, १८८४. पृ० १३८-४०.

प्रतिनिधि और वंशज माने जाते हैं*। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी और प्रादेशिक या सीमा की दृष्टि से भी यह बात बहुत ठीक जान पड़ती है।

§ १४६. पहले मद्र लोगों की राजधानी शाकल में थी और उन्होंने शाकल के आसपास के प्रदेश का नाम अपने नाम पर मद्र रखा था। परंतु पीछे से ये लोग भी नीचे की ओर उतर आए थे और यौधेयों के पड़ोसी हो गए थे। ये लोग भी समुद्रगुप्त के साथ लड़े थे। इससे आगे का उनका और कोई इतिहास नहीं मिलता। ये भी अपने मित्रों की भाँति अदृश्य हो जाते हैं। जान पड़ता है कि मद्र लोग पुरानी लकीर के फकीर ही थे और उन्होंने हस्ताक्षर-युक्त सिक्के प्रचलित करने का नया ढंग नहीं ग्रहण किया था। वे अपने सिक्कों के लिये पुराने अंक-चिह्नों का ही उपयोग करते थे। उनका एक भी ऐसा सिक्का नहीं मिलता जिस पर किसी प्रकार का लेख अंकित हो।

मद्र

§ १४७. शुंग काल में मालव और क्षुद्रक फिर प्रकट हो आते हैं। पतंजलि तो उनसे परिचित है और उसने क्षुद्रकों की कुछ ऐसी विजयों का उल्लेख किया है जो उन्होंने स्वयं प्राप्त की थीं†। पर उसके बाद की शताब्दियों में उनका कहीं पता नहीं

मालव और क्षुद्रक

* कनिंघम, A. S. R. खंड १४ पृ० १४०.

† पतंजलि का महाभाष्य ४. ३. ४२.

चलता। जिस समय क्षुद्रक लोग पंजाब से पूर्वी राजपूताने की ओर जाने लगे थे, संभवतः उसी समय वे लोग पूरी तरह से मालवों में मिल गए थे। करकोट नागर (जयपुर राज्य) में मालवों के जो आरंभिक सिक्के मिले हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि मालव लोग ई० पू० सन् १५० या १०० तक अपने नए निवासस्थान में पहुँच गए थे*। ठीक यही समय पार्थियन शकों के आगमन और आक्रमण का था। जान पड़ता है कि मालव लोग भटिंडा (पटियाला राज्य) के रास्ते से गए थे, जहाँ वे अपने नाम के चिह्न छोड़ गए हैं। (यह चिह्न मालवई नामक बोली के रूप में है, जो फीरोजपुर से भटिंडा तक बोली जाती है। Linguistic Survey of India, खंड ९. १. पृ० ७०९.) ई० पू० सन् ५८ से पहले मालव लोगों ने अजमेर के पश्चिम में उत्तमभद्रों पर घेरा डाला था और नहपान की सेना ने आकर वह घेरा हटाया था†।

§ १४८. ई० पू० सन् ५८ में‡ गौतमीपुत्र के द्वारा नहपान परास्त और निहत हुआ था। गौतमीपुत्र ने नहपान के सिक्के फिर से ढाले थे और मालवों के गण ने उसी तिथि से

---

* विन्सेन्ट स्मिथ कृत Catalogue of Coins I. M. C. खंड १. पृ० १६१.

† कनिंघम, A. S. R. खंड १४, पृ० १५०.

‡ Epigraphia Indica, खंड ८. पृ० ४४. जायसवाल। Historical position of Kalki etc. I. A. १९१७. पृ० १५१-२.

कृतयुग का आरंभ माना था*। उनके गण ने भविष्य में काल का ज्ञान या गणना करने के लिये (कालज्ञानाय†) वही तिथि ग्रहण की थी। उनके व्यवहार के कारण ही वह संवत् "प्रामाणिक और सर्वसम्मत हो गया" था‡। विक्रम (बल या वीरता) का संवत् अभी तक प्रचलित है और हम लोग आज तक उसका व्यवहार करते हैं। इसके बाद मालव लोगों ने नागर के दक्षिण का विस्तृत भूभाग अपने अधिकार में कर लिया; और अब उस प्रदेश का नाम उन्हीं के नाम पर स्थायी रूप से (मालव या मालवा) पड़ गया है। यौधेय, मद्र, आर्जुनायन आदि प्रजातंत्रों के साथ मालवों का नाम भी समुद्र-गुप्त के विरोधियों की सूची में दिया हुआ है। फिर गुप्त काल में उनका कहीं पता नहीं चलता। चौथी से छठी शताब्दी तक मालव के बड़े बड़े राजा उन्हीं के संवत् का व्यवहार करते थे। यदि मालव गण उस समय तक अवस्थित होते, तो यह बात कदापि न होती; क्योंकि इससे यह सूचित होता कि उस संवत् का व्यवहार करनेवाले राजा लोग मालव गण के अधीन हैं। अवश्य ही वराहमिहिर के समय में, जिसने उन्हें

---

* देखो Gupta Inscriptions में कृत के संबंध का उल्लेख जिनकी तिथियाँ मालव संवत् में ही हैं।

† फ्लीट कृत Gupta Inscriptions, पृ० १२४.

‡ Epigraphia Indica खंड १९. पृ० ३२०. (श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृत-संज्ञके)

(पुरानी सामग्री के आधार पर) हिमालय के पास के निवासी बतलाया है, उन लोगों का अस्तित्व नहीं रह गया था। वराह-मिहिर स्वयं मालव में रहता था। ऐसी दशा में जब उसने इतनी अधिक पुरानी बात का उल्लेख किया है, तो उससे यही सूचित होता है कि असल मालवों का कई शताब्दी पहले से ही अस्तित्व नहीं रह गया था। विष्णुपुराण में* उनका बाद का ही निवासस्थान (मेवाड़-जयपुर) दिया हुआ है और वह बहुत ठीक है।

§ १४९. मालवों के सिक्कों† पर ब्राह्मी लिपि के लेख हैं। उन पर ब्राह्मी में मालवानाम् जय, मालवजय, मालवह्न जय (प्राकृत में) और मालवगणस्य लिखा मिलता है। मालव नाम का अवशिष्ट अब तक उस प्रांत के निवासी ब्राह्मणों में मिलता है जो मालवी कहलाते हैं। अब इस शब्द को संस्कृत रूप दे दिया गया है और यह मालवीय बना लिया गया है। ये मालवी ब्राह्मण गौर वर्ण के और सुंदर होते हैं, विशेष रूप से बुद्धिमान् होते हैं और इनमें व्यापार-बुद्धि अधिक देखने में आती है। ये अपनी जाति या समाज के बाहर किसी के साथ विवाह-संबंध स्थापित नहीं करते। ये लोग बढ़ते बढ़ते इलाहाबाद तक आकर बस गए हैं और अब प्रायः वहीं तथा उसके आसपास पाए जाते हैं।

---

* विष्णुपुराण W. and H. २. १३३.

† C. C. I. M. पृ० १७०-४.

§ १५०. जिस प्रांत में मालव लोग बाद में जाकर बसे थे, उसी में शिबि लोग भी दिखलाई पड़ते हैं। सिकंदर के समय में शिबि लोग मालवों के साथी थे; और यूनानी लेखकों के कथनानुसार ये लोग बहुत जंगली थे या कम से कम युद्ध में बिलकुल जंगलियों के से कपड़े पहना करते थे। जान पड़ता है कि ये लोग मालवों के साथ ही राजपूताने गए थे; और वहीं चित्तौर के निकट नगरी नामक स्थान में इनके सिक्के पाए जाते हैं। उन सिक्कों पर 'मझिमिकाय शिबि जनपदस' अर्थात् मध्यमिका के शिबि देश या जाति का नाम अंकित रहता है *। ई० पू० पहली शताब्दी के बाद का उनके अस्तित्व का कोई प्रमाण या लेख आदि अभी तक नहीं मिला है।

शिबि

§ १५१. आर्जुनायन लोगों का पता न तो पाणिनि† या पतंजलि में और न महाभारत‡ में ही लगता है। परंतु गण-पाठ के राजन्य-वर्ग में ये लोग सम्मिलित कर दिए गए हैं। कदाचित् ये लोग बहुत बाद में हुए थे और इसी लिये इनका उल्लेख भी अंत में ही है।

आर्जुनायन

* कनिंघम, A.S.R. खंड १४. पृ० १४६. मध्यमिका (जिससे पतंजलि परिचित था) इनकी राजधानी थी।

† पहले पहल इनका उल्लेख पाणिनि के गणपाठ (४. १. ११२.) में मिलता है।

‡ देखो § १५३. महाभारत में उल्लिखित राजपूताने के प्रजातंत्रों का विवेचन।

इस वर्ग में इनकी जो गणना हुई है, वह पतंजलि के समय के बाद की नहीं है; क्योंकि ई० पू० सन् १०० में ये लोग राजन्यों से बहुत दूर और राजपूताने में रहते थे। वहाँ वे यौधेयों तथा और लोगों के साथ मिलते हैं और बराबर समुद्रगुप्त के समय तक उनका उल्लेख पाया जाता है। इससे पता चलता है कि आर्जुनायनों का राजनीतिक समाज बहुत बाद में और संभवतः शुंग काल (ई० पू० २००) में स्थापित हुआ था; और जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसका संस्थापक आर्जुनायन था। इनके सिक्कों पर केवल ब्राह्मी लिपि पाई जाती है, जिससे यह सूचित होता है कि ई० पू० १०० में उत्तरवालों के साथ इनका कोई संबंध नहीं था। इनके सिक्कों पर 'आर्जुनायन' या 'आर्जुनायन जय' लिखा रहता है*। राजपूताने में इनके साथी और मित्र वीर यौधेय, मद्रक और मालव लोग थे जिनके साथ चलकर ये वहाँ गए थे।

§ १५२. इन लोगों का उर्वर पंजाब प्रदेश से चलकर राजपूताने की मरुभूमि में जाना इनके स्वातंत्र्य-प्रेम का प्रमाण है; और जैसा कि सिकंदर के समय में इनमें से एक ने कहा था, ये अजेय प्रजातंत्र अन्यान्य प्रजातंत्रों की अपेक्षा अधिक स्वातंत्र्य-प्रेमी

प्रजातंत्रों के स्थान-परिवर्तन का अभिप्राय

* विन्सेन्ट स्मिथ कृत C. C. I. M. भाग १. पृ० १६६. रैप्सन I.C. प्लेट ३. २०.

थे*। उनका विश्वास यह था कि यौधेय और मालव-गण जहाँ रहेंगे और जहाँ प्राचीन काल की भाँति स्वतंत्रता-पूर्वक रहेंगे, वहीं यौधेय या मालव देश भी होगा। वे अपनी राजनीतिक सत्ता तथा आत्मा का अस्तित्व बनाए रखने के लिये अपने पूर्वजों का निवासस्थान तथा देश तक छोड़ देते थे। वे मरु प्रदेश तक में चले जाते थे, पर रहते सदा प्रजा-तंत्री या पार्लिमेंट के शासन में थे। हिंदू राजनीति का यह एक निश्चित सिद्धांत है कि निवासस्थान की अपेक्षा स्वतंत्रता का महत्व कहीं अधिक है और निवासस्थान छोड़कर भी स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए। जान पड़ता है कि प्रजातंत्रों ने ठीक ठीक इसी सिद्धांत के अनुसार काम किया था।

§ १५३. सिक्कों तथा शिलालेखों आदि से इन प्रजातंत्रों के अपने स्थान से हटकर राजपूताने जाने का जो प्रमाण मिलता है, उसके अतिरिक्त एक और प्रमाण महाभारत का भी है। सभापर्व (अध्याय ३२) में मालव, शिबि और त्रिगर्त लोग राजपूताने में बतलाए गए हैं; पर एक दूसरे स्थान (अध्याय ५२) में वे पंजाब में कहे गए हैं। जान पड़ता है कि ५२ वें अध्याय में राजसूय के विवरण में जो कुछ कहा गया है, वह ज्यादा पहले

महाभारत में राजपूताने के प्रजातंत्र

---

* मैक्क्रिंडल कृत Alexander पृ० १२४. "मालवों ने अपने संबंध में कहा था—हम लोगों को औरों की अपेक्षा स्वतंत्रता तथा स्वशासन बहुत अधिक प्रिय है।"

की बातों के आधार पर है। वहाँ शिबियों, त्रिगर्तों, यौधेयों, राजन्यों और मद्रों का उल्लेख काश्मीर और केकय देश के लोगों के साथ हुआ है। और उसी वर्ग में अंबष्ठ लोग क्षुद्रकों और मालवों के साथ रखे गए हैं। ३२ वें अध्याय में, (जिसमें दिग्विजय का वर्णन है) शिबि, त्रिगर्त और मालव लोग दशार्णों और माध्यमकेयों के साथ रखे गए हैं। माध्यमकेय लोग उदयपुर राज्य के नगरी नामक स्थान के समीप की मध्यमिका नगरी के रहनेवाले थे, जहाँ माध्यमकेय सिक्के बहुत अधिक संख्या में पाए गए हैं। जान पड़ता है कि उस समय तक मध्यमिका नगरी पर शिबियों का अधिकार नहीं हुआ था और वहाँ एक अलग राजनीतिक समाज या वर्ग के लोग रहा करते थे। इसके आगे के मार्ग का जो वर्णन है, उसमें सरस्वती नदी और मत्स्य देश (अलवर) का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये सब गण राजपूताने में सिंध और विंध्य के बीच में थे। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि शिबियों, त्रिगर्तों और अंबष्ठों का तो राजपूताने में मालवों के साथ उल्लेख मिलता है, पर क्षुद्रकों का उल्लेख नहीं मिलता।

§ १५४. इसके अतिरिक्त ३०वें अध्याय के आठवें श्लोक में मालवों का उल्लेख मत्स्यों के साथ हुआ है। महाभारत में बाद के जो उल्लेख आदि हैं, जान पड़ता है कि, वे ई० पू० लगभग १५० की राजनीतिक घटनाओं से संबंध रखते हैं। पर आरंभिक काल के जो उल्लेख आदि हैं, वे कौटिल्य के समय के या

उससे भी पहले के हैं; क्योंकि अर्थशास्त्र की भाँति उनमें भी कुकुर लोग मद्रकों और यौधेयों आदि के साथ रखे गए हैं। ५२वें अध्याय के अनुसार पंजाब में इस समय तक भी ये सब प्रजातंत्र अवस्थित थे।

ई० पू० १०० के उल्लेख में अर्थात् ३२वें अध्याय में महाभारत में कुछ ऐसे प्रजातंत्रों का उल्लेख है जो उससे पहले के साहित्य में नहीं मिलते। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) उत्सवसंकेतों के गण,

(२) शूद्रों और आभीरों के प्रजातंत्र, जो सिंधु नद की तराई में बतलाए गए हैं।

जान पड़ता है कि शूद्रों का प्रजातंत्र वही है जो दक्षिणी या नीचे के सिंध में सिकंदर को मिला था और जिसके संबंध में हम पहले ही* यह कह चुके हैं कि ये लोग शौद्र या गण-पाठ के शौद्रायण हैं। व्याकरण के अनुसार यह निश्चित है कि इनका यह नाम किसी व्यक्ति-विशेष शूद्र के नाम पर पड़ा था, शूद्र जाति के नाम से इसका कोई संबंध नहीं था। संभव है कि पंचकर्पटों और उत्सवसंकेतों के पड़ोसियों में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित रही हो। यद्यपि महाभारत में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि समुद्रगुप्त ने† आभीरों को माद्रकों के ठीक बाद में रखा है और

* देखो ऊपर पृ० १२० का पहला नोट।

† समुद्रगुप्त के शिलालेखों में जिन एकराज-रहित समाजों का

खरपरिकों को भी उसी वर्ग में, एकराज-रहित समाजों के वर्ग में, रखा है। संभवतः ये खरपरिक या खरपर लोग महाभारत में आए हुए पंचकर्पट ही हैं। उत्सवसंकेतों में भी प्रजातंत्र शासन-प्रणाली थी और संभवतः उनका नामकरण उत्सव और संकेत नाम के दो व्यक्तियों के नाम पर पड़ा था। यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि "संकेत" शब्द किसी प्रजातंत्र द्वारा स्वीकृत किए हुए किसी निश्चय या नियम आदि का सूचक एक पारिभाषिक शब्द भी है (संकेतः समयक्रिया*)। और यह बात बहुत संभव है कि यहाँ संकेत शब्द आरंभ में उत्सवों के स्वीकृत किए हुए किसी प्रस्ताव या निश्चय के आधार पर स्थापित राज्य का सूचक हो। महाभारत में उत्सवसंकेतों का स्थान पुष्कर या अजमेर के पास

उल्लेख है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१ प्रार्जुन, २ काक, ३ आभीर, ४ खरपरिक और ५ सनकानीक। कौटिल्य ने जहाँ किसी राज्य को बदनाम करनेवाले को (जनपदोपवादाः ३ १८.) दंड देने का उल्लेख किया है, वहाँ उदाहरण स्वरूप गांधार के साथ प्राज्जूणक भी दिया है। ये वही नं० १ वाले प्राजुर्न जान पड़ते हैं। शिलालेखों के अनुसार नं० ३ वाले आभीर लोग एकराज के अधीन थे। पर जान पड़ता है कि जब उनका बल नष्ट कर दिया गया, तब उन्होंने अपने पड़ोसियों की शासन-प्रणाली ग्रहण कर ली थी। चौथे खरपरिकों का नाम राय बहादुर बा० हीरालाल को बाद के एक शिलालेख में मिला है। पाँचवें सनकानीकों के संबंध में अभी तक और कुछ मालूम नहीं हुआ है। पंचखरपरिकों के संबंध में देखो नीचे § १६२.

* वीरमित्रोदय पृ० ४२४.

बतलाया गया है। जान पड़ता है कि ये लोग गुप्त काल तक नहीं रह गए थे; क्योंकि उस समय के उनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। केवल यही बात नहीं है कि गुप्त काल के लेखों आदि में उनका कोई उल्लेख न हो, बल्कि गुप्त काल के कवि कालिदास ने उनका उल्लेख हिमालय में रहनेवाले एक अर्ध-पौराणिक लोगों की भाँति किया है। इससे प्रकट होता है कि उत्सवसंकेतों का बहुत पहले से अस्तित्व नहीं रह गया था। उसी पद में महाभारत में यह भी कहा गया है—"सिंधु-तट के रहनेवाले महाबली ग्रामणी"*। जान पड़ता है कि ये सिंधु-तट के वही नगर प्रजातंत्र थे जो सिकंदर के समय में वर्तमान थे।

§ १५५. अपने इन नए निवासस्थानों में भी ये प्रजातंत्र बहुत बलवान् थे और इनका अस्तित्व बहुत समय तक था, जिससे सूचित होता है कि ई० पू० १५० से ई० पू० ३५० तक भी हिंदू प्रजातंत्र नीति का बहुत अच्छा प्रचार था। यह राजपूताने के प्रजातंत्रों के उदय या उत्थान का समय था।

पर साथ ही यह भी वही समय था जिसमें पंजाब और पश्चिमी भारत के प्रजातंत्रों का पतन और अंत हो रहा था। पार्थिया और सीस्तान के शकों ने, जो इन प्रदेशों में बराबर बढ़ते हुए चले गए थे, इन लोगों की स्वतंत्रता नष्ट कर दी थी और इनके राज्यों का अंत कर दिया था।

---

* देखो ऊपर। सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः।

§ १५६. अर्थशास्त्र में जिन कुकुरों का उल्लेख है, वे कुकुर रुद्रदामन् के राज्य में मिलकर नष्ट हो गए थे। ई० पू० १५० के बाद वे अपना नाम उसी देश के नाम के रूप में छोड़ गए थे जिसमें वे पहले रहते थे। पितिनिक लोग संभवतः मौर्य काल में नष्ट हुए थे और वे अपने पश्चात् अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ गए।

सुराष्ट्र लोग भी ईसवी दूसरी शताब्दी के लगभग साधारण मानव समाज में मिल गए थे; उनका कोई स्वतंत्र और पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया था।

§ १५७. प्राचीन काल में जो वृष्णि इतने कीर्त्तिशाली थे, वे भी शक बर्बरों के द्वारा नष्ट हो गए और संसार को अपनी कथा सुनाने के लिये केवल थोड़े से सिक्के छोड़ गए। पुराना ब्राह्मी और प्रजातंत्री लेख 'वृष्णि-राजन्य-गणस्य त्रातस्य' (वृष्णि राजन्य (और) गण के देश का त्राता या रक्षक) अब तक बचा हुआ है। पर साथ ही उन सिक्कों को विवश होकर आक्रमणकारियों की लिपि खरोष्ठी भी ग्रहण करनी पड़ी है। इस सिक्के पर राजचिह्न या लक्षण के रूप में एक चक्र अंकित है, जो पुरानी कथाओं के अनुसार राजन्य कृष्ण के समय से उनका चिह्न चला आता था। यह लेख ई० पू० १०० की लिपि में है*।

वृष्णि

* देखो ऊपर § ३७ पृ० ६६। कनिंघम ने Coins of Ancient India पृ० ७०. प्लेट ४. १५. में इस चक्र को भूल से रथ का

§ १५८. मौर्य शासन की प्रजातंत्रों को नष्ट करनेवाली नीति के परिणाम स्वरूप देश बहुत ही दुर्बल हो गया था; और इसी लिये ई० पू० पहली शताब्दी में विदेशी बर्बरों के लिये पश्चिमी भारत में आने का मार्ग सुगम हो गया था। वे सिंध से महाराष्ट्र प्रदेश तक बहुत आसानी से रह सकते थे। कोई ऐसा बलवान् नहीं रह गया था जो उनका मुकाबला कर सकता। पर और और दिशाओं में ठीक यही बात नहीं थी। ये बर्बर लोग मथुरा तक तो बढ़ते चले गए थे, पर उसके बाद पश्चिम और दक्षिण दोनों दिशाओं में वे पुराने प्रजातंत्रों के द्वारा रोके गए थे। मथुरा और उज्जैन में तो विदेशियों ने अपने पैर जमा लिए थे, पर बीच का प्रदेश उनके हाथ नहीं लग सका था।

§ १५९. जब स्वतंत्र होने के कारण कोई बहुत बलवान् हो जाता है, तब प्रकृति उससे उसके बल का मूल्य ले लेती है; और यह मूल्य किसी न किसी दंड के रूप में होता है। पंजाब के पुराने प्रजातंत्रों को भी यह मूल्य चुकाना पड़ा था। मौर्यों के शासन काल में पंजाब के छोटे छोटे प्रजातंत्र नाम मात्र के लिये ही रह गए थे। उनका वास्तविक बल तो नष्ट हो गया था, केवल राजनीतिक नाम बच रहा था। उनके संघ नहीं रह गए थे, केवल गण ही गण थे। वे अपना शासन तो आप

चक्र या पहिया समझ लिया है, पर उसके किनारे पर के तेज दाँत और उनके संयोजक अंग स्पष्ट दिखाई देते हैं।

करते थे, पर उनका कोई राज्य नहीं रह गया था; और नाम मात्र के लिये जो राज्य था भी, उसमें कोई शक्ति नहीं रह गई थी।

§ १६०. यही दशा प्राचीन राजन्यों की भी हो गई थी जो फिर दोबारा ई० पू० २००—१०० में सामने आते हैं; पर इसके उपरांत वे फिर सदा के लिये अदृश्य हो जाते हैं।

राजन्य

उन्होंने अपने सिक्के (ई० पू० २०० १००) अपने देश के नाम से अंकित किए थे। उन पर लिखा रहता था—"राजन्य जनपदस"*।

मुद्राशास्त्र के विद्वानों ने इस राजन्य शब्द को 'क्षत्रिय शब्द का प्रसिद्ध पर्याय' माना है (देखो वि० स्मिथ कृत Catalogue of the Coins in the Indian Museum भाग १. पृ० १६४.); परंतु यह भूल है। राजन्य एक विशिष्ट राजनीतिक समाज या वर्ग का नाम है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि ने और साथ ही महाभारत ने भी स्पष्टतः यही कहा है। उनके सिक्के उसी पुराने ढंग के हैं जिसे पाणिनि (५. १. २५.) ने कांशिक (काँसे का) अर्थात् ढाला हुआ कहा है। उनके ठप्पेवाले जो सिक्के हैं, उन पर का लेख खरोष्ठी लिपि में है। वे सिक्के उत्तरीय क्षत्रपों के सिक्कों से बहुत मिलते जुलते हैं और उन पर इन्हीं सिक्कों की तरह की आकृतियाँ बनी

* कनिंघम कृत C. A. I. पृ० ६६.

हुई हैं। इसी से मालूम हो जाता है कि अंत में उनकी क्या दशा हुई; अर्थात् अंत में उन्होंने मथुरा की क्षत्रपी में मिलकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व नष्ट कर दिया था। उनके सिक्के होशियार-पुर जिले और मथुरा में पाए जाते हैं। जान पड़ता है कि आरंभ में उनका निवासस्थान होशियारपुर जिले में ही था।

इन लोगों की शासन-प्रणाली के जनपद शब्द पर बहुत जोर दिया जाता था, जिससे यह सिद्ध होता है कि इनमें समस्त जनपद ही राजा या शासक माना जाता था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि राजन्यों के संबंध में पाणिनि का जो सूत्र है, उसमें भी राजन्य जनपद का ही उल्लेख है। अतः इससे सिद्ध है कि राजन्यों का भी प्रजातंत्र ही था।

§ १६१. एक और पुराना राज्य महाराज-जनपद था, पर उसकी भी वही दशा हुई जो राजन्य जनपद की हुई थी।

महाराज जनपद

पहले उनके सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि में 'महाराज जनपदस' (महाराज जनपद का) लिखा रहता था; पर बाद में जब उन लोगों पर विदेशी शासकों का प्रभाव पड़ा और वे उनके अधिकार में चले गए, तब उस ब्राह्मी लिपि का स्थान खरोष्ठी ने ले लिया*।

---

* देखो कनिंघम कृत C. A. I. पृ० ६९, जिसमें उन्होंने इन सिक्कों को भूल से औदुंबर सिक्कों के वर्ग में रख दिया है। कनिंघम ने प्रिंसेप के जिस प्लेट का उल्लेख किया है, वह भी देखना और मिलाना चाहिए।

यह राज्य पुराना था, क्योंकि पाणिनि ने इसका उल्लेख एक सूत्र में किया है जिसमें उसके प्रति भक्ति रखनेवाले की बात आई है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि के समय में इस राज्य में किस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित थी; परंतु जैसा कि इसके सिक्कों से प्रमाणित होता है, शुंग काल में इस राज्य में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी। इसके सिक्के पंजाब में पाए गए हैं। इन लोगों के सिक्कों पर दूसरी ओर जो साँड़ और बाल चन्द्र की मूर्त्ति अंकित है, उससे सूचित होता है कि ये लोग शैव थे।

§ १६२. जब मौर्य काल का अंत होने लगा और मौर्य लोग दुर्बल होने लगे, तब भी आर्जुनायनों की भाँति कुछ नए प्रजातंत्रों की सृष्टि हुई थी। इस वर्ग में कात्यायन और पतंजलि* के वामरथ और पतंजलि† के शालंकायन लोग हैं।

वामरथ और शालंकायन

इन लोगों का पता न तो इस काल के उपरांत लगता है और न इससे पहले के काल में इनका कहीं नाम सुनाई पड़ता है। शालंकायनों के संबंध में काशिका से हमें यह पता चलता है कि ये लोग वाहीक देश में रहते थे। इस बात का

* पाणिनि ४. १. १५१. पर भाष्य।

† पतंजलि का महाभाष्य ५. १. ५८. त्रिकाः शालंकायनाः। काशिका पृ० ४५६.

समर्थन गण-पाठ से भी होता है, जिसमें ये लोग राजन्यों और औदुंबरों के साथ रखे गए हैं।

इन लोगों में शस्त्रोपजीवी शासन-प्रणाली प्रचलित थी। पतंजलि से महत्व की एक यह बात मालूम होती है कि शालंकायनों में तीन विभाग थे। इस प्रमाण से हमें यौधेयों के सिक्कों के संबंध में एक बात समझने में सहायता मिलती है। यह कहना ठीक नहीं है कि शालंकायनों में तीन जातियाँ मिली हुई थीं। जैसा कि इस राज्य के नाम से सूचित होता है, इसकी स्थापना करनेवाला कोई एक शालंकायन था अर्थात् शालंक का अपत्य या वंशज था; और यह शालंक नाम भी किसी बहुत प्राचीन गोत्र या वंश का नाम नहीं है। शालंकायन संघ के जो तीन सदस्य थे, वे संभवतः तीन छोटे छोटे राज्य थे।

§ १६३. वामरथों का अभी तक कोई इतिहास नहीं मिला है। पतंजलि के अनुसार यह प्रजातंत्र अपने विद्वानों के पांडित्य के लिये प्रसिद्ध था। इस दृष्टि से ये लोग कठों के समान थे। परंतु इस बात का कोई पता नहीं चलता कि ये लोग कठों के समान ही वीर और योद्धा भी होते थे। यह भी पता नहीं चलता कि इनका स्थान कौन सा था। इन नए जन्म लेनेवाले और जल्दी ही समाप्त हो जानेवाले प्रजातंत्रों के वर्ग में कुछ ऐसे बिना नामवाले राज्य भी आ सकते हैं, जिनमें राजन्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी और जिनके सिक्के केवल उनके राजन्यों (प्रधानों या सभापतियों) के नाम से अंकित होते

थे। उदाहरणार्थ 'राजन्य-महमितस' अर्थात् राजन्य महामित्र का। इस प्रकार के सिक्कों पर के लेख खरोष्ठी और ब्राह्मी दोनों लिपियों में हैं और ये सिक्के पहाड़ियों में पाए जाते हैं*।

§ १६४. आरंभिक पाणिनि-काल के साहित्य में औदुंबरों का कहीं पता नहीं चलता। परंतु गण-पाठ में ये लोग गणों के राजन्य-वर्ग में उल्लिखित हैं†। महाभारत के सभापर्व (अध्याय ५२) में पंजाब के गणों या प्रजातंत्रों की जो पहलेवाली सूची दी हुई है, उसमें इनका नाम सब से पहले आया है। संभवतः इन लोगों में भी प्रजातंत्र या गण शासन-प्रणाली ही प्रचलित थी। इन लोगों के ई० पू० पहली शताब्दी के सिक्के उत्तरी पंजाब में पाए जाते हैं और उन पर खरोष्ठी तथा ब्राह्मी दोनों लिपियों के लेख मिलते हैं। वराहमिहिर ने इन्हें कपिस्थलों के साथ रखा है, जो पतंजलि में कठों के साथ एक द्वंद्व में मिलते हैं। इन लोगों का स्थान काँगड़े और अंबाले के बीच में कहीं था। जान पड़ता है कि इन लोगों की एक शाखा जाकर कच्छ में भी बस गई थी; क्योंकि प्लिनी ने औदुंबरों (Odomboeres) का स्थान वहीं बतलाया है। इनके सिक्के भी आर्जुनायनों के सिक्कों के ही ढंग के हैं। इन सिक्कों से सूचित होता है कि औदुंबरों में (यदि उनमें प्रजातंत्र या गण शासन-प्रणाली प्रचलित

औदुंबर

---

* कनिंघम कृत C. A. I. पृ० ६६.

† गण-पाठ ४. २. ५३.

थी तो) निर्वाचित राजा हुआ करता था। इनके सिक्कों पर राजा का भी नाम होता था और समाज का भी; (उदाहरणार्थ महदेवस रण धरघोषस ओदुंबरिस) और इनके राजा महादेव या महाराज कहलाते थे। इनके सिक्कों पर के लक्षणों में एक वृक्ष, ऊँचे खंभों और ढालुआँ छत का एक भवन, जो कदाचित् उनके मंत्रणा-गृह या किसी दूसरी सार्वजनिक इमारत का सूचक होगा, और उनकी ध्वजा का चिह्न होता है जिसे कनिंघम ने भ्रम से धर्मचक्र समझ लिया है। इस पर "विश्वमित्र" लिखा हुआ है और उसके ऊपर एक ऋषि की मूर्त्ति अंकित है। कदाचित् विश्वामित्र इनके जातीय गुरु और ऋषि थे*।

इन सिक्कों पर की खरोष्ठी लिपि से यह सूचित होता है कि ई० पू० १०० के लगभग ये लोग भी पंजाब के अपने पड़ोसियों की भाँति क्षत्रपों के प्रभाव में चले गए थे और अंत में हजम हो गए थे। इसके परवर्ती काल में इन लोगों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इनकी जो शाखा कच्छ में जा बसी थी, जान पड़ता है, वह अधिक समय तक अवस्थित थी। ये लोग अपने वंशज छोड़ गए हैं, जो आजकल के गुजराती ब्राह्मणों के अंतर्गत हैं और औदुंबर ही कहलाते हैं।

---

* रैप्सन कृत प्लेट ३. ८. कनिंघम कृत C. A. I. पृ० ६६-६८. इन्होंने जिन बहुत से सिक्कों को औदुंबरों के सिक्के मान लिया है, वे वास्तव में औदुंबरों के नहीं हैं। देखो A.S.R. खंड १४. पृ० १३५-६ में इनका दिया हुआ महत्वपूर्ण नोट।

उन्नीसवाँ प्रकरण

लोप

§ १६५. राजपूताने में जो प्रजातंत्र या गण शासन-प्रणाली प्रचलित थी, उस पर गुप्त शक्ति ने आघात किया था। गुप्तों के साम्राज्य की स्थापना प्रजातंत्री लिच्छवियों के मेल या मित्रता से ही हुई थी *, जो मौर्य और शुंग काल के उपरांत भी बच रहे थे और बहुत अधिक बलवान् हो गए थे। वे बल तथा वैभव में अपने प्राचीन समकालीनों से बहुत बढ़े चढ़े थे और प्राचीन प्रजातंत्रियों में से वही अकेले बच रहे थे।

गुप्त और गण शासन

§ १६६. इसी समय के लगभग राजपूताने में प्राचीन प्रजातंत्रों या गणों के भग्नावशेष पर एक नए प्रजातंत्र या गण की रचना हुई थी। जैसा कि इसके नाम से सूचित होता है, इसकी स्थापना किसी पुष्यमित्र ने की थी। पुराणों में विदिशा और उसके आसपास के अंध्र काल के बाद के जिन शासकों का उल्लेख है, उनमें कांचनका नाम की एक नई राजधानी के शासकों का भी नाम आया है। कांचनका के अंतिम शासक, जो

पुष्यमित्र

---

* गुप्त साम्राज्य के सिक्कों पर सम्राट् चंद्रगुप्त प्रथम के नाम के साथ साथ इन लोगों का नाम भी अंकित है।

ईसवी सन् ४९९ के लगभग हुए थे (और यही काल प्रायः पुराणों की रचना की समाप्ति का भी है*), पुष्यमित्र और पतुमित्र थे। पर इनसे पहले के जो शासक या राजा थे, उनका उल्लेख उनके नामों से हुआ है (जैसे राजा विंध्यशक्ति, राजा शाक्यमान आदि आदि)। और और पुराणों में तो पुष्यमित्र शब्द अपने बहुवचन रूप में आया है, परंतु भागवत में राजन्य पुष्यमित्र का (पुष्यमित्रोऽथ राजन्यः) उल्लेख आया है; अर्थात् उसमें इसके मूल संस्थापक का जिक्र है। विष्णुपुराण की कुछ प्रतियों में कहा गया है कि पुष्यमित्र, अर्थात् प्रधान या राजा, बलवान् और विजयी था (सर्ववर्णेषु बलवान् जयो भविष्यति†)। पुष्यमित्रों को कोई राजवंशी रूप नहीं दिया गया है; और इसका स्पष्ट कारण यही है कि ये लोग प्रजातंत्री थे।

पुष्यमित्रों का "बल और राजकोश इतना अधिक बढ़ गया था"‡ कि उन्होंने साम्राज्य पर इतना भारी आक्रमण किया, जिसके कारण साम्राज्य फिर सँभल न सका। कुमारगुप्त

---

* जायसवाल, जरनल बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खंड ३. पृ० २४७.

† पुराणों के मूल पाठों के संबंध में देखो पारजिटर कृत Purana Texts पृ० ५१ और टिप्पणियाँ।

‡ समुदितब[ल]कोशान् पुष्यमित्रान्.........। स्कंदगुप्त का भीतरी नामक स्थान का शिलालेख। फ्लीट कृत Gupta Inscription पृ० ५३-५४.

के सेनापतित्व में लड़नेवाली साम्राज्य की सेना को इन लोगों ने ऐसा परास्त किया कि स्वयं उसके पुत्र स्कंदगुप्त के कथनानुसार उनकी कुल-लक्ष्मी विचलित हो गई* । यहाँ तक कि, जान पड़ता है कि, उस युद्ध में स्वयं कुमारगुप्त भी निहत हुआ था† । दूसरे युद्ध में स्कंदगुप्त रात भर युद्धक्षेत्र में रहा और खाली जमीन पर सोया । दूसरे दिन प्रातःकाल जब फिर युद्ध होने लगा, तब स्कंदगुप्त ने अपने विपक्षियों को ऐसा समझौता करने के लिये विवश किया जिससे, शिलालेख में लिखे अनुसार, उसे राजकीय पदस्थल पर पैर रखने का अधिकार प्राप्त हुआ, अर्थात् वह राजपद का अधिकारी हुआ‡ । परंतु उस शिलालेख में कहीं यह नहीं कहा गया है कि पुष्यमित्र लोग किसी प्रकार दबे अथवा उन्होंने अधीनता स्वीकृत की । इससे हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि इसमें पुष्यमित्र लोग युद्ध-क्षेत्र में परास्त हो गए थे; अथवा यदि हम उस स्थान का विचार करें जहाँ विजय-लेख मिला है (गाजीपुर जिले का भीतरी नामक स्थान) तो हम यह कह सकते हैं कि इस युद्ध में आक्रमणकारी पुष्यमित्र और अधिक आगे बढ़ने से रोक दिए

---

* स्कंदगुप्त का भीतरीवाला शिलालेख—विचलितकुल-लक्ष्मी... पं० ११. विप्लुतां वंशलक्ष्मीं पं० १३ प्रचलितं वंशम् पं०१४ ।

† पितरि दिवमुपे [ते] आदि ।

‡ देखो उक्त शिलालेख की बारहवीं और तेरहवीं पंक्तियाँ । फ्लीट ने इस पद का जो अनुवाद किया है, वह बहुत ही गड़बड़ और अस्पष्ट है और उससे मूल का ठीक ठीक भाव नहीं प्रकट होता ।

गए थे। यदि पुष्यमित्र लोग पाटलिपुत्र तक पहुँच गए होते, तो हिंदू भारत का उसके बाद का इतिहास कुछ और ही रूप धारण करता और पाटलिपुत्र में उन लोगों के प्रजातंत्री या गण-राज्य की राजधानी स्थापित हो जाती। उस दशा में हमें एक इतना बड़ा विस्तृत गण राज्य दिखलाई पड़ता जो पहले के सभी गणों से बड़ा और विस्तृत होता। परंतु युद्ध का परिणाम कुछ और ही रूप में हुआ। पुष्यमित्र लोग तो पीछे हट गए, पर गुप्तों पर फिर कभी राज-लक्ष्मी प्रसन्न नहीं हुई— उनका नष्ट वैभव फिर कभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। पुष्यमित्रों के साथ युद्ध करने के उपरांत उनके बल का जो नाश और पतन होने लगा, वह फिर किसी प्रकार रोके न रुका। गुप्तों के इतिहास में एक विलक्षण भीषण बात देखने में आती है। वे एक प्रजातंत्र की सहायता से इतने अधिक बलवान् हुए; उन्होंने प्राचीन प्रजातंत्रों का ही नाश किया; और अंत में एक प्रजातंत्र ने ही उन्हें जड़ से उखाड़ भी डाला। पुष्यमित्र लोग इस प्रकार ऐतिहासिक बदला चुकाने के उपरांत फिर रहस्यमय अतीत में विलीन हो गए।

§ १६७. पाँचवीं शताब्दी के अंत में हिंदू भारत से प्रजातंत्र अदृश्य हो गए। पुराने लिच्छवि लोग राजनीतिक क्षेत्र छोड़कर हट गए और उनकी एक शाखा नेपाल में जा बसी। नए पुष्यमित्र लोग हवा हो गए; और उसके बाद की शताब्दी में

अंत

ही हिंदू शासन-प्रणाली, इतिहास के रंगमंच पर से, अंतिम प्रस्थान कर गई। वैदिक काल के पूर्वजों के समय से जो कुछ अच्छी बातें चली आ रही थीं, पहली ऋक् की रचना के समय से अब तक जितनी उन्नति की गई थी, और जिन सब बातों के द्वारा राज-शासन में जीवन का संचार हुआ था, वे सब बातें इस देश को अंतिम अभिवादन करके चली गईं। इसी प्रजातंत्रवाद ने पहले पहल महा-प्रस्थान का आरंभ किया था—इसी ने पहले पहल राजनीतिक निर्वाण का सुर अलापा था। उस अंतिम गीत का केवल एक ही चरण हमारी समझ में आया—उस चरण में सर्वनाश करनेवाली उस तलवार की प्रशंसा थी जो प्रकृति बर्बरों के हाथ में पकड़ा दिया करती है। पर उस गीत के अन्यान्य चरण हमारे लिये अभी तक पहेली के ही रूप में हैं। उस महाप्रस्थान के वास्तविक कारण भी उसी अंतिम गीत से स्पष्ट हो जाने चाहिए थे, पर वे समझ में ही न आए।

ई० स० ५५० के बाद से हिंदू इतिहास विगलित होकर उज्ज्वल और प्रकाशमान जीवनियों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इधर उधर बिखरे हुए फुटकर रत्न दिखलाई पड़ते हैं, जिन्हें एक में गूँथनेवाला राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन का धागा नहीं रह गया है। हमें बड़े बड़े गुणवान् भी मिलते हैं और बड़े बड़े अपराधी भी। हमें हर्ष और शशांक मिलते हैं, यशोधर्मन्, कल्कि और शंकराचार्य मिलते हैं; परंतु ये लोग

साधारण और सार्वजनिक तल से इतनी अधिक उँचाई पर हैं कि हम इनकी केवल प्रशंसा कर सकते हैं और इन्हें परम पूज्य मानकर इनका आदर मात्र कर सकते हैं*। समाज में स्वतंत्रता का कहीं नाम नहीं रह गया है। इस पतन के कारण आंतरिक ही होने चाहिएँ, जिनका अनुसंधान होना अभी तक बाकी ही है। केवल हूणों का आक्रमण ही इसका कारण नहीं ठहराया जा सकता—केवल उसी से इसका रहस्य नहीं खुल सकता। उस आक्रमण के उपरांत होनेवाले कई राजवंशों ने एक ही शताब्दी के अंदर हूणों को पूरी तरह से पद-दलित कर दिया था। परंतु फिर भी हम लोगों में पुराने जीवन का संचार नहीं हुआ।

---

* देखो बाण-कृत हर्ष की जीवनी। कल्कि को लोग उसके जीवन-काल में ही देवता मानने लगे थे। (इंडियन एन्टिक्वेरी १९१७. पृ० १४९.) यदि कोई किसी की कोरी प्रशंसा ही करे और उसके दिखलाए हुए मार्ग का अनुसरण न कर सके, तो उससे यही सूचित होगा कि प्रशंसित और प्रशंसक में बहुत बड़ा नैतिक अंतर है।

बीसवाँ प्रकरण

हिंदू गण-शासन-प्रणाली की आलोचना

§ १६८. प्रजातंत्रों या गणों का विवरण समाप्त करने से पहले यह आवश्यक है कि इन सब प्रणालियों की कुछ आलोचना कर ली जाय। भारत के प्रजातंत्र या गण राज्यों के कानून या धर्म और उसके अनुसार शासन करने की व्यवस्था की प्रशंसा प्रायः सभी यूनानी लेखकों ने एक स्वर से की है; और उनकी इस प्रशंसा का समर्थन महाभारत से होता है। इन राज्यों में से कम से कम कुछ तो अवश्य ऐसे थे, जो पहले के फैसल किए हुए मुकदमों की नजीरें पुस्तकों में लिख रखा करते थे। यहाँ तक कि उनका कट्टर शत्रु कौटिल्य भी कहता है कि संघ का जो मुख्य या प्रधान होता है, अपने संघ में उसकी प्रवृत्ति न्याय की ओर होती है*। उनमें न्याय का यथेष्ट ध्यान रखा जाता था। बिना न्याय के कोई गण या प्रजातंत्र अधिक समय तक चल ही नहीं सकता। उन लोगों का दूसरा गुण उनकी दांति होती थी। कौटिल्य ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि संघ का मुख्य या प्रधान दांत हुआ करता था†।

नैतिक महत्व

---

* संघमुख्यश्च संघेषु न्यायवृत्तिहितः प्रियः। अर्थशास्त्र पृ० ३७६.

† दान्तो युक्त जनस्तिष्ठेत्। उक्त ग्रन्थ।

जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, महाभारत में भी यह कहा गया है कि कुछ ऐसे बड़े और उत्तरदायी नेता हुआ करते थे, जो छोटे और बड़े सभी प्रकार के सदस्यों को ठीक ढंग से रखते थे—उन्हें उच्छृंखल या उद्दंड नहीं होने देते थे। ऐसे नेता लोग अपने आपको तथा अपने कृत्यों को सर्वप्रिय बनाया करते थे*। महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि श्रीकृष्ण ने अपने मित्र नारद से कहा था कि अपने संघ के कार्यकारी मंडल का काम चलाने में मुझे कैसी कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस पर नारद ने श्रीकृष्ण की इस बात की निंदा की थी कि जब सर्व-साधारण के सामने वाद-विवाद का अवसर आता है, तब तुम अपनी जबान को अपने वश में नहीं रख सकते हो। नारद ने वृष्णियों के नेता श्रीकृष्ण को परामर्श दिया था कि यदि वाद-विवाद में लोग तुम पर किसी प्रकार का आक्रमण या आक्षेप करें, तो तुम उसे धैर्यपूर्वक सहन किया करो; और संघ में एकता बनाए रखने के लिये तुम अपने व्यक्तित्व पर होनेवाले आक्षेपों का ध्यान न किया करो †।

इसी प्रकार वे लोग सदा युद्ध करने के लिये भी तैयार रहा करते थे। गण के नागरिक लोग सदा वीरता प्रदर्शित करने के आकांक्षी रहते थे और इसी में वे अपनी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा समझते थे।

---

* सर्वचित्तानुवर्त्तकः। अर्थशास्त्र।

† देखो परिशिष्ट क।

§ १६६. जैसा कि महाभारत में कहा गया है, गण में सब लोग समान समझे जाते थे। यह बात प्राकृतिक रूप से आवश्यक भी थी। जिस संस्था में सर्व-साधारण का जितना ही अधिक हाथ होगा, उसमें समानता के सिद्धांत पर उतना ही ज्यादा जोर भी दिया जायगा।

समानता का सिद्धांत

गणों में जो ये नैतिक गुण हुआ करते थे, उनके अतिरिक्त उनमें राज्य-संचालन के भी गुण होते थे। महाभारत में इस बात का प्रमाण मिलता है कि विशेषत: आर्थिक बातों में उनका राज्य-संचालन और भी सफलतापूर्ण हुआ करता था। उनके राज-कोष सदा भरे हुए रहा करते थे।

सफलता-पूर्ण राज्य-संचालन

§ १७०. गणों के राजनीतिक बल का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि गण के सभी लोग सैनिक और योद्धा हुआ करते थे। उनका सारा समाज या समस्त नागरिक सैनिक होते थे। उनमें नागरिकों ही की सेना हुआ करती थी; और इसी लिये वह राजाओं की किराए पर भरती की हुई सेनाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ होती थी। और जब कुछ गण किसी पर आक्रमण करने के लिये अथवा किसी के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये अपना एक संघ बना लेते थे, तो उस दशा में, जैसा कि कौटिल्य ने कहा है, वे अजेय हो जाते थे। हिंदू प्रजातंत्रों या

सैनिक व्यवस्था

गणों में संघ बनाने की विशेष प्रवृत्ति हुआ करती थी। इस संबंध में वैयाकरणों के षष्ठ-त्रिगर्त्त, क्षुद्रक-मालव संघ, विदेहों और लिच्छवियों का संघ, पाली त्रिपिटक का वज्जियों का संघ और अंधक-वृष्णि संघ उदाहरण स्वरूप हैं। महाभारत के कथनानुसार जो गण अपना संघ बना लेते थे, शत्रु के लिये उन पर विजय प्राप्त करना प्रायः असंभव सा हो जाता था। बुद्ध ने भी मगध के अमात्य से यही कहा था कि वज्जियों के संघ पर मगध के राजा विजय नहीं प्राप्त कर सकते।

§ १७१. हिंदू गणों के वैभव और संपन्नता की प्रशंसा भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के लेखों आदि में पाई जाती है। यूनानियों का ध्यान उनकी संपन्नता पर गया था; और महाभारत से भी इसका समर्थन होता है। यदि कोई नागरिक किसी कारण से राजनीतिक क्षेत्र का नेता नहीं हो सकता था, तो वह वणिकों या व्यापारियों की पंचायत या सभा का नेता होने की आकांक्षा किया करता था (§११७)। उनमें शांति की विद्या और युद्ध की विद्या, सुव्यवस्था या शांति और अध्यवसाय, शासन करने का अभ्यास और शासित होने का अभ्यास, विचार और कार्य, घर और राज्य, सभी बातें बराबर बराबर और साथ चलती थीं। इस प्रकार का जीवन निर्वाह करने का परिणाम यही होता होगा कि सब लोग व्यक्तिशः और नागरिक दृष्टि से उच्च कोटि के कर्मशील और दक्ष

शिल्प-कला की व्यवस्था

हुआ करते होंगे। जिनमें इतने गुण और इतनी विशेषताएँ हों, यदि उनके संबंध में महाभारत में यह कहा गया हो कि लोग उनके साथ मित्रता करने और उन्हें अपने पक्ष में मिलाने के लिये उत्सुक रहा करते थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। और न इसी बात में किसी प्रकार का आश्चर्य हो सकता है कि वे अपने शत्रुओं की संख्या घटाने में ही आनंद अनुभव करते थे और अपनी ऐहिक संपन्नता का ध्यान रखते थे। इसका स्पष्टीकरण इस बात से हो जाता है कि उनकी शिक्षा और प्रतिभा एकांगी नहीं हुआ करती थी। वे केवल राज-नीतिक पशु ही नहीं थे। कौटिल्य ने उन्हें साथ ही साथ योद्धा भी बतलाया है और शिल्प-कला में कुशल भी। वे स्वयं अपने यहाँ के कानूनों के कारण ही शिल्प-कुशल और सैनिक होने के लिये बाध्य होते थे। वे व्यापार और कृषि पर सदा ध्यान रखते थे, जिससे वे स्वयं भी सम्पन्न रहते थे और उनका राजकोष भी भरा हुआ रहता था।

§ १७२. यूनानियों के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि ये लोग केवल युद्ध-क्षेत्र में बहुत उच्च कोटि की वीरता और शौर्य

नागरिक

दिखलानेवाले अच्छे योद्धा ही नहीं थे, बल्कि अच्छे कृषक भी थे। जो हाथ सफ-लतापूर्वक तलवार चला सकते थे, वे खेती के औजार भी उतनी ही उत्तमता से काम में ला सकते थे। अर्थशास्त्र और बौद्ध लेखों से पता लगता है कि वे लोग कृषक भी थे और शिल्पी भी थे।

§ १७३. ऊपर दिए हुए प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि गणों में अधिकारों और कार्यों का विभाग हुआ करता था। उदाहरण स्वरूप, पटलों में सैन्य-संचालन का अधिकार दूसरे लोगों के हाथ में होता था और शासन का अधिकार दूसरे लोगों के हाथ में। लिच्छवियों में न्याय-विभाग, सैन्य-संचालन और शासन तीनों अलग अलग अधिकारियों के हाथ में होते थे। इसी प्रकार, जैसा कि यूनानियों ने देखा था, कई राज्यों में सेनापति चुना जाता था; और गणों के मुख्यों या प्रधानों में उन ईश्वरांशवाले भाव का नितांत अभाव हुआ करता था जो साधारणतः राजाओं में माना जाता है। इन सब बातों से यही सूचित होता है कि उस समय तक लोगों ने गणों का कार्य-संचालन करने का बहुत अधिक अनुभव प्राप्त कर लिया था और उनमें इस कार्य के लिये बहुत उच्च कोटि की समझदारी आ गई थी।

अधिकारों का विभाग

§ १७४. हमें आजकल राजनीति या शासन-विज्ञान संबंधी जो ग्रंथ मिलते हैं, वे उसी पक्ष के लोगों के लिखे हुए मिलते हैं, जो एकराज शासन में रहते थे अथवा उसके पक्षपाती थे। यदि हमें गण शासन-प्रणाली के पक्षपातियों का लिखा हुआ कोई ग्रंथ मिल जाता, तो अवश्य ही उसके द्वारा हमें गण राज्यों की राजनीति के संबंध में बहुत से सिद्धांतों आदि का पता

दार्शनिक आधार

लगता। इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि इस प्रकार के ग्रंथ किसी समय में रहे हों। महाभारत में गण और वृष्णि संघ के संबंध में जो अध्याय हैं, उनसे यही सूचित होता है कि पूर्व काल में इस प्रकार के ग्रंथ वर्तमान थे। इसी प्रकार कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में आया हुआ एक श्लोक भी यही प्रमाणित करता है, जो किसी दूसरे ग्रंथ से उद्धृत जान पड़ता है। उस अध्याय में केवल वही एक ऐसा श्लोक है जो गण के पक्ष की दृष्टि से लिखा गया है; और उस अध्याय के शेष समस्त अंश एकराज शासन-प्रणाली के पक्ष की दृष्टि से लिखे हुए हैं*। महाभारत में अराजक राज्य के संबंध में जो विवेचन है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि उसका लेखक अराजक शासन-प्रणाली संबंधी किसी लिखित सिद्धांत अथवा सिद्धांतों के संग्रह से परिचित था। इन सब प्रमाणों से अप्रत्यक्ष रूप से यही प्रमाणित होता है कि बहुत अच्छी तरह विचार करने के उपरांत कुछ ऐसे दार्शनिक आधार निश्चित किए गए थे, जिन पर प्रजातंत्री या गण संस्थाओं की सृष्टि की गई थी। इसी आधार पर इस बात का भी बहुत कुछ पता लग जाता है कि जिन अनेक प्रजातंत्र शासन-प्रणालियों की हम विवेचना कर चुके हैं, उनके इतने अधिक प्रकार या विभेद किस प्रकार स्थापित हुए थे। प्रजातंत्रों या गणों के इतने अधिक भेद आप से आप नहीं हो गए थे—वे सब समझ-बूझकर किए गए थे।

---

*. अर्थशास्त्र पृ० ३७६.

कपिल और कठों के देश में, जिनके निवासी राज्य या शासन-प्रणाली की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन विषय दर्शन की विवेचना किया करते थे, ऐसे लोगों की कमी नहीं रही होगी जो इस विषय पर दार्शनिक दृष्टि से विचार कर सकते हों।

§ १७५. आर्यदेव कृत चतुश्शतिका के आधार पर, जिसकी एक खंडित प्रति महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री* को मिली थी, यह बात प्रमाणित होती है कि गण का निर्वाचित शासक गण का सेवक (गण-दास) समझा जाता था। महाभारत में कृष्ण संबंधी जो प्रकरण उद्धृत है, उससे भी यही सिद्धांत प्रतिपादित होता है। उन्होंने कहा था—"मुझे शासक का नाम धारण करके (ऐश्वर्य-वादेन) सेवक का कर्तव्य (दास्य) पालन करना पड़ता है†।"

गण-संबंधी सिद्धांत

§ १७६. जान पड़ता है कि कठों और सौभूतों में व्यक्ति अपने राज्य का केवल एक अंग माना जाता था। स्वयं उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं होती थी। यही कारण था कि व्यक्तियों के आगे जो संतान उत्पन्न होती थी, उस पर वे अपना पूरा पूरा अधिकार जतलाया करते थे। यह बात प्रत्यक्ष ही है कि और प्रजातंत्रों या गणों में यह मत मान्य नहीं था। जैसा कि सिक्कों से प्रमाणित होता है, वे गण को केवल शासन करने-

व्यक्तित्व

* जरनल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १९११. पृ० ४३१.

† देखो परिशिष्ट क।

वाली संस्था या सरकार मानते थे और उसे समाज से अलग समझते थे। उनमें व्यक्ति का अस्तित्व राज्य में लीन नहीं हो जाता था। पर साथ ही इन दोनों में इतनी अधिक एकता है कि दोनों प्रायः बिलकुल एक ही मालूम होते हैं। इसके विपरीत अराजक या बिना राजावाले राज्य में व्यक्तित्व की प्रधानता पराकाष्ठा तक पहुँची हुई होती थी*। जो लोग अराजक सिद्धांत के पक्षपाती होते थे, वे स्वयं शासन या सरकार को ही एक बड़ा भारी दोष या खराबी समझा करते थे। उनमें किसी को शासन करने का अधिकार ही नहीं दिया जाता था। उनमें केवल कानून या धर्म का ही शासन होता था; और यदि कोई किसी प्रकार का अपराध करता था, तो उसके लिये उनके यहाँ एक मात्र यही दंड था कि वह समाज से निकाल दिया जाय। वे लोग व्यक्तियों के प्रधान या शासक होने का अधिकार किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को नहीं प्रदान करते थे। इसमें संदेह नहीं कि इन सिद्धांतों के आधार पर जिस राज्य की सृष्टि होती होगी, वह बहुत ही छोटा होता होगा। परंतु जैसा कि पहले जैन-सूत्र के आधार पर बतलाया जा चुका है, हिंदू भारत में इस प्रकार के राज्य भी हुआ करते थे। एकराज शासन-प्रणाली के पक्षपाती कह सकते हैं—"अराजक राज्य से बढ़कर खराब और कोई राज्य नहीं हो

---

* देखो § १०१.

सकता*। यदि कोई बलवान् नागरिक कानून या धर्म का पालन करता रहे, तब तो कुशल ही है; परंतु यदि वह विद्रोही हो जाय, तो वह सब कुछ निःशेष या नष्ट भी कर सकता है† ।" और एकराज शासन-प्रणाली के पक्षपाती प्रजातंत्र-वादियों के सिद्धांतों में से अराजक शासन-प्रणाली का सिद्धांत लेकर कह सकते हैं कि हमारा एकराज शासन-प्रणाली का सिद्धांत सब से अच्छा है। परंतु अराजक सिद्धांत में राज्य का जो पहला आधार सामाजिक बंधन होता है, उसकी वे लोग उपेक्षा नहीं कर सकते। अराजक प्रजातंत्र-वादियों के अनुसार नागरिकों में परस्पर एक प्रकार का समझौता हो जाता था और उसी के आधार पर राज्य की स्थापना होती थी‡। वास्तव में अराजक राज्य के संबंध में यह बात बहुत ठीक थी। जब एकराज शासन-प्रणाली के पक्षपाती राजा और प्रजा में धर्म-

---

* नहि राज्यात्पापतरमस्ति किंचिदराजकात् । शान्तिपर्व, अ० ६७.७. (कुम्भकोणम्वाली प्रति)

† स चेत्समनुपश्येत समग्रं कुशलम्भवेत् ।
बलवान् हि प्रकुपितः कुर्य्यान्निःशेषतामपि ।
उक्त ग्रंथ तथा अध्याय, श्लोक ८.

‡ समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ।
उक्त ग्रन्थ तथा अध्याय, श्लोक १८.

विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥
उक्त ग्रन्थ तथा अध्याय, श्लोक १९.

पूर्वक शासन करने और उसके बदले में कर ग्रहण करने के संबंध में समझौता करते हैं*, तब वे यही कहते हैं कि हमें यह समझौता इसलिये करना पड़ा कि अराजक शासन-प्रणाली का जो समझौता था, वह ठीक तरह से कार्य रूप में परिणत न हो सका। परंतु यहाँ भी एकराज शासन-प्रणाली के पक्ष-पाती वास्तव में वही सामाजिक समझौतेवाला सिद्धांत ग्रहण करते हैं, जो पहले अराजक लोगों ने ग्रहण किया था। संभवतः सभी प्रकार के प्रजातंत्र राज्यों में किसी न किसी रूप में सामाजिक समझौतेवाला सिद्धांत ही काम करता था। इस समझौते का ही एक अंग एकराज शासन-प्रणाली में भी व्यवहृत होता था और कौटिल्य उसे एक सर्वमान्य और सत्य सिद्धांत समझता था†। भारत में इस समझौते का आरंभ बहुत

---

* देखो आगे एकराज शासन-प्रणाली के संबंध में २४ वाँ, २५ वाँ, २६ वाँ और २७ वाँ प्रकरण।

† अर्थशास्त्र (१. १४.) पृ० २२-२३.

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः।

"जब लोग अन्याय से बहुत पीड़ित हुए, तब उन्होंने विवस्वत् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। उन्होंने निश्चय किया कि धान्य का षष्ठांश और पण्य का दशमांश नगद उसे उसके भाग स्वरूप दिया जाय। तब से इसी प्रकार राजाओं को उनका अंश मिला करता है और वे प्रजा का योग (शासन) और क्षेम (कल्याण) किया करते

प्राचीन काल में हुआ था; बल्कि जान पड़ता है कि हमारे यहाँ का यह समझौता समस्त संसार में सब से अधिक प्राचीन था*। यहाँ इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि यदि इसके समस्त अंगों पर विचार किया जाय, तो यह सिद्धांत भी प्रजातंत्री ही है। इस सिद्धांत का साधारणतः शासकों पर लाभकारी प्रभाव डालने के लिये बहुत अधिक महत्त्व था।

हैं।" इसमें आए हुए 'भृत्य' शब्द का अर्थ जानने के लिये एकराज शासन-प्रणालीवाले प्रकरण में उद्धृत किए हुए इसी प्रकार के और पद देखिए, जिनमें राजा के वेतन या वृत्ति आदि का उल्लेख है। यहाँ भृत्य शब्द का जो अर्थ है, वह वही है जो मनु ११. ६२. में आए हुए शब्द का है और जो मिताक्षरा में दी हुई भृत्य शब्द की व्याख्या के भी अनुसार है। योग शब्द का अर्थ आगेवाली इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है—तेषां किल्विषमदण्डकरा हरन्ति। क्योंकि इसमें उसके विपरीत भाववाला "अदण्डकरा" शब्द आया है, जिसका अर्थ है—यदि राजा शासन करने में असमर्थ हो। योग के संबंध में अर्थशास्त्र का 'युक्त' शब्द भी ध्यान देने के योग्य है, जिसका अर्थ है 'शासक-मंडल का सदस्य'।

* ई० पू० ३०० में कौटिल्य ने भी इसे एक प्रसिद्ध सिद्धांत के रूप में उद्धृत किया है। निर्वाचन संबंधी वैदिक मन्त्रों में भी इस सिद्धांत का स्पष्ट अंकुर देखने में आता है। इस संबंध में ब्राह्मणों में जो उल्लेख आए हैं, उनके लिये इस ग्रंथ के दूसरे भाग का राज्याभिषेक संबंधी पचीसवाँ प्रकरण देखो। बौद्धों के पुराने ग्रंथों में भी यही बात आई है। अग्गञ्ञ सुत्त २१. (दीर्घ०) महावस्तु १. ३४७.८—शालिक्षेत्रेषु षष्ठं शालिभागं ददाम। महता जनकायेन सम्मतो ति महासम्मतो......राजा ति संज्ञा उदपासि।

§ १७७. शासन-प्रणाली की सफलता की सब से अच्छी कसौटी यह है कि उसके द्वारा राज्य चिरस्थायी हो। भारत की प्रजातंत्र या गण शासन-प्रणाली राज्यों को चिरस्थायी बनाने में बहुत अधिक सफल प्रमाणित हुई थी। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, हमारे यहाँ इस शासन-प्रणाली का आरंभ वैदिक युग के ठीक बाद ही हुआ था। यदि हम ऐतरेय ब्राह्मण के काल को अपना आरंभिक काल मानें, तो हम कह सकते हैं कि सात्वत् भोजों का अस्तित्व प्रायः एक हजार वर्ष तक था। यदि उत्तर मद्र और पाणिनि के मद्र एक ही हों, तो उनका अस्तित्व लगभग १३०० वर्षों तक था; और यदि वे एक न हों, तो उस दशा में उनका अस्तित्व प्रायः ८०० वर्षों तक सिद्ध होता है। क्षुद्रकों और मालवों ने ई० पू० ३२६ में सिकंदर से कहा था कि हम लोग बहुत दिनों से स्वतंत्र रहते आए हैं। मालव लोग राजपूताने में ई० पू० लगभग ३०० तक अवस्थित थे। इस प्रकार उन्होंने मानों लगभग एक हजार वर्ष स्वतंत्रतापूर्वक बिताए थे। यही बात यौधेयों के संबंध में भी है। लिच्छवियों के संबंध के लेख भी प्रायः एक हजार वर्ष तक के मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिन सिद्धांतों के अनुसार हिंदू प्रजातंत्रों या गणों का संचालन होता था, वे सिद्धांत स्थायित्व की कसौटी पर पूरे उतरे थे।

स्थायित्व

§ १७८. इतना होने पर भी हिंदू प्रजातंत्र या गण साधारणत: बहुत बड़े नहीं होते थे। यद्यपि उनमें से अनेक गण प्राचीन युरोप के प्रजातंत्रों की अपेक्षा बड़े ही थे, तथापि मालवों, यौधेयों तथा इसी प्रकार के थोड़े से और गणों को छोड़कर आजकल के अमेरिका के संयुक्त राज्य, फ्रांस और चीन आदि के मुकाबले में बहुत ही छोटे थे।

हिंदू गणों की दुर्बलताएँ

उनकी यही छोटाई इस राज्यतंत्र की बहुत बड़ी दुर्बलता थी। जो राष्ट्र और राज्य छोटे होते हैं, उनमें चाहे कितने ही अधिक गुण क्यों न हों, पर उनका अस्तित्व नहीं रहने पाता। बड़े बड़े राज्यों ने लोभ के वशीभूत होकर छोटे छोटे राज्यों को खा लिया। जो मालव और यौधेय बड़े बड़े बलवान् साम्राज्यों और विजेताओं के बाद भी बच रहे थे, उनके राज्य बहुत बड़े बड़े थे। लिच्छवियों और मद्रों की भाँति मालवों और यौधेयों ने भी अपने कानूनों और अधिकारों का वहाँ तक प्रचार किया होगा, जहाँ तक उनके राज्य का विस्तार था*। उनके विस्तार के कारण ही उनकी वह दशा नहीं होने पाई, जो उनके आरंभिक समकालीन छोटे छोटे राज्यों की हुई थी।

---

* महाभाष्य २.२६६. में आया हुआ 'मालवक' शब्द यही बात सूचित करता है। देखो § ११८ में भक्ति-संबंधी विवेचन। अर्थशास्त्र में लिच्छिविक और मद्रक शब्द आए हैं; और समुद्रगुप्त ने माद्रक का उल्लेख किया है।

§ १७९. महाभारत में कहा गया है कि अराजक राज्यों पर सहज में विजय प्राप्त की जा सकती है। जब किसी बलवान् शत्रु के साथ उनका मुकाबला होता है, तब वे उस लकड़ी की भाँति टूट जाते हैं जो झुकना जानती ही नहीं* । यह बात सभी प्रजातंत्र राज्यों के संबंध में ठीक थी। जहाँ वे एक बार विजित हुए, वहाँ समाज के रूप में फिर उनका कोई अस्तित्व रह ही नहीं जाता था। उन समाजों का जीवन उनके राज्यों पर इतना अधिक निर्भर करता था कि जब तक राज्य रहता था, तभी तक उनका जीवन भी रहता था; और राज्य के उपरांत वह जीवन नष्ट हो जाता था।

सिकंदर के मुकाबले में गण अच्छी तरह नहीं ठहर सके थे; इसी लिये चंद्रगुप्त के समय में उनकी निंदा होने लगी थी। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब विदेशी आक्रमणकारियों से काम पड़ा था, तब गांधार का राजा अथवा प्रधान युवक पुरु सहायता के लिये मगध के साम्राज्य का मुखा-

---

* अथ चेदभिवर्त्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः ।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीराणि वा पुनः ।
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम् ।
महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ९६; श्लो० ६-७.
(कुम्भकोणम्‌वाला संस्करण)

मिलाओ—

यत् स्वयं नमते दारु न तत्सन्नामयन्त्यपि । उक्त० १०.
तस्माद्राजैव कर्त्तव्यः सततं भूतिमिच्छता । उक्त० १२.

पेची हुआ था; और इसी लिये तक्षशिला के निवासी कौटिल्य के लिये यह स्वाभाविक था कि वह अपने अर्थ-शास्त्र में गणों को नष्ट करने की सम्मति देता।

§१८० जान पड़ता है कि गण राज्य षड्यंत्रों के द्वारा सहज में नष्ट हो जाया करते थे। कौटिल्य सरीखे राजनीतिज्ञों ने समझ लिया था कि कुल राज्यों में उनके अधिकारियों की व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता तथा शक्ति की तृष्णा के कारण द्वेष और विरोध के बीज बोए जा सकते हैं। जब बुद्ध ने कहा था कि वृजियों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती, तब मगध के भूत-पूर्व अमात्य वर्षकार ने कहा था—"उनमें परस्पर मतभेद और द्वेष उत्पन्न करके उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।" यह मतभेद या द्वेष केवल शत्रुओं के षड्यंत्र के कारण ही नहीं उत्पन्न होता था। लोकतंत्री राज्यों में सार्वजनिक सभाओं या पार्लिमेंटों में वादविवाद के कारण उनके सदस्यों में परस्पर घोर राग-द्वेष और शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। महाभारत में श्रीकृष्ण ने जहाँ यह बतलाया है कि अपने गण के नेता होने में मुझे किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वहाँ यह भी कहा है कि लोगों की कटूक्तियों से मेरा हृदय जल-भुन गया है। महाभारत में (शान्तिपर्व, गणों का साधारण विवेचन) में इस प्रकार के अप्रिय विवाद का उल्लेख है; और कहा गया है कि इसके परिणाम स्वरूप सार्वजनिक विषयों पर वाद-विवाद बंद हो जाता है और अंत में सभा ही भंग हो जाती

है*। बौद्ध लेखों में जहाँ इस बात का उल्लेख है कि अजातशत्रु के मुकाबले का जिक्र छिड़ने पर कुछ देर के लिये लिच्छवि राजनीतिक नेताओं में दुर्भाव उत्पन्न हो गया था, वहाँ यह भी कहा गया है कि लिच्छवियों ने आपस के मतभेद के कारण, निमंत्रण का घंटा बजने पर, राजसभा में आना छोड़ दिया था†। इसके अतिरिक्त कभी कभी ऐसा भी होता था कि राजनीतिज्ञ लोग अनेक विरोधी दलों में विभक्त हो जाते थे। श्रीकृष्ण ने जो शिकायत की थी, उसमें इस प्रकार की कठिनता का बहुत विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। उन्होंने कहा था—"जब आहुक और अक्रूर किसी व्यक्ति के पक्ष में हो जाते हैं, तब उसके लिये इससे बढ़कर और कोई विपत्ति नहीं हो सकती। और जब वे किसी व्यक्ति के पक्ष में नहीं रहते, तब भी उसके लिये इससे बढ़कर और कोई विपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों में के किसी दल के व्यक्ति का मैं निर्वाचन नहीं कर सकता। इन दोनों के बीच में पड़कर मेरी दशा उन दो जुआरियों की माता के समान हो जाती है, जो आपस में एक दूसरे के साथ जूआ खेलते हैं; और माता न तो इसी बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक जीते और न इसी बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक हारे‡।"

---

* देखो परिशिष्ट क और ऊपर चौदहवाँ प्रकरण।

† जरनल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १८३८. पृ० ९९४-५.

‡ देखो परिशिष्ट क।

महाभारत में कहा गया है कि गण राज्य में वास्तविक भय आंतरिक तभेद या वैमनस्य का ही होता है। उसके मुकावले में बाहरी शत्रुओं का भय तुच्छ है।

§ ८१. कहा गया है कि आन्तरिक मतभेद या वैमनस्य के कारण गण टूट जाया करते हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इसका यही अभि ाय समझना चाहिए कि कभी कभी उनमें दलबंदी होने लगती थी और इस कार नए राज्यों की सृष्टि होती थी। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि हिंदू प्रजातंत्र-राजनीति की दुर्बलताएँ यही थीं कि गण राज्य छोटे छोटे हुआ करते थे और उनकी प्रवृत्ति और भी छोटे ही होने की ओर होती थी; उनके राजनीतिज्ञों और राज्य-संचालकों में परस्पर ईर्ष्या और प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो जाती थी; और सब लोगों को सब के सामने सब कुछ कहने का अधिकार होता था।

इक्कीसवाँ प्रकरण

गणों का मानव-विज्ञान

§१८२. मि० विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने एक पत्र में* गणों के मानव-विज्ञान का प्रश्न उठाया है। यह विषय मि० स्मिथ

मि० स्मिथ का उठाया हुआ प्रश्न

सरीखे विद्वान् ने उठाया है, इसलिये मैं यह बात बहुत ही आवश्यक समझता हूँ कि हम गणों पर विचार करनेवाले के रूप में इसका भी विवेचन करें।

मि० स्मिथ की यह सम्मति है कि आरंभिक गणों के प्रवर्त्तकों का मूल तिब्बतियों की भाँति मंगोलिया था; अर्थात् वे लोग मंगोलिया से आए थे। वे लिखते हैं—"मैं समझता हूँ कि आरंभिक ईसवी शताब्दियों के भारतवासी प्रायः चिपटी नाकवाले और तिब्बतियों से बहुत कुछ संबद्ध होते थे—देखिए भरहूत और साँची की मूर्त्तियाँ। लिच्छवि लोग भी निश्चय ही इसी प्रकार के थे; और पहाड़ी जातियों में प्रचलित प्रणालियों से गणों की कार्य-प्रणाली का सब से अच्छा पता चलता है। मेरा विचार है कि बुद्ध और महावीर दोनों ही अवश्यमेव अर्ध-मंगोलियन ढंग के पहाड़ी थे, चाहे उन्होंने

---

* यह पत्र २९ नवंबर सन् १९१७ का है।

अपने उपदेशों में मगियों (Magians) के ढंग ही क्यों न मिला लिए हों। जैसा कि आप चाहते हैं, आप बहुत प्रसन्नता से मेरा यह कथन उद्धृत कर सकते हैं।"

§ १८३. कुछ बातें ऐसी हैं जो उक्त सम्मति का समर्थन करनेवाली समझी जाती हैं; और पहले मुझे उन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए। हिमालय की तराइयों में कुछ छोटे छोटे प्रजातंत्र राज्य हैं; और चंबी की तराई में, जैसा कि मि० ई० एच० वॉल्श ने प्रकाशित किया है, निर्वाचित शासन-प्रणाली का एक पुराना ढंग प्रचलित है। मि० स्मिथ ने मि० वॉल्श के उसी विवरण का उल्लेख किया है, जो उन्होंने इंडियन एंटीक्वेरी (१९०६. पृ० २९०) में प्रकाशित कराया था*। मि० वॉल्श के विवरण के अनुसार वहाँ के देहाती प्रति तीसरे वर्ष एक निश्चित मिलन स्थान में एकत्र होते हैं और दो कोंगडुओं के सामने, जो तराई के दोनों विभागों के स्थानीय शासन के प्रधानों और प्रतिनिधियों के रूप में मिलकर कार्य करते हैं, अपने गाँवों के चुने हुए मुखिया लोगों की एक सूची उपस्थित करते हैं। उस सूची में से दोनों कोंगडू चार ऐसे आदमियों के नाम चुनते

चंबी शासन का उदाहरण

---

* परंतु जिस समय मि० स्मिथ ने यह पत्र लिखा था, उस समय उनके सामने उक्त अंक नहीं था; और यह आवश्यक नहीं है कि एक समाचारपत्र में दी हुई उसकी सूचना के आधार पर दिया हुआ यह विवरण बिलकुल ठीक ही हो।

हैं, जिन्हें वे अगली बार कोंगडू होने के लिये सब से अधिक उपयुक्त समझते हैं। इसके उपरांत उन चारों चुने हुए आदमियों में से प्रत्येक के नाम पर तीन तीन पाँसे फेकते हैं; और उनमें से जिन दो के लिये सब से अधिक दाँव आते हैं, वही अगले तीन वर्षों के लिये कोंगडू चुने जाते हैं। यह रसम पत्थर की एक पुरानी वेदी के सामने होती है। यह वेदी ग्राम-देवता की समझी जाती है और इसके आगे कोंगडू पद की ध्वजा रखी जाती है। जो नए कोंगडू चुने जाते हैं, वे तुरंत ही अधिकारारूढ़ नहीं हो जाते। उन्हें इसके ग्यारहवें महीने अधिकार प्राप्त होता है, जब कि एक और रसम होती है और याक नामक पशु पत्थर की उस वेदी के सामने बलि चढ़ाया जाता है। नए कोंगडू रक्त से भरी हुई खाल पर अपने हाथ रखते हैं और उस बलि चढ़ाए हुए याक की शपथ करके इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि स्वयं हमारे पुत्र और हमारे किसी शत्रु के मध्य में भी कोई झगड़ा होगा, तो उस दशा में भी हम न्याय ही करेंगे। कोंगडू कहते हैं कि हमें अपना अधिकार तिब्बती सरकार से नहीं मिलता, बल्कि हमारे ग्राम-देवता ही हमें यह अधिकार प्रदान करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि हमें यह ध्वजा इसी ग्राम-देवता से प्राप्त हुई है और अधिकार भी इसी के द्वारा मिला है। मि० वॉल्श कहते हैं कि इस प्रकार यह शासन ईश्वर-प्रदत्त भी होता है और निर्वाचन-मूलक भी।

§ १८४. मि० विन्सेंट स्मिथ ने इस संबंध में इंडियन एंटीक्वेरी में जो नोट प्रकाशित कराया था, उसमें उन्होंने अपनी सम्मति देते हुए लिखा था—"अब मुझे एक ऐसी बात मालूम हुई है, जिससे मेरे मन में यह विचार आता है कि यौधेयों की तरह गोत्रीय संस्था या शासन-प्रणाली का मूल तिब्बत से है। साथ ही प्राचीन भारत में जो इस प्रकार की गोत्रीय संस्थाएँ प्रचलित थीं, उनका ठीक ठीक स्वरूप समझाने के लिये मि० वॉल्श का यह लेख ही यथेष्ट है; क्योंकि इस समय ऐसा और कोई लेख नहीं मिलता, जो इस प्रकार की संस्थाओं की विस्तृत बातें बतला सके।" यहाँ इस बात का नाम के लिये भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया है कि यौधेय लोग तिब्बती थे; और इसी लिये यह बात समझ में नहीं आती कि भारतीय विवरणों का जो स्थान खाली है, उसकी पूर्त्ति करने के लिये इस तिब्बती उदाहरण से क्यों काम लिया गया है। यदि सन् १९०६ में भारतीय शासन-प्रणालियों का कोई विस्तृत विवरण नहीं ज्ञात था, तो क्या यही उचित था कि उस रिक्त स्थान की पूर्ति तिब्बत से कर ली जाती? पर अब जब कि ऐसे विवरण मिल रहे हैं, यह बात मान ली जायगी कि चंबी तराई में कोंगडुओं के निर्वाचन के ग्यारहवें महीने जो रसम होती है, उसकी उस प्रजातंत्री राज्याभिषेक से कोई समानता नहीं है, जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में है। जो राज्य हिमालय के

आलोचना

पास थे और जिनमें वैराज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी, वे भी इस चंबी तराई के उस स्थान से बहुत अधिक दूर हैं, जहाँ याक का बलिदान होता है। यौधेयों की पार्लिमेंट या गण, उनके मंत्रधरों और उनके निर्वाचित प्रधान में एक भी बात ऐसी नहीं है जो चंबी तराई की इस ईश्वर-दत्त शासन-प्रणाली से कुछ भी समानता रखती हो।

भरहूत और साँची की मूर्त्तियाँ

§ १८५. अब मूर्त्तियों को लीजिए। गणों की ओर से यह कभी नहीं कहा गया है कि साँची और भरहूत के स्मृति-चिह्न गणों की वास्तु-विद्या के आधार पर बने हैं। अत: यदि सच पूछा जाय तो यह प्रश्न ही असंगत है। मुझे आशंका यह होती है कि संभवत: मि० स्मिथ ने यह परिणाम साँची और भरहूत के स्तंभों के लिए हुए फोटो के आधार पर निकाला है। उनमें की नाकों की आजकल जो यह दशा देखने में आती है, उसका कारण यह है कि एक तो बहुत दिनों की होने के कारण वे यों ही बहुत घिस विसा गई हैं; और दूसरे उन पर मूर्त्तियाँ तोड़नेवाले विदेशियों की कृपा हुई है। इसके अतिरिक्त उनमें की बहुत सी मूर्त्तियाँ ऐसी हैं, जो विदेशियों, बर्बरों तथा दुष्ट आत्माओं अथवा भूतों-प्रेतों के स्वरूप दिखलाने के लिये बनाई गई हैं; और उनकी आकृतियाँ जान बूझकर ऐसी रखी गई हैं कि वे हिंदुओं की आकृतियाँ न जान पड़ें। इस बात

मि० स्मिथ का भ्रम

का एक अच्छा उदाहरण यक्षों और यक्षिणियों की मूर्तियों में देखने में आता है, जिनकी संख्या बहुत अधिक है। सारे साहित्य में यक्ष और यक्षिणियाँ भारतीय पौराणिक कथाओं और कहानियों, कविताओं और नाटकों आदि का विषय रही हैं। इन सब का संबंध सदा हिमालय से रखा गया है; और इन्हें लोग केवल विदेशी ही नहीं मानते रहे हैं, बल्कि दुष्ट और उपद्रवी भी समझते रहे हैं। अब यदि हिमालय के लोग चिपटी नाकवाले बनाए जायँ, तो यह मूर्त्ति बनानेवाले की तारीफ है। यहाँ उस मानव-विज्ञान की कोई खूबी नहीं है जो मूर्त्ति बनानेवाले और बनी हुई मूर्त्ति दोनों को एक मान लेता है—जो शुभ गुण को भयंकर दुष्ट आत्मा समझ लेता है। पटने में एक स्त्री की जो आदम कद मूर्ति मिली है, यदि हम उसे लें, तो यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। भरहूत में यक्षिणियों की जो मूर्त्तियाँ हैं, वे भद्दी, भारी और बेढंगम हैं; पर अभी हाल में पटने में जो मूर्त्ति मिली है, वह पूर्ण रूप से आर्य है। उसमें वही त्रिभंग है, जिसकी कवि लोग इतनी प्रशंसा किया करते हैं; बहुत सुंदर नाक है, छोटी ठोढ़ी है और आर्यों का सा सिर है*। यह मूर्त्ति उसी तरह की है, जिसके संबंध में जातकों में लिखा है† कि राज-प्रासादों में शोभा के लिये पुत्रवती स्त्रियों की मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं, जिन्हें

* जरनल बिहार एंड ओड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पृ० १०२.

† जातक ६, ४३२.

अँधेरे में देखकर लोगों को धोखा होता था कि ये सजीव स्त्रियाँ हैं। भारतीय कला में सदा विदेशियों और विलक्षण आकृतिवालों की ओर अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति रहती आई है; और यह प्रवृत्ति आजकल भी हिंदुओं की राष्ट्रीय लीलाओं, स्वाँगों और जलूसों आदि में देखने में आती है। हिंदू लोग जिस आदमी को नित्य देखा करते हैं, अर्थात् जो ठीक स्वयं उनकी तरह होता है, उसकी ओर उनका उतना ध्यान नहीं जाता, जितना कि विदेशियों और विलक्षण आकृतिवालों, उदाहरणार्थ बावन, सिंहारूढ़, नाग-पुरुष, नाग-स्त्री, यक्ष, एबिसीनियन या शत्रु-दल के दुष्ट दासों आदि की ओर जाता है। साँची या भरहूत के शिल्पियों को जब स्वयं अपने यहाँ के राजाओं, रानियों, स्त्रियों, बालकों, साधु-संन्यासियों, वृक्षों, गणेश या हनुमान आदि की मूर्त्तियाँ बनानी पड़ी थीं, तब उन्होंने पहले से ही मानव-विज्ञान संबंधी इस झगड़े का अनुमान कर लिया था। हम साहसपूर्वक कह सकते हैं कि इन सब की बनी हुई मूर्त्तियों में कोई व्यक्ति चिपटी नाकवाला, गाल की उठी हुई हड्डीवाला अथवा और कोई ऐसा चिह्न नहीं दिखला सकता जो विदेशियों की आकृति का सूचक हो *।

---

* जान पड़ता है कि इनमें से कुछ स्तंभ दूसरों के बनाए हुए खाकों या मानचित्रों के आधार पर बनाए गए थे; और विदिशा के हाथी-दाँत पर खुदाई का काम करनेवालों ने जो "रूपकम्" शब्द का व्यवहार किया है, (वेदिसकेहि दंतकारेहि रूपकंमं कतं) उसका भी यही

§ १८६. आगे चलकर साधारण रूप में यह कहा गया है कि ईसवी आरंभिक शताब्दियों में भारत की आबादी का

अभिप्राय है। ऐसी अवस्थाओं में मैंने जो "मूर्त्तियों" शब्द का प्रयोग किया है, वह बहुत अधिक उपयुक्त नहीं है।

मेरे मित्र मि० पांडेय ने मेरा ध्यान प्रो० ग्रनवेडेल के इस संबंध में निकाले हुए परिणाम की ओर आकृष्ट किया है, जो इस प्रकार है—

"भारतवर्ष में भिन्न भिन्न जातियों के जो लोग साथ साथ रहा करते थे, वे सब से बढ़कर अपनी शारीरिक गठन से ही पहचाने जाते थे। जब अशोक के समय में उत्तरी एशिया के लोगों के साथ उनका संबंध हुआ, तब कुछ नई तरह के लोग पैदा हो गए; और तब इस प्रकार विदेशी जातियों की आकृतियाँ बनाने का प्रयत्न आरंभ हुआ। इसके उदाहरण के लिये घुड़-सवारों आदि की वे मूर्त्तियाँ ली जा सकती हैं, जो साँची के द्वारों को सुशोभित करती हैं।"

"उदाहरण के लिये पूर्वी द्वार पर पौराणिक विदेशी व्यक्तियों की मूर्त्तियों के अतिरिक्त सींगवाले शेरों पर सवार दो मूर्त्तियाँ हैं। उनमें से एक का सिर तो अवश्य ही आर्य ढंग का नहीं है। उसके हब्शियों के से ऊनी बाल और सारे सिर की मोटी भद्दी आकृति देखकर चकित होना पड़ता है। इसी मूर्त्ति के हाथ में अंगूरों का एक गुच्छा भी है......। इस मेल की सभी मूर्त्तियाँ, जो बकरियों, ऊँटों और शेरों पर सवार हैं, हिंदुओं की मूर्त्तियों के बिलकुल विपरीत हैं, जो हाथी की सवारी करते हुए दिखलाए जाते हैं...............।"

"साँची में और जो स्तंभ हैं, उनमें से अधिकांश में हिंदू ढंग की ही मूर्त्तियाँ हैं। उनमें लंबा और भरा हुआ गोल चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें और मोटे मोटे होंठ दिखलाए गए हैं। भरहूत में भी इसी प्रकार की आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं, पर वे इससे कुछ अधिक कठोर (कोमलता रहित) हैं।" बर्गेस का अनुवाद। पृ० २३-२४.

मूल या आधार मंगोलिया से था। पर मुझे, अथवा जिसने महाभाष्य में यह पढ़ा है कि ब्राह्मण लोग अब तक सुंदर आँखोंवाले तथा सुंदर बालोंवाले (गौरः पिंगलः कपिलकेशः। पाणिनि ५. १. ११५. पर) होते हैं, अथवा जिसने गोपथ ब्राह्मण में यह पढ़ा है कि वैश्य लोग अब तक शुक्ल (गोरे रंग के) होते हैं और जिसने धर्मशास्त्रों में पढ़ा है कि शूद्र स्त्री अब तक इस देश का "कृष्ण सौंदर्य" है, उसे इस संबंध में किसी का "यह संभव है"* कहना अथवा तर्क वितर्क करना कभी संतुष्ट नहीं कर सकता। जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, गणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी होते थे। यूनानियों ने उन लोगों को देखा था और अपनी दृष्टि से उन्होंने उन लोगों की शारीरिक गठन की प्रशंसा की थी। यदि वे लोग चिपटी नाकवाले होते, तो यूनानी कभी उनकी प्रशंसा न करते। चाहे मानव-विज्ञान हो और चाहे भारतीय पुरातत्व का ज्ञान (Indology) हो, तोला भर प्रमाण मनों सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है।

ईसवी आरंभिक शताब्दियों के भारत-वासियों का मंगोलियन मूल

§ १८७. पूर्वी पुरातत्व के ज्ञाताओं का ध्यान सब से पहले लिच्छवियों की गण शासन-प्रणाली की ओर गया था, जिसे देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ था और उन्होंने उनके संबंध में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की थीं। विन्सेंट स्मिथ ने "लिच्छवियों

---

* इंडियन एंटीक्वेरी, १९०६. पृ० २९०.

का तिब्बती रक्त-संबंध" शीर्षक एक निबंध लिखा था* । मि० विन्सेंट स्मिथ ने भारत का जो इतिहास लिखा है, उनके निरंतर कई संस्करणों में उन्होंने इसी निबंध का हवाला दिया है; और प्रायः दूसरे लोग यही समझते हैं कि उस निबंध में जो सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है, वह ठीक सिद्ध हो चुका है ।

लिच्छवियों का मूल निवासस्थान

कहा जाता है कि लिच्छवियों में यह प्रथा थी कि वे अपने मृतकों को यों ही जंगल में फेंक दिया करते थे । मि० स्मिथ के प्रतिपादित सिद्धांत का पहला आधार यही है; क्योंकि उनका कहना है कि तिब्बत में भी यह प्रथा प्रचलित है। दूसरा आधार लिच्छवियों की न्याय-प्रणाली है, जिसके संबंध में उनका विचार यह है कि वह तिब्बत में प्रचलित न्याय-प्रणाली से बहुत कुछ मिलती जुलती है । परंतु इन दोनों आधारों के प्रमाणों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि "प्राचीन काल में वैशाली के लिच्छवियों की प्रथा"† (मुरदों को फेंकने की) केवल भ्रमात्मक अनुमान के कारण ही मान ली गई है । और यह भी पता चलता है कि दोनों की न्याय-प्रणाली में किसी प्रकार की कोई समानता नहीं थी ।

मि० स्मिथ के कथन का आधार चीन देश में प्रचलित यह प्राचीन दंतकथा है कि महात्मा बुद्ध ने वैशाली में बहुत

---

* इंडियन एंटीक्वेरी, १९०३. पृ० २३३-३५.

† Early History of India. तीसरा संस्करण; पृ० १५५.

से वृक्षों के नीचे एक श्मशान या मृतक-स्थान देखा था और उस मृतक-स्थान के संबंध में ऋषियों ने उनसे कहा था—"उस स्थान पर लोगों के मृत शरीर पक्षियों के खाने के लिये फेंक दिए जाते हैं। और जैसा कि आप देख रहे हैं, वहीं पर लोग मृतकों की सफेद हड्डियाँ चुन चुनकर ढेर लगाते जाते हैं। वहाँ पर लोग मृतकों की दाह-क्रिया भी करते हैं और उनकी हड्डियों के भी ढेर लगाते हैं। वे वृक्षों में शव लटका भी देते हैं; और जो लोग निहत होते हैं अथवा अपने संबंधियों के द्वारा मार डाले जाते हैं, वे वहाँ गाड़ भी दिए जाते हैं; क्योंकि उनके संबंधियों को भय होता है कि कहीं ये लोग फिर से जीवित न हो जायँ। और कुछ शव वहाँ पर यों ही जमीन पर इसलिये छोड़ दिए जाते हैं कि यदि संभव हो, तो वे फिर लौटकर अपने घर आ जायँ"*। यही वह वाक्य है (हमने इसे यहाँ ज्यों का त्यों अनुवाद करके उद्धृत कर दिया है) जिस पर मृतकों को यों ही जंगल में फेंक देनेवाला सिद्धांत निर्भर करता है और जिसके आधार पर मि० स्मिथ ने यह समझा है कि लिच्छवियों का मूल तिब्बती है। यह वाक्य चीन की एक ऐसी दंतकथा में का है, जो बुद्ध के समय के लगभग एक हजार वर्ष बाद की है; और इसलिये बुद्ध के समय की बातें बतलाने के संबंध में ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में इसका

---

* बील कृत Romantic Legend of Sakya Budha,

कोई मूल्य नहीं है। पर यह वाक्य जिस रूप में है, उस रूप में भी इसमें कोई दोष नहीं है। जो लोग संस्कृत साहित्य के नाटकों और सनातनी हिंदुओं में प्रचलित सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं से परिचित हैं, उनके लिये इस वाक्य का बिलकुल साधारण रूप में कुछ और ही अर्थ निकलता है। इसमें एक साधारण श्मशान का ही वर्णन है। जैसा कि धर्मशास्त्र में भी कहा गया है, कुछ अवस्थाओं में शव जलाया नहीं जाता, बल्कि वह या तो गाड़ दिया जाता है और या यों ही फेंक दिया जाता है; अथवा मनु के कथनानुसार "जंगल में लकड़ी के कुंदे की तरह फेंक दिया जाता है*।" (और हम कह सकते हैं कि इसके लिये लोगों को, जिनमें प्राच्य देशों के पुरातत्व की जानकारी रखनेवाले भी सम्मिलित हैं, यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि मानव धर्मशास्त्र के रचयिता तिब्बती या पारसी थे) संस्कृत नाटकों तथा कथानकों आदि में इस प्रकार की कथाएँ भरी पड़ी हैं कि लोगों को श्मशान में फाँसी दी जाती थी और लोग श्मशान-भूमि में किसी वृक्ष में फाँसी लगाकर आत्म-हत्या कर लेते थे। अब तक यह प्रथा भी प्रचलित है कि लोग इस आशा से शव को यों ही फेंक देते हैं कि कदाचित् यह जी उठे।

§ १८८. अब मि० स्मिथ का यह कथन लीजिए कि दोनों की न्याय-प्रणाली में "बहुत अधिक समानता" है; और मि० स्मिथ

---

* मनु, अध्याय ५, श्लोक ६९.

के कथनानुसार इस समानता पर 'ध्यान न जाना असंभव है'। हम यहाँ पर पादटिप्पणी में* स्वयं मि० स्मिथ के ही शब्दों

---

* लिच्छवियों की न्याय-प्रणाली के संबंध में मि० स्मिथ के मुख्य आधार टर्नर का यह कथन है—

"इस संबंध में अट्ठ कथा में यह टिप्पणी है—

"प्राचीन काल में जब कोई व्यक्ति वज्जी अधिकारियों या शासकों के सामने लाकर उपस्थित किया जाता है, तब वे उसके संबंध में तुरंत ही निर्णय नहीं कर देते कि यह अपराधी है, बल्कि उस पर केवल यह अभियोग लगाते हैं कि यह अपराधी है। वे उसे विनिच्चिय महामत्ता (प्रधान न्यायाधिकारी) को सौंप देते हैं। वे उसके संबंध में जाँच करने पर यदि यह समझते हैं कि यह अपराधी नहीं है, तो वे उसे छोड़ देते हैं। पर यदि वे निर्णय करते हैं कि यह अपराधी है, तो वे उसे बिना कोई दंड दिए वोहारिका (व्यवहार या धर्मशास्त्र का ज्ञाता) के पास भेज देते हैं। वे लोग भी उसके संबंध में जाँच करते हैं; और यदि उसे निरपराध पाते हैं, तो छोड़ देते हैं। पर यदि वह अपराधी होता है, तो वे उसे ऐसे अधिकारियों के पास भेज देते हैं जो सुत्तधरा (सुत्तन् के रक्षक) कहलाते हैं। वे भी उसके संबंध में जाँच करते हैं; और यदि उसे निरपराध समझते हैं, तो छोड़ देते हैं। पर यदि वे उसे अपराधी समझते हैं, तो अट्ठकुलका के पास भेज देते हैं। वे भी इसी प्रकार उसकी जाँच करते हैं और उसे सेनापति (प्रधान अमात्य) के पास भेज देते हैं। वह उसे उपराजा के पास भेज देता है और उपराजा उसे राजा के पास भेज देता है। तब राजा उसके संबंध में विचार करता है और यदि उसे निरपराध समझता है, तो छोड़ देता है। पर यदि वह अपराधी प्रमाणित होता है, तो वह पवेनिपत्थकान (नजीरों या प्रथाओं की पुस्तक) मँगवाता है। उसमें लिखा रहता है कि यदि कोई व्यक्ति अमुक अपराध करे, तो उसे अमुक दंड मिलना चाहिए। उसके

में दोनों न्याय-प्रणालियों के संबंध में समस्त वाक्य उद्धृत कर देते हैं। अब चाहे इसे कानून जाननेवाले लोग देखें और

अनुसार राजा निश्चय करता है कि इसका अपराध कितना बड़ा है; और तब उसके लिये उपयुक्त दंड की व्यवस्था करता है"। (जरनल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १८३८. १. ९९३—४.)

इस पर मि० स्मिथ कहते हैं—

"इस पेचीली प्रणाली में नीचे लिखी आठ अवस्थाएँ हैं—

(१) अपराधी का पकड़ा जाना और शासकों के सामने उपस्थित किया जाना।

(२) विनिच्चिय महामत्ता द्वारा होनेवाली जाँच।

(३) वोहारिका ,, ,, ,, ।

(४) सुत्तधरा ,, ,, ,, ।

(५) अट्ठकुलका ,, ,, ,, ।

(६) सेनापति के सामने उपस्थित किया जाना।

(७) उपराजा ,, ,, ,, ,, ।

(८) राजा के द्वारा होनेवाला अंतिम निर्णय। इस संबंध में राजा दंड देने में लिखित नियम का पालन करने के लिये बाध्य होता है।"

"बाबू शरत्चन्द्र दास ने (एशियाटिक सोसायटी बंगाल का कार्य्य-विवरण, १८९४. पृ० ५.) तिब्बतियों की न्याय-प्रणाली की जो अवस्थाएँ बतलाई हैं, वे भी ठीक ऐसी ही हैं—

(१) अभियुक्त व्यक्ति पकड़ा जाता है और हिरासत में भेजा जाता है।

(२) उस पर दृष्टि रखी जाती है, उसके साथ कृपापूर्ण व्यवहार होता है और उससे मुलायमत से प्रश्न किए जाते हैं।

(३) उससे मुलायमत से, पर बहुत ही सूक्ष्म विचार से प्रश्न किए जाते हैं, जिसे जमती कहते हैं; और उसके उत्तर लिख लिए जाते हैं।

चाहे जन साधारण देखें, दोनों ही यह समझ लेंगे कि इन दोनों में जो 'समानता' बतलाई जाती है, उसका ध्यान में आना असंभव है। यहाँ लिच्छवियों की शासन-प्रणाली के संबंध में जो कुछ कहा गया है, पाठक उसका मिलान महाभारत में बतलाई हुई* गण की न्याय-प्रणाली के साथ करें। लिच्छवियों की न्याय-प्रणाली उन्हीं नियमों आदि पर निर्भर करती थी जो नियम गणों में प्रचलित थे।

---

(४) उसकी और भी कड़ाई से जाँच की जाती है; और बीच बीच में उसे कोड़े लगाए जाते हैं। इसे शान-डी कहते हैं।

(५) यदि वह कोई बात सच या झूठ कबूल करता है, तब और अधिक प्रश्न करके उसकी जाँच की जाती है, उसे बार बार कोड़े लगाए जाते हैं और अनेक प्रकार से निर्दयतापूर्वक यातनाएँ पहुँचाई जाती हैं।

(६) यदि अपराध विकट होता है और सरकार भी उसमें एक फरीक हो जाती है, तो वह कलोन्स या राज-मंत्रियों के न्यायालय में पहुँचाया जाता है।

(७) यह न्यायालय अपनी ओर से ग्यल-त्शब (रीजेंट) को, जिसका न्यायालय समस्त देश में सर्वप्रधान होता है, सूचित करता है कि निर्णय में बतलाए हुए तीन दंडों में से कोई एक दंड देने की अनुमति दी जाय।

(८) केवल दलाई लामा ही यह दंड घटा, रोक या दोहरा सकता है। रीजेंट को केवल यही अधिकार है कि राजमंत्रियों के न्यायालय के बतलाए हुए तीन दंडों में से कोई एक दंड देने की आज्ञा दे।" इंडियन एंटिक्वेरी, १९०३. पृ० २३५ में प्रकाशित विन्सेंट स्मिथ का लेख।

* देखो ऊपर तेरहवाँ प्रकरण और चौदहवें प्रकरण का अंतिम अंश।

यही वे परिस्थितियाँ हैं जिन पर यदि विचार किया जाय, तो इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता कि लिच्छवि लोग राष्ट्रीय दृष्टि से भारतवासी ही थे। विदेह और लिच्छवि दोनों एक ही राष्ट्रीय नाम "वृजि" से प्रसिद्ध थे। अर्थात् हम कह सकते हैं कि दोनों एक ही राष्ट्र या जाति की दो शाखाओं के रूप में थे। पर कोई समझदार यह कहने का साहस नहीं करेगा कि विदेह लोग तिब्बती थे। इस बात का लिखित प्रमाण मिलता है कि वैदिक विदेहों ने उत्तरी बिहार में उपनिवेश स्थापित किया था*। यदि विदेह लोग शुद्ध हिंदू थे और उपनिषद्, दर्शन तथा सनातनी ईश्वर-वाद के अच्छे ज्ञाता थे, तो उन्हीं के राष्ट्र या जाति की दूसरी शाखा कभी बर्बर नहीं हो सकती। लिच्छवि लोग वैशाली में रहते थे। और जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, पुराणों में विदेहों की भाँति लिच्छवियों का संबंध भी एक प्रसिद्ध आर्य्य वंश के साथ स्थापित किया गया है। वे अनभिषिक्त शासक नहीं थे; और "अनभिषिक्त" शब्द का प्रयोग हिंदू लेखक उन बर्बरों के लिये करते थे, जो बाहर से भारत में आकर बस जाते थे। अंगुत्तर निकाय में लिच्छवियों के संबंध में भी अन्यान्य क्षत्रिय शासकों की भाँति "अभिषिक्त" शब्द का प्रयोग किया गया है। जातकों में उस प्रसिद्ध झील

लिच्छवियों का फौजदारी कानून

---

* शतपथ ब्राह्मण, १.४.१.१०. नोट।

का उल्लेख है, जिस पर बहुत होशियारी के साथ पहरा दिया जाता था और जिस पर गण या प्रजातंत्री शासकों का अभिषेक हुआ करता था* । समस्त बौद्ध साहित्य में एक स्वर से उन्हें उत्तम क्षत्रिय कहा गया है ।

§१८९. व्याकरण के नियमों के अनुसार उनका नाम लिच्छु शब्द से निकला है; अर्थात् वे लोग लिच्छु के अनुयायी या वंशज थे; और संस्कृत में इस शब्द का रूप लिक्षु होगा। लिक्ष शब्द का अर्थ है चिह्न; और लिक्षु शब्द उसी से संबद्ध है। उनका यह नाम संभवतः उनकी आकृति के किसी विशेष चिह्न के कारण पड़ा होगा। लक्ष्मण शब्द इस बात का एक दूसरा उदाहरण है। बिहार और दुआब में अब तक लोगों का नाम लच्छू होता है, जो इसी बात का सूचक है कि जिस व्यक्ति के शरीर पर कोई बड़ा काला या नीला चिह्न होता है, प्रायः उसका यह नाम पड़ जाता है ।

§१९०. लिच्छवियों के पड़ोसी मल्ल लोग महापरिनिब्बान सुत्त† में वाशिष्ठ कहे गए हैं; और वशिष्ठ आर्यों के एक प्रसिद्ध गोत्र का नाम है। महापरिनिब्बान सुत्त ऐसे धूर्त ब्राह्मणों का लिखा हुआ नहीं है जो बर्बर शासकों को आर्य वंशों में सम्मिलित करने के लिये प्रसिद्ध हैं ।

---

* देखो पृ० ७८ का दूसरा नोट ।

† महापरिनिब्बान सुत्त ५. १९.

§ १९१. शाक्यों की उत्पत्ति और मूल के संबंध में भी कुछ मतभेद और वादविवाद है। पाली के मान्य ग्रंथकार एक स्वर से यही कहते हैं कि शाक्य लोग ऐक्ष्वाकों की एक शाखा हैं। इसके विपरीत पक्ष के पुराणों में भी यही कहा गया है कि महात्मा बुद्ध, उनके पिता तथा उनके पुत्र इक्ष्वाकु वंश के थे। बुद्ध के समकालीन लोग भी, जिनमें मगध का राजा अजातशत्रु भी था, बुद्ध को सदा क्षत्रिय ही कहते रहे हैं*। जैसा कि हम नए प्रजातंत्रों की सृष्टि के इतिहास और यौधेयों तथा मद्रों के पौराणिक विवरण में बतला चुके हैं, किसी राज्य का सारा समाज उसके नेता के नाम से पुकारा जाता था। यही बात शाक्य समाज के संबंध में भी थी, जिसका नामकरण स्वयं बुद्ध के नाम पर हुआ था†। इसकी व्युत्पत्ति का यह इतिहास उस इतिहास के अनुकूल ही है जो इसी प्रकार के अन्यान्य प्रजातंत्रों के मूल के संबंध में प्राप्त हुआ है। अतः यह ऐतिहासिक तत्त्व मान्य होना चाहिए कि राजा ऐक्ष्वाकु के एक वंशज ने शाक्य प्रजातंत्र की स्थापना की थी और अपने नाम पर उसका नाम रखा था।

शाक्यों का मूल

§ १९२. प्रवाद है कि बहुत प्राचीन काल में शाक्यों में अपनी बहन के साथ विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी, जो अब परित्यक्त हो गई है। इस प्रवाद ने कुछ विद्वानों को

---

* महापरिनिब्बान सुत्त ४. २४.

† अंबट्ठ सुत्त, १६.

जातियों की उत्पत्ति के सिद्धांतों के संबंध में भ्रम में डाल दिया है। स्वयं वैदिक साहित्य में यह बात मान्य की गई है कि सनातनी जाति में बहुत प्राचीन काल में यह प्रथा अथवा नियम प्रचलित था। इस संबंध में बौद्धों में जो प्रवाद प्रचलित है, वह केवल शाक्यों तक के लिये ही परिमित नहीं है। उसके अनुसार इक्ष्वाकु राजवंश में भी यह प्रथा प्रचलित थी; और इक्ष्वाकु लोग कोई नव आगंतुक नहीं थे। वे लोग कभी पतित नहीं हुए थे। वे लोग उतने ही प्राचीन हैं, जितने प्राचीन स्वयं वेद हैं। यदि इक्ष्वाकु लोग आर्य थे, तो उनके वंशज शाक्य लोग कभी अनार्य नहीं हो सकते।

§१९३. इस संबंध में यूनानियों की गवाही, जिन्होंने स्वयं बहुत से भारतीय प्रजातंत्रियों को देखा था, उतनी ही प्रामाणिक है जितनी प्रामाणिक और कोई बात हो सकती है। पंजाब और सिंध के प्रजातंत्रियों के संबंध में वे कहते हैं कि वे लोग सुंदर और लंबे होते थे। यूनानी लोग, जिन्हें मैं इस संबंध में अच्छा निर्णायक समझता हूँ, हिमालय के मंगोलियनों की चिपटी नाक को कभी सुंदर न बतलाते; और न हिमालय-वालों की आकृति को यूनानी लोग कभी भव्य ही कह सकते थे। उनका स्वयं वह नाम ही यह बात प्रमाणित करता है कि वह हिंदुओं की पूर्ण और पवित्र शुद्ध आर्य शाखा के संबंध में है। इन सब प्रजातंत्रियों को उन लोगों ने विशेष और स्पष्ट रूप से भारतीय कहा है।

§ १९४. इन प्रजातंत्रियों के नाम भी इनके हिंदू मूल के दूसरे आंतरिक प्रमाण हैं। कथई या कठ लोग वैदिक युग के हैं; और यजुर्वेद की कठ शाखा तथा कठोपनिषद् की उत्पत्ति उन्हीं लोगों से है। मद्रों का उल्लेख केवल वैदिक साहित्य में ही नहीं है, बल्कि उनके यहाँ सनातनी शिक्षाओं का केंद्र था, जहाँ श्वेतकेतु सरीखे लोग गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करने के उपरांत वैदिक यज्ञ आदि के संबंध में और अधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाते थे। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, यौधेयों और मद्रों के मूल के संबंध में एक निश्चित और प्रामाणिक इतिहास है। 'क्षत्रिय' जाति के लोग भी विशुद्ध और उत्तम क्षत्रिय थे। वृष्णि लोग केवल क्षत्रिय ही नहीं थे, बल्कि पवित्र क्षत्रिय थे, क्योंकि वे वैदिक युग के सात्वत् यदु थे। स्वयं आर्जुनायन और शालंकायन आदि नाम ही इस बात का निश्चित प्रमाण हैं कि उनका मूल सनातनी है। इस संबंध में पाणिनि के जो सूत्र हैं, वही उन पर सनातनी होने की मानों मोहर लगा देते हैं।

नामों और सनातनी साहित्य की साक्षी

§१९५. इस प्रकार सनातनत्व ने मानों पहले ही से यह समझ लिया था कि आगे चलकर कदाचित् इस संबंध में मतभेद या वादविवाद होगा; और इसी लिये उसने इन प्रजातंत्रों की सनातनी उत्पत्ति पर अपनी मोहर लगा दी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में उन वैदिक कृत्यों का वर्णन है, जिनके अनुसार प्रजा-

तंत्री मद्रों, सात्वतों, कुरुत्रों आदि का राज्याभिषेक हुआ करता था और जिनके अनुसार पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम की भौज्य और स्वराज्य शासन-प्रणालियाँ तथा हिमालय के पास की वैराज्य शासन-प्रणाली मान्यता प्राप्त करती थी।

§ १९९. किसी विशिष्ट प्रजातंत्री समाज का जातीय मूल चाहे कुछ भी क्यों न हो, पर प्रजातंत्र या गण शासन-प्रणाली भारतीय और सनातनी भारतीय थी। वह ऐतरेय ब्राह्मण और उससे भी पहले के समय की है। प्रजातंत्र और गण राज्य स्वयं उन हिंदुओं के अनुभूत प्रयोग थे, जो किसी समय एकराज शासन-प्रणाली के अंतर्गत थे और बाद में प्रजातंत्री हो गए थे। इसका और अधिक प्रमाण उससे मिलता है जो आज से बाईस शताब्दियों पहले मेगास्थिनीज ने इस देश में देखा और जाना था (§ १८)।

परिशिष्ट क

अंधक-वृष्णि संघ के संबंध में महाभारत का उल्लेख

§ १९७. शांतिपर्व के ८१वें अध्याय में अंधक-वृष्णि संघ के कार्यों के संबंध में एक विवेचन है। यद्यपि वह कथन भीष्म पितामह के मुँह से कहलाया गया है, तथापि वह एक प्राचीन इतिहास है। उसमें कृष्ण ने अपने मित्र नारद को यह बतलाया है कि वृष्णियों के नेता के रूप में मुझे किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; और नारद ने उन्हें यह बतलाया है कि इन कठिनाइयों को दूर करने का क्या उपाय है। यह विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे नीचे लिखी बातों का पता चलता है—

(क) उस संघ में दो राजनीतिक दल थे और उनमें से प्रत्येक दल राजनीतिक विषयों में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था।

(ख) उनकी पार्लिमेंट या काउंसिल में खूब वाद विवाद हुआ करते थे, जिनमें कृष्ण पर आक्रमण किया जाता था; और वे उसके उत्तर में दूसरों पर आक्रमण या आक्षेप किया करते थे; क्योंकि नारद ने इस बात के लिये उनकी निंदा की है कि

तुम अच्छे ढंग से और जोरदार शब्दों में अपना पक्ष नहीं प्रतिपादित करते।

(ग) जिस समय का यह इतिहास है, उस समय बभ्रु उग्रसेन* और कृष्ण निर्वाचित सभापति या प्रधान थे।

(घ) सब प्रजातंत्री नेता आपस में एक दूसरे के रिश्तेदार थे; और कृष्ण के संबंधियों का जितना अधिक प्रभाव था, उतना कृष्ण का नहीं था। जान पड़ता है कि पार्लिमेंटों में वृष्णियों का नेता आहुक और दूसरे पक्ष (अंधकों) का नेता अक्रूर था। [सभापर्व के † अनुसार इन दोनों ने अपने वंशों में एक राजनीतिक विवाह कर लिया था।]

हम यहाँ पर वह मूल कथोपकथन और उसका अनुवाद देते हैं।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं वासुदेवस्य महर्षेर्नारदस्य च ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम्।
अपण्डितो वाऽपि सुहृत्पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥ ३ ॥

* उग्रसेनो नामान्धकः। पाणिनि ४. १. ११४. पर महाभाष्य; कीलहार्न, २. पृ० ११४.

† अध्याय १४. श्लोक ३३-३४.

स ते सौहृदमास्थाय किंचिद्वक्ष्यामि नारद ।
कृत्स्नां बुद्धिं च ते प्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवङ्गम ॥ ४ ॥
दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम् ।
अर्धभोक्ताऽस्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ५ ॥
अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम ।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहति नित्यदा ॥ ६ ॥
बलं सङ्कर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥
अन्ये हि सुमहाभागा बलवंतो दुरासदाः ।
नित्योत्थानेन संपन्ना नारदांधकवृष्णयः ॥ ८ ॥
यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत् ।
द्वयोरेनं प्रचरतोर्वृणोम्येकतरं न च ॥ ९ ॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः ।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने ।
नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥ ११ ॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयदर्शनात् ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ १२ ॥

नारद उवाच

आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यंतराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वाऽन्यतः ॥ १३ ॥

सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ १४ ॥
अर्थहेतोर्हि कामाद्वा वीरबीभत्सया*ऽपि वा ;
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥
कृतमूलमिदानीं तत् ज्ञाति-शब्दं सहायवत् ।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव स्वयम् ॥ १६ ॥
बभ्रूग्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन ।
ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥ १७ ॥
तच्च सिध्येत्प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
महाक्षयं व्ययो वा स्याद्विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥ १८ ॥
अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा ।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम् ।
येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ २० ॥

नारद उवाच

शक्यान्नदानं सततं तितिक्षाऽऽर्जवमार्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥ २१ ॥
ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥ २२ ॥

---

* पाठांतर—वाचा वीभत्सया ।

नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमादाय समुद्यम्योरसा वहेत् ॥ २३ ॥
सर्व एव गुरुं भारमनड्वान्वहते समे ।
दुर्गे प्रतीतः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ॥ २४ ॥
भेदाद्विनाशः सङ्घानां सङ्घमुख्योसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं सङ्घस्तथा कुरु ॥ २५ ॥
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र धनसन्त्यागाद्गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा ।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु ॥ २७ ॥
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ।
षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रा यानविधौ तथा ॥ २८ ॥
यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
त्वय्यायत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये ॥ २९ ॥

भीष्म ने कहा—इस संबंध में (राजनीतिक विषयों में संबंधियों के संबंध में) एक प्राचीन इतिहास है। उसमें वासुदेव और नारद में एक संवाद हुआ था। (२)

वासुदेव ने कहा—

हे नारद, राज्य-संबंधी महत्वपूर्ण बातें न तो उसी से कही जा सकती हैं जो अपना मित्र नहीं है, न उसी मित्र से कही जा सकती हैं जो पंडित नहीं है और न उसी पंडित से कही जा सकती हैं जो आत्मवान् या आत्मसंयमी नहीं है। (३)

हे नारद, तुममें मैं वह सच्ची मित्रता पाता हूँ जिस पर मैं निर्भर कर सकता हूँ; इसलिये मैं तुमसे कुछ बातें कहना चाहता हूँ। हे सुप्रसन्न, तुम्हारी बुद्धि बहुत प्रबल है, इस-लिये मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ। (४)

यद्यपि लोग उसे ऐश्वर्य या प्रभुत्व कहते हैं, तथापि मैं जो कुछ करता हूँ, वह वास्तव में अपनी जाति के लोगों का दासत्व है। यद्यपि मैं आधे वैभव या शासनाधिकार का भोग करता हूँ, तथापि मुझे उनके केवल कठोर वचन ही सहने पड़ते हैं। (५)

हे देवर्षि, उन लोगों के कठोर वचनों में मेरा हृदय उसी अरणी की भाँति जलता रहता है जिसे अग्नि उत्पन्न करने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति मथन करता है। वे वचन सदा मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। (६)

(यद्यपि) संकर्षण अपने बल के लिये और गद अपने राजसी गुणों के लिये सदा से बहुत प्रसिद्ध है और प्रद्युम्न मुझसे भी बढ़कर रूपवान् है, तथापि हे नारद, मैं असहाय हूँ। कोई मेरी सहायता करनेवाला या अनुकरण करनेवाला नहीं है। (७)

दूसरे अंधक और वृष्णि लोग वास्तव में महाभाग, बलवान् और पराक्रमी हैं। हे नारद, वे लोग सदा राजनीतिक बल (उत्थान) से संपन्न रहते हैं। (८)

वे जिसके पक्ष में हो जाते हैं, उसकी सब बातें सध जाती हैं। और यदि वे किसी के पक्ष में न हों, तो फिर उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता।

यदि आहुक और अक्रूर किसी व्यक्ति के पक्ष में हों, तो उसके लिये इससे बढ़कर और कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती। और यदि वे किसी व्यक्ति के पक्ष में न हों, तो उसके लिये भी इससे बढ़कर और कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मैं दोनों दलों में से किसी दल का निर्वाचन नहीं कर सकता। (९-१०)

हे महामुने, इन दोनों के बीच में मैं उन दो जुआरियों की माता की भाँति रहता हूँ, जो आपस में एक दूसरे के साथ जूआ खेलते हैं; और वह माता न तो इस बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक जीते और न इस बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक हारे। (११)

अब हे नारद, तुम मेरी अवस्था पर और साथ ही मेरे संबंधियों की अवस्था पर भी विचार करो और कृपा कर मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाओ जो दोनों के लिये श्रेय (कल्याण-कारक) हो। मैं बहुत ही दुःखी हो रहा हूँ। (१२)

नारद ने कहा—

हे कृष्ण, (प्रजातंत्र या गण में) दो प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं; एक तो बाह्य या बाहरी और दूसरी आभ्यंतर या भीतरी; अर्थात् एक तो वे जिनका प्रादुर्भाव अपने अंदर से होता है और दूसरी वे जिनका प्रादुर्भाव अन्य स्थान से होता है। (१३)

यहाँ जो आपत्ति है, वह आभ्यंतर है। वह (सदस्यों के) स्वयं अपने कर्मों से उत्पन्न हुई है। अक्रूर भोज के अनुयायी

और उनके सब संबंधी या ज्ञाति के लोग धनप्राप्ति की आशा से सहसा प्रवृत्ति बदलने के कारण अथवा वीरता की ईर्ष्या से* युक्त हो गए हैं; और इसी लिये उन्होंने जो राजनीतिक अधिकार (ऐश्वर्य) प्रतिपादित किया था, वह किसी दूसरे के हाथ में चला गया है। (१४-१५)

जिस अधिकार ने जड़ पकड़ ली है और जो ज्ञाति शब्द की सहायता से और भी दृढ़ हो गया है†, उसे वे लोग वमन किए हुए भोजन की भाँति फिर से वापस नहीं ले सकते। ज्ञाति या संबंधी में मतभेद या विरोध होने के भय से वे बभ्रु उग्रसेन से राज्य या शासनाधिकार वापस नहीं ले सकते। हे कृष्ण, विशेषतः तुम (उनकी कुछ सहायता) नहीं कर सकते। (१६-१७)

यदि कोई दुष्कर नियमविरुद्ध कार्य करके यह बात कर भी ली जाय, उग्रसेन को अधिकार-च्युत कर दिया जाय, उसे प्रधान पद से हटा दिया जाय, तो महा क्षय, व्यय अथवा विनाश तक हो जाने की आशंका है। (१८)

अतः तुम ऐसे शस्त्र का व्यवहार करो जो लोहे का न हो, बल्कि मृदु हो और फिर भी जो सब के हृदय छेद सकता हो। उस शस्त्र को बार बार रगड़कर तेज करते हुए संबंधियों की जीभ काट दो। उनका बोलना बंद कर दो। (१९)

---

* अथवा "वीभत्स भाषण" देखो पृ० ३१६ का नोट।

† प्रतापचंद्र राय के अनुवाद के आधार पर।

वासुदेव ने कहा—

हे मुने, तुम मुझे यह बतलाओ कि वह कौन सा ऐसा शस्त्र है जो लोहे का नहीं है, जो बहुत ही मृदु है और फिर भी जो सबके हृदय छेद सकता है और जिसे बार बार रगड़कर तेज करते हुए मैं उन लोगों की जीभ काट सकता हूँ। (२०)

नारद ने कहा—

जो शस्त्र लोहे का बना हुआ नहीं है, वह यह है कि जहाँ तक तुम्हारी शक्ति हो, सदा उन लोगों को कुछ खिलाया पिलाया करो, उनकी बातें सहन किया करो, अपने अंत:करण को सरल और कोमल रखो और लोगों की योग्यता के अनुसार उनका आदर सत्कार किया करो। (२१)

जो संबंधी या ज्ञाति के लोग कटु और लघु बातें कहते हों, उनकी बातों पर ध्यान मत दो और अपने उत्तर से उनका हृदय, वाचा और मन शांत करो। (२२)

जो महापुरुष नहीं है, आत्मवान् नहीं है और जिसके सहायक या अनुयायी नहीं हैं, वह उच्च राजनीतिक उत्तरदायित्व का भार सफलतापूर्वक वहन नहीं कर सकता। (२३)

समतल भूमि पर तो हर एक बैल भारी बोझ लादकर चल सकता है। पर कठिन बोझ लादकर कठिन मार्ग पर चलना केवल बहुत बढ़िया और अनुभवी बैल का ही काम है। (२४)

केवल भेद नीति के अवलम्बन से ही संघों का नाश हो सकता है। हे केशव, तुम संघ के मुख्य या नेता हो। संघ ने तुम्हें इस समय प्रधान के रूप में प्राप्त किया है; अतः तुम ऐसा काम करो जिसमें यह संघ नष्ट न हो। (२५)

बुद्धिमत्ता, सहनशीलता, इंद्रियनिग्रह और उदारता आदि ही वे गुण हैं जो किसी बुद्धिमान् मनुष्य में किसी संघ का सफलतापूर्ण नेतृत्व ग्रहण करने के लिये आवश्यक होते हैं। (२६)

हे कृष्ण, अपने पक्ष की उन्नति करने से सदा धन, यश और आयु की वृद्धि होती है। तुम ऐसा काम करो जिससे तुम्हारे संबंधियों या ज्ञातियों का विनाश न हो। (२७)

हे प्रभु, भविष्य संबंधी नीति, वर्तमान संबंधी नीति, शत्रुता की नीति, आक्रमण करने की कला और दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने की नीति में से एक भी बात ऐसी नहीं है जो तुम न जानते हो। (२८)

हे महाबाहो, समस्त अंधक-वृष्णि, यादव, कुरु और भोज, उनके सब लोग और लोकेश्वर* अपनी उन्नति तथा संपन्नता के लिये तुम्हीं पर निर्भर करते हैं। (२९)

---

* शासक के अर्थ में 'ईश्वर' एक पारिभाषिक शब्द है। देखो पाणिनि ६. १. २. पर महाभाष्य; कीलहार्न, ३. पृ० ७. 'ईश्वर आज्ञापयति। ग्रामाद्ग्रामान्मनुष्या आनीयंतां प्रागांगं ग्रामेभ्यो ब्राह्मण आनीयंतामिति'। मिलाओ उक्त ग्रंथ २. ३६५. साथ ही देखो गौतम धर्मसूत्र ६. ६३. और जातक १. ५१०. 'इस्सरिय' 'एकराजता'।

परिशिष्ट ख

उन भारतीय प्रजातंत्रों की सूची जिनका विवेचन प्रथम भाग में हुआ है।

(१) अग्रश्रेणी (अग्सिनेई, Agsinae)

(२) अंधक

(३) अंध्र

(४) अंबष्ठ (अंबस्तनोई, Ambastanoi, Sambastai)

(५) अरट्ट, अरिष्ट (अद्रेस्तई, Adrestai)

(६) अवंती (द्वैराज्य)

(७) आभीर

(८) आर्जुनायन

(९) औदुम्बर

(१०) उत्तर-कुरु

(११) उत्तर-मद्र

(१२) उत्सव-संकेत

(१३) कठ (कथैयन, Kathaians)

(१४) कर्पट (खरपरिक)

(१५) काक

(१६) कांबोज

(१७) कुकुर

(१८) कुणिंद

(१९) कुरु

(२०) केरलपुत्त

(२१) कोलिय

(२२) कौंडिवृष

(२३) कौंड्यरथ

(२४) कौष्टकि

(२५) क्षत्रिय (कथरोई, Kathroi)

(२६) क्षुद्रक (आक्सिड्रकई, Oxydrakai)

(२७) गंधार

(२८) गोपालव

(२९) ग्लौचुकायनक (ग्लौकनीकोई, Glaukanikoi. ग्लौसई, Glausai)

(३०) चिक्कलि निकाय

(३१) जानकि

(३२) जालमनि

(३३) त्रिगर्त्त

(३४) दक्षिण-मल्ल

(३५) दांडकि

(३६) दामनि

(३७) नाभक और नाभ-पंक्ति

(३८) नीस (अकौभि, Akoubhi)

(३६) नेपाल द्वैराज्य
(४०) पटल
(४१) पर्श्व
(४२) पाञ्चाल
(४३) पितिनिक
(४४) पुलिंद
(४५) पुष्यमित्र
(४६) प्रस्थल (प्रेस्टो, Presti)
(४७) प्रार्जुन
(४८) बुलि
(४६) ब्राह्मगुप्त
(५०) ब्राह्मणक (जनपद) (ब्राचमनोई, Brachmanoi)
(५१) भगल
(५२) भर्ग
(५३) भोज
(५४) मद्र
(५५) मल्ल
(५६) महाराज (जनपद)
(५७) मालव
(५८) मुचुकर्ण (मौसिकनि, Mousikani)
(५६) मोरिय
(६०) मौंडि निकाय

(६१) योन

(६२) यौधेय

(६३) राजन्य (जनपद)

(६४) राष्ट्रिक

(६५) लिच्छवि

(६६) वसाति (ओस्सडिओई, Ossadioi)

(६७) वामरथ

(६८) विदेह

(६९) वृक

(७०) वृजि

(७१) वृष्णि

(७२) शाक्य

(७३) शायंड

(७४) शालङ्कायन

(७५) शिबि (जनपद) (शिबोई, Siboi) (माध्यमिकेय)

(७६) शूद्र (शूद्रायण = Sodrai)

(७७) सतियपुत

(७८) सत्वत्

(७९) सनकानीक

(८०) सापिंडि-निकाय

(८१) सुराष्ट्र

(८२) सौभूति (त) (सोफाइट्स, Sophytes)

परिशिष्ट ग

पहले खंड के अतिरिक्त नोट (१८२४)

पृ० ३. अर्थशास्त्र (कौटिल्य)—उसका रचयिता और काल

अभी हाल में यह विवाद फिर उठ खड़ा हुआ है कि इस ग्रंथ का निर्माण-काल क्या है। डा० जोली (Arthasastra of Kautilya, लाहौर, १९२३, प्रस्तावना पृ० १-४७.) ने कह दिया है कि यह प्रायः तीसरी शताब्दी ईसवी का लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ है (पृ० ४३-४७.) उन्होंने लिखा है—"हम यह मान सकते हैं कि अर्थशास्त्र की रचना लगभग ईसवी तीसरो शताब्दी में हुई थी।" 'इसका वास्तविक रचयिता कोई कोरा सिद्धांतवादी था और स्वयं कौटिल्य एक कल्पित राजमंत्री था।' (पृ० ४७.)

(क) रचयिता

हम यहाँ पहले अंतिम सिद्धांत पर विचार करते हैं। इस संबंध में जोली की युक्तियाँ इस प्रकार हैं।

(क) कौटिल्य के संबंध में परंपरा से जो विवरण चले आते हैं, वे कौटिल्य को साहित्यिक रचनाओं के रचयिता या शिक्षक के रूप में नहीं मानते।

(ख) न कहीं मेगास्थिनीज ने इसके नाम का उल्लेख किया है।

(ग) न कहीं अंतिम लेखक मेगास्थिनीज के भारत-संबंधी विवरण से यह पता चलता है कि वह कौटिल्य का समकालीन था।

(घ) पतंजलि ने अपने महाभाष्य में मौर्यों और चंद्रगुप्त की सभा का तो उल्लेख किया है, पर कौटिल्य के संबंध में वे भी चुप हैं।

(ङ) कौटिल्य केवल एक उपनाम है जिससे झुठाई और आडंबर या बनना सूचित होता है; और चंद्रगुप्त के सुप्रसिद्ध राजमंत्री ने कदाचित् ही इस प्रकार की झुठाई और आडंबर रचा होगा।

(च) न इस ग्रंथ के रंग ढंग से ही सूचित होता है कि यह किसी अच्छे राजनीतिज्ञ का लिखा हुआ है; क्योंकि पंडितों के रचे हुए सभी शास्त्रों की भाँति केवल रूढ़ि के अनुसार किए हुए थोथे विभागों और बालकों के से किए हुए विभेदों से यह ग्रंथ भरा हुआ है।

जोली का निकाला हुआ परिणाम—"इसलिये इस ग्रंथ का वास्तविक रचयिता कोई कुशल राज्य-संचालक नहीं था, बल्कि केवल साधारण सिद्धांतों का ज्ञाता था और वह कदाचित् किसी मध्यम श्रेणी के राज्य का कोई अधिकारी था।" (पृ० ४७.) "लोग जो इसे कौटिल्य या चाणक्य का रचा हुआ ग्रंथ

मानते हैं, उसका कारण केवल यही है कि उस प्रसिद्ध राजमंत्री के संबंध में बहुत सी कल्पित कथाएँ प्रचलित थीं, जो राजनीति-शास्त्र का पूर्ण पंडित और निर्णायक तथा नीति-संबंधी प्रचलित बुद्धिमत्ता का आविष्कर्त्ता माना जाता था।" (पृ० ४७.)

तर्क (क) का खंडन निकाले हुए परिणाम के पिछले अंश से हो जाता है, जिसमें यह स्वीकृत किया गया है कि परंपरागत कथाओं और लेखों आदि के आधार पर कौटिल्य आविष्कर्त्ता माना जाता था, आदि आदि। साहित्य में इस प्रकार की परंपरागत कथाएँ आदि मिलती हैं। उदाहरणार्थ नंदिसूत्र में डा० शाम शास्त्री द्वारा उद्धृत 'कोडिल्लियं मिथ्या शास्त्र' अर्थशास्त्र (१६०६), उपोद्घात ६. और संस्कृत के पंचतंत्र, कामन्दक, दंडिन् ('पूज्य आचार्य') मेधातिथि आदि।

तर्क (ख) का सीधा सा उत्तर यह है कि मेगास्थिनीज का लिखा हुआ ग्रंथ कहा है? पहले उस ग्रंथ का पता लगाइए; क्योंकि जो ग्रंथ अभी तक मिला ही नहीं है, उसके आधार पर हम कोई सिद्धांत स्थिर नहीं कर सकते।

तर्क (ग) केवल इस कल्पित सिद्धांत के आधार पर खड़ा किया गया है कि कौटिल्य किसी बड़े साम्राज्य से परिचित ही नहीं था, बल्कि उसका संबंध किसी छोटे से राज्य से था; क्योंकि उसने पड़ोसियों के संबंध में मंडल या प्रकृति-वाला सिद्धांत दिया है; और उसने गणों के अस्तित्व और उनके प्रति काम में लाई जानेवाली नीति का उल्लेख किया है। इस कल्पना का

वास्तविक घटना से खंडन हो जाता है। कौटिल्य कहता है कि चक्रवर्त्ति क्षेत्र* हिमालय पर्वत और समुद्र के मध्य में है और वह सीधी रेखा में (जिस प्रकार कौवा उड़ता है) ९२ † हजार योजन है। किसी ऐसे राज्य की कदाचित् सहज में कल्पना ही नहीं हो सकती जिसके पड़ोसी न हो; और किसी राजनीतिज्ञ का साम्राज्य चाहे कितना बड़ा क्यों न हो, उसे अपने पड़ोसियों के संबंध की नीति स्थिर करनी ही पड़ेगी। इसके अतिरिक्त लोग यह भी जानते हैं कि दक्षिण में अनेक पड़ोसी थे जिन पर दूसरे शासन में अर्थात् बिंदुसार के समय में विजय प्राप्त की गई थी‡। जब चंद्रगुप्त ने यूनानियों से उत्तर-पश्चिमी प्रांत प्राप्त किए थे, तब उसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि उसने वे प्रदेश बिना उन शासकों के लिए थे जो साधारणतः प्रजातंत्री थे और जिनका सिकंदर की शासन-व्यवस्था में अस्तित्व था। संघ-वृत्त (ग्रंथ) में ऐसे गणों के प्रति नीति निर्धारित की गई है जिनके संबंध में यह मान लिया गया है कि वे महाराज के प्रभाव के अंतर्गत थे, चाहे वे (१) पंजाब, (२) अफगानिस्तान (काम्बोज), (३) पश्चिमी भारत या (४) उत्तरी बिहार के हों। उनमें ऐसे दल भी थे जो महाराज के पक्ष में थे और ऐसे दल भी थे जो उनके विरोधी थे (अर्थशास्त्र)। उसे

---

* ९. १. पृ० ३३८.

† शंकराचार्य का पाठ, कामंदकीय नीतिसार १. ३९.

‡ जरनल आफ दी बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २. ८१.

उनमें के नेताओं में भेद भाव उत्पन्न करना पड़ता था, उनमें से कुछ के प्रति कृपापूर्ण व्यवहार करना पड़ता था और कुछ को अधिकारारूढ़ करना पड़ता था (पृ० ३७६.)। सब लोग यह बात जानते हैं कि एक आरंभिक मौर्य काल को छोड़कर और किसी काल में अफगानिस्तान, पंजाब, पश्चिमी भारत और उत्तरी बिहार सब एक साथ और एक ही समय में किसी एक भारतीय राजा के अधिकार-क्षेत्र में नहीं थे। कौटिल्य छोटे छोटे राजाओं का अस्तित्व सहज में सहन नहीं कर सकता था; और यह एक ऐसी बात है जो केवल मौर्य काल के संबंध में ही ठीक ठीक घट सकती है। शुंग काल में साम्राज्य की नीति बदल गई थी। उसने प्रायः ऐसा रूप धारण कर लिया था जो साधारणतः बहुत से मांडलिक राजाओं के लिये ही उपयुक्त होता है (देखो शिलालेखों में उल्लिखित स्थानिक राजाओं के नाम)।

अब तर्क (घ) लीजिए। यह बात ठीक है कि पतंजलि ने कौटिल्य का कोई उल्लेख नहीं किया है। पर डा० जोली को पाणिनि का कोई ऐसा सूत्र या कात्यायन का कोई वार्त्तिक या पतंजलि के भाष्य का कोई ऐसा अंश दिखलाना चाहिए था, जिसमें कौटिल्य का उल्लेख करना आवश्यक होता। यदि पतं-जलि में बिंदुसार, अशोक, राधागुप्त या बुद्ध का कोई उल्लेख नहीं है, तो क्या इससे यह सिद्धांत स्थिर कर लिया जाय कि ये लोग हुए ही नहीं थे? पतंजलि कोई इतिहास लिखने नहीं बैठा था।

(ङ) लोग स्वयं अपना नामकरण नहीं करते। नाम तो माता पिता रखते हैं। रखे हुए नामों से पीछा छुड़ाना बहुत कठिन होता है और कोई समझदार आदमी अपना भद्दा नाम बदलने के फेर में नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ शुनःशेफ, पिशुन या अँगरेजी का फॉक्स (Fox)। जैसा कि कई बार बतलाया जा चुका है*, कौटिल्य एक गोत्र का नाम है जो पीढ़ियों से चला आता था। डा० जोली को उनके इस तर्क का उत्तर तो कौटिल्य का वह मूल पुरुष दे सकता है जिसका नाम कुटिल या कौटिलि* रहा होगा। कौटिल्य विष्णुगुप्त इसके लिये उत्तरदायी नहीं है। चाणक्य (हिंदू साहित्य के अनुसार पिता द्वारा प्राप्त किया हुआ नाम*) विजयगढ़ (मिरजापुर) की गुफा के एक चित्रित शिलालेख में ईसवी चौथी शताब्दी की गुप्त लिपि में उल्लिखित है, जिसका फोटो पटना म्यूजियम के क्यूरेटर राय साहब एम० घोष लाए हैं। उसमें चाणक्य रोषः लिखा है।

(च) यदि पंडितों के रचे हुए सभी शास्त्र थोथे विभागों और बालकों के से किए हुए विभेदों से भरे हुए हैं, तो यह कौटिल्य के देश का साहित्यिक दोष है और वह स्वयं इस परंपरागत दोष से नहीं बच सकता था। युरोप के किसी देश की भाषा-शैली दूसरे युरोपियनों की दृष्टि में बेढंगम और थोथी हो सकती है; पर उस देश का निवासी ग्रंथकर्त्ता चाहे कालिज

---

* जरनल आफ दी बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, २. ७९. ८०. नोट।

का प्रोफेसर हो और चाहे राजनीति पर व्याख्यान देनेवाला राजनीतिज्ञ हो, उस शैली को छोड़ नहीं सकता। हमारी समझ में तो अर्थशास्त्र में दिए हुए विवरण और सिद्धांत ऐसे ही हैं जिन्हें केवल थोथे सिद्धांतों का ज्ञाता और उपेक्ष्य पंडित कभी लिख नहीं सकता। वास्तव में यह बात स्वयं जोली ने भी मान ली है; क्योंकि एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि इस ग्रंथ का रचयिता संभवतः राज्य का कोई ऐसा अधिकारी था जो शासन-कार्य से परिचित था। स्वयं यह स्वीकृति ही पंडित और कोरे सिद्धांतवादी-वाले कथन का खंडन करती है। जोली ने आरंभ में ही लिखा है—"अर्थशास्त्र में राज्य की भीतरी और बाहरी नीति का विवेचन है और उसे हम भारत का प्राचीन गजेटियर मान सकते हैं। उसे राजनीति और उसके विज्ञान का संग्रह कह सकते हैं" (पृ० १-२.)। और आगे चलकर उन्होंने कहा है—"साधारणतः अर्थशास्त्र की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से वास्त-विकता और सांसारिकता की ओर है" (पृ० ३)। अब डा० जोली पर यह बात प्रमाणित करने का बहुत भारी उत्तरदायित्व है कि इस ग्रंथ का रचयिता वह व्यक्ति नहीं है जिसका नाम लिया जाता है और जो शंकराचार्य, बाण, दंडी, कामंदक तथा अन्य अनेक व्यक्तियों के द्वारा इसका रचयिता माना जाता है, बल्कि कोई दूसरा ही व्यक्ति है। केवल कह देने से ही कोई चीज जाली नहीं हो सकती। उसका जाली होना प्रमाणित होना चाहिए; और यह बात उसे प्रमाणित करनी चाहिए जो उसे

जाली बतलाता हो। अब पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि डा० जोली ने अपने ऊपर का यह भार कहाँ तक उतारा है, अपने उत्तरदायित्व से वे कहाँ तक मुक्त हुए हैं। हमारी सम्मति में तो वे अपने ऊपर से यह भार नहीं उतार सके हैं। उन्हें जो कुछ प्रमाणित करना चाहिए था, वह वे प्रमाणित नहीं कर सके हैं।

(२) रचना-काल

अब हमें यह देखना चाहिए कि इसका रचना काल क्या है।

डा० जोली का यह कथन बहुत ठीक है कि इस समस्त ग्रंथ में आदि से अंत तक रचना और विषय-योजना का ऐसा उत्तम संकलन है जो जल्दी और कहीं देखने में नहीं आता (पृ० ५)। और उनके इस कथन से सब लोगों को सहमत होना पड़ता है। इसके आरंभ में तो विषय-सूची है और अंत में ग्रंथ की रचनाप्रणाली के संबंध में टिप्पणियाँ हैं जिनके कारण सारे ग्रंथ में एकता और सामंजस्य आ जाता है; और सारे ग्रंथ में अन्यान्य प्रकरणों तथा आलोच्य विषयों का उल्लेख है, जिसके कारण इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता कि यह समस्त ग्रंथ एक ही रचयिता या लेखक का लिखा हुआ है। डा० जोली जब यह कहते हैं कि जिस रूप में आजकल यह ग्रंथ हम लोगों को प्राप्त है (और हम अपनी ओर से इतना और भी कह सकते हैं कि कुछ दोषपूर्ण पाठों तथा प्रतिलिपि करनेवालों के प्रमादों के कारण होनेवाली

भूलों को छोड़कर) ठीक उसी रूप में है जिस रूप में वह लगभग ई० सन् ४०० में वर्तमान था (पृ० ८, ९, १२.)। तंत्राख्यायिका में दिए हुए ३० उद्धरण तथा परवर्ती ग्रंथों में दिए हुए उद्धरण यह बात अच्छी तरह प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार विवादात्मक प्रश्न केवल यही रह जाता है कि अर्थशास्त्र की रचना ई० पू० ३०० और ई० प० ४०० के बीच में कब हुई थी। एक और बात है जिससे यह सीमा और भी संकुचित हो जाती है; और वह बात यह है कि डा० जोली की यह भी सम्मति है और बहुत ठीक सम्मति है कि वात्स्यायन ने जिस समय कामसूत्र की रचना की थी, उस समय अर्थशास्त्र उसके सामने था। और कामसूत्र की रचना का समय वे चौथी शताब्दी या उसके लगभग मानते हैं; और इसी लिये वे अर्थशास्त्र का रचना काल ई० तीसरी शताब्दी रखते हैं (पृ० २९-४३)।

ईसवी तीसरी शताब्दी के पक्ष में दलीलें

रचना काल ईसवी तीसरी शताब्दी होने के पक्ष में डा० जोली की दलीलें इस प्रकार हैं—

(१) एक श्लोक (नवं शरावं आदि) ऐसा है जो कौटिल्य में भी है और भास में भी; और कौटिल्य ने उसे उद्धरण के रूप में दिया है जिससे यह सिद्ध होता है कि उसने यह श्लोक अवश्य ही भास से लिया है, जिसका समय ईसवी तीसरी शताब्दी है (पृ० १०.)।

(२) अपने धर्मों या कानूनों के संबंध में कौटिल्य और याज्ञवल्क्य एक दूसरे से सम्मत हैं, उनमें किसी प्रकार का मत-भेद नहीं है। इसलिये यही कहना पड़ता है कि याज्ञवल्क्य की कही हुई बातों को कौटिल्य ने सूत्रों का रूप दे दिया है (पृ० १७.)। और याज्ञवल्क्य का समय भी वही अर्थात् ई० तीसरी शताब्दी है (पृ० ४७.)।

(३) महाभाष्य में अर्थशास्त्र का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

(४) अर्थशास्त्र में जीवन-यापन की उन्नत अवस्थाओं का विस्तृत विवरण दिया है; और उसकी तुलना में महाभारत का राजधर्म तथा धर्मसूत्र एक प्रकार से बहुत ही आरंभिक अवस्था के हैं (पृ० ३०.)।

(५) अर्थशास्त्र का रचयिता पुराणों से परिचित था।

(६) कामशास्त्र के एक प्रकरण वैषिक का कौटिल्य ने उल्लेख किया है (पृ० ३२.)।

(७) अर्थशास्त्र का रचयिता संस्कृत व्याकरण के पारिभाषिक शब्द जानता था और वह अष्टाध्यायी से परिचित था (पृ० ३२.)।

(८) अर्थशास्त्र का रचयिता फलित ज्योतिष तथा भविष्य-कथन आदि से परिचित था और अर्थशास्त्र में दो ग्रहों के नाम आए हैं।

(९) वह शुल्बधातुशास्त्र (ताँबे के संबंध के धातुविज्ञान) नामक एक ग्रंथ से परिचित था (पृ० ३३.)।

(१०) वह खनिज-विद्या, वास्तु-विद्या, आय-व्यय-शास्त्र तथा रत्नों और कीमिया आदि से संबंध रखनेवाले अनेक पारिभाषिक ग्रंथों से परिचित था। उसका ग्रंथ मौलिक रचना करनेवाली प्रतिभा का फल नहीं था, बल्कि ऐसे समय में उसकी रचना हुई थी जब कि राजनीतिक क्षेत्र में बहुत दिनों से साहित्यिक रचना होती आई थी; और उसका रचना काल बहुत पहले न मानने का एक और कारण यह भी है (पृ० ३३.)।

(११) 'मुद्राराक्षस' में उल्लिखित मंत्री राक्षस संभवतः एक कल्पित व्यक्ति है; तो फिर कौटिल्य भी उसी प्रकार का कल्पित व्यक्ति क्यों न माना जाय (पृ० ३४.) ? यूनानियों ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया है। उस समय एक नए राजवंश का आरंभ हो चुका था; और इसी लिये उस समय पुरानी बातों और व्यक्तियों के संबंध में लोग अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लग गए होंगे (पृ० ३४.)।

(१२) कौटिल्य ने कीमिया का जिक्र किया है और भारतीय विज्ञान के वृक्ष में इस फल की उत्पत्ति पीछे से हुई थी (पृ० ३४.)।

(१३) कौटिल्य ने सुरंग का वर्णन किया है जो यूनानी शब्द Syrinx से निकला है।

(१४) मेगास्थिनीज के लेखों तथा अशोक के शिला-लेखों में भारतवर्ष का जो वर्णन दिया है, उसमें भारत उतनी

उन्नत दशा में नहीं दिखाई देता जितनी उन्नत दशा में वह अर्थ-शास्त्र के वर्णन से जान पड़ता है (पृ० ३१.)।

अर्थात् अर्थशास्त्र के रचयिता को खानों पर राज्य के एकाधिकार, टकसाल के निरीक्षकों, धातुओं, खनिज-विद्या, सिक्के बनाने की रासायनिक योग्यता तथा आभूषणों आदि का ज्ञान था; पर मेगास्थिनीज ने केवल पाँच धातुओं का उल्लेख किया है और स्ट्रैबो कहता है कि भारतवासियों को खानें खोदने तथा धातुएँ आदि गलाने का कोई अनुभव नहीं है।

(१५) अर्थशास्त्र में लिखे हुए लेखों आदि का उल्लेख है, पर मेगास्थिनीज कहता है कि भारतवासी लिखना नहीं जानते।

(१६) मेगास्थिनीज ने सिक्कों पर की वृत्ति या कर और जूए तथा मादक द्रव्यों के कर तथा सड़कों पर लगनेवाले कर का कोई उल्लेख नहीं किया है; पर अर्थशास्त्र में इन सब बातों का वर्णन है।

(१७) मेगास्थिनीज के जिन वर्णनों से अर्थशास्त्र के वर्णनों का मेल मिलता है, उन वर्णनों से कुछ भी प्रमाणित नहीं होता; क्योंकि अर्थशास्त्र में आई हुई बातें चीनी यात्रियों तथा एलबरूनी की बतलाई हुई बातों से भी मिलती हैं।

(१८) पाटलिपुत्र का कहीं उल्लेख नहीं है (पृ० ४३.)। रचयिता के भौगोलिक वर्णन तथा दृष्टिकोण से पता चलता है कि यह ग्रंथ दक्षिण भारत में लिखा गया था, जहाँ से यह पाया गया है।

(१९) अर्थशास्त्र में कौटिल्य की सम्मति उसके नाम से दी गई है। यह अर्थशास्त्र में दी हुई अपदेश की व्याख्या के अंतर्गत आता है और इससे सिद्ध होता है कि स्वयं कौटिल्य ने यह ग्रंथ नहीं लिखा था।

(२०) दूसरे लोगों की जो सम्मतियाँ उद्धृत की गई हैं, वे कल्पित हैं और उनके नाम महाभारत से लिए गए हैं (पृ० ३१,४४.)।

जोली की दलीलों की जाँच

(१) नवं शरावंवाला श्लोक एक प्रसिद्ध पुराना श्लोक है, जिसका व्यवहार युद्धक्षेत्र में सैनिकों को उत्साहित करने के लिये किया जाता था। सैनिकों को उत्साहित करने की प्रथा इतिहास-काल के आरंभ से ही चली आती है। इस श्लोक का आधार एक बहुत प्राचीन विश्वास है और इसके द्वारा उसी का स्मरण होता है। वह विश्वास यह है कि जो सैनिक स्वामिनिष्ठ नहीं होते, वे नरक में जाते हैं। यदि हम एक बात पर विचार करें, तो उससे यह प्रमाणित हो जायगा कि यह संभव नहीं है कि यह श्लोक कौटिल्य ने भास से लिया हो, बल्कि उसने यह श्लोक किसी और ही ग्रंथ से लिया होगा; और जैसा कि अपीह श्लोकौ भवतः से सूचित होता है, वह श्लोक उस समय बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित रहा होगा। वह बात यह है कि कौटिल्य ने दो श्लोक दिए हैं; और नवं शरावं

वाला श्लोक उनमें से दूसरा है, और वह पहले श्लोक के बाद आता है (१०. ३.)। बिना पहले श्लोक के यह दूसरा श्लोक अधूरा ही रहता है। भास में केवल अंतिम या दूसरा ही श्लोक दिया है। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने वह श्लोक भास से लिया होगा ?

(२) यह कथन बहुत सत्य है कि धर्मों या कानूनों आदि के संबंध में याज्ञवल्क्य और कौटिल्य में बहुत अधिक समानता है। अपने टैगोर लेक्चरों में मैंने इस विषय का विवेचन किया है। यहाँ मैं केवल एक ही ऐसा प्रमाण दूँगा जिससे याज्ञवल्क्य के पहले होने के प्रश्न का पूर्ण रूप से निराकरण हो जायगा। कौटिल्य ने एक शब्द 'युक्त' का व्यवहार किया है, जिसका अर्थ अधिकारी या अफसर है और जो अशोक के शिलालेख में 'युत' रूप में आया है। जब तक अर्थ-शास्त्र प्रकाशित नहीं हुआ था, तब तक इस युत शब्द का अर्थ कोई समझ ही नहीं सका था; क्योंकि अर्थशास्त्र के बाद के साहित्य में इस शब्द का व्यवहार बिलकुल उठ ही गया था। अर्थशास्त्र में युक्त शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ था, वह अर्थ याज्ञवल्क्य की समझ में ही नहीं आया था। अर्थशास्त्र में लिखा है—युक्त कर्म चायुक्तस्य; अर्थात् अयुक्त का युक्त कर्म। इसका अभिप्राय है—जो व्यक्ति अफसर या अधिकारी नहीं है, उसका किया हुआ ऐसा काम जो किसी अफसर या अधि-कारी को करना चाहिए। डा० शाम शास्त्री ने अपने अर्थ-

शास्त्र के पहले संस्करण के विषय-प्रवेश (के पृ० १०.) में यही अर्थ बतलाया है। कौटिल्य का ठीक ठीक अभिप्राय न समझने के कारण ही याज्ञवल्क्य ने यह भूल की है। कौटिल्य ने जहाँ युक्त शब्द का व्यवहार किया है, वहाँ याज्ञवल्क्य ने योग्य, उचित या वाजिब (अयोग्यो योग्यकर्मकृत्, २. २३५.) शब्द का व्यवहार किया है; और जहाँ कौटिल्य ने अयुक्त शब्द दिया है, वहाँ याज्ञवल्क्य ने अयोग्य शब्द रख दिया है। इस बात का निराकरण केवल यही मानने पर हो सकता है कि याज्ञवल्क्य ने कौटिल्य के दिए हुए नियमों को पद्यबद्ध किया और वह कई स्थानों पर उसका ठीक ठीक अभिप्राय नहीं समझ सका। डा० जोली यह कहकर इस बात में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि किसी से हलफ लेकर बयान देने के लिये कहना नियमानुमोदित न होने के कारण अयोग्य या अनुचित था; और इसलिये इन दोनों बातों में जो अंतर है, वह नाम मात्र का है। परंतु नाम मात्र के अंतर के आधार पर बहुत कुछ खींच-तान करके भी कोई व्यक्ति अयोग्यो योग्यकर्मकृत्—अयोग्य व्यक्ति ऐसा काम करता है जो किसी योग्य व्यक्ति के द्वारा होना चाहिए—का क्योंकर स्पष्टीकरण कर सकता है?

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अनेक स्थानों पर पद्यों का भी व्यवहार किया है। यदि उसे याज्ञवल्क्य से ही सब बातें लेनी थीं, तो फिर उसने पद्यों या श्लोकों को सूत्र रूप में क्यों परिणत किया? सूत्रों को ही पद्यबद्ध करना अधिक बुद्धिमत्ता-

पूर्ण कार्य है; और याज्ञवल्क्य ने यही काम किया था। इसके विपरीत आचरण करने की कल्पना के पक्ष में कोई अच्छा कारण या प्रमाण नहीं दिया गया है।

याज्ञवल्क्य का समय ईसवी तीसरी शताब्दी माना जाता है; और उस समय तक युक्त शब्द का पारिभाषिक अर्थ इतना लुप्त हो गया था कि एक धर्मशास्त्र का रचयिता भी उसे नहीं समझ सका था। इससे यह बात सिद्ध होती है कि अर्थ-शास्त्र का समय ईसवी दूसरी या तीसरी शताब्दी से कुछ शताब्दियों पूर्व होना चाहिए।

(३) इससे पहले कि हम महाभाष्य के मौन के आधार पर कोई सिद्धांत स्थिर करें, यह दिखलाए जाने की आवश्यकता है कि अमुक अवसर पर अर्थशास्त्र का उल्लेख होना चाहिए था। बहुत से वैदिक ग्रंथ ऐसे हैं जिनका पतंजलि ने कोई उल्लेख नहीं किया है। परंतु केवल इसी कारण कोई यह नहीं कह सकता कि वे ग्रंथ पतंजलि से पहले थे ही नहीं। पतंजलि साहित्य का कोई इतिहास लिखने नहीं बैठे थे।

(४) धर्म-सूत्रों में केवल धर्म या कानून का विवेचन है, परंतु अर्थशास्त्र में अर्थ संबंधी सिद्धांतों और नियमों का उल्लेख है। धर्म-सूत्रों का विषय राजनीति-विज्ञान नहीं है, बल्कि धर्म या कानून है। अर्थशास्त्र का मुख्य विषय ही राजनीति है, और धर्म-सूत्रों में उसका उल्लेख प्रासंगिक मात्र है; इसलिये काल-निर्णय की दृष्टि से इन दोनों की कोई तुलना हो ही

नहीं सकती। हमें यह कहने में बहुत संकोच होता है कि महाभारत में राजधर्म का जो स्वरूप दिया गया है, वह बिलकुल अपनी आरंभिक या गर्भावस्था का है। उसके जिस अंश में राजधर्म का सिद्धांत रूप में विवेचन किया गया है, वह अंश अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक विकसित या उन्नत है। और फिर यदि किसी लेखक का लेख किसी दूसरे लेखक के लेख की अपेक्षा कम अच्छा या घटकर है, तो उसके कारण उन दोनों के काल में किसी प्रकार का विपर्यय नहीं हो सकता। डा० जोली के लेक्चरों के बाद के कुछ टैगोर लेक्चर बहुत घटकर हैं, पर केवल इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि डा० जोली के लेक्चरों की अपेक्षा टैगोर लेक्चर पहले के या पुराने हैं।

(५) सब से प्राचीन धर्म-सूत्र के कर्ता को भी पुराणों का ज्ञान अथवा परिचय था। आपस्तम्ब (२. २४. ६. पृ० ६८.) में भविष्य पुराण का उल्लेख है और फिर २. ६. २३. ३. में 'पुराण' शब्द आया है। पार्जिटर के अनुसंधानों के अनुसार भविष्य पुराण का अस्तित्व बहुत पहले था। यहाँ तक कि छांदोग्य उपनिषद् (२. ३.) में भी पुराण का उल्लेख है।

(६) दत्तक ने पाटलिपुत्र में वात्स्यायन से भी पहले वैषिक लिखा था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह या और कोई वैषिक ई० पू० ३०० से पहले नहीं लिखा गया था।

(७) पाणिनि से परिचित होना यह सिद्ध नहीं कर सकता कि कौटिल्य का समय ई० पू० ३०० से बाद का है।

(देखो ऊपर पृ० ४५ का नोट)। साथ ही अर्थशास्त्र में आए हुए नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात (२. १०.) वाले पाणिनि से पहले के प्रयोगों पर भी (देखो मैक्डोनल कृत History of Sanskrit Literature पृ० २६७) ध्यान देना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि पाणिनि के पारिभाषिक शब्द जितने अधिक पतंजलि के समय में और उसके उपरांत प्रचलित हुए थे, उतने स्वयं पाणिनि के समय में नहीं हुए थे।

(८) भविष्य-कथन तो अथर्व वेद के समय में भी प्रचलित था। यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि फलित ज्योतिष की उत्पत्ति या आरंभ मेसोपोटामिया में हुआ था*। यूनानियों और हिंदुओं दोनों ने यह विद्या एक ही मूल या उद्गम से ग्रहण की थी। दो ग्रहों के उल्लेख मात्र से ही काल-क्रम संबंधी कोई दलील नहीं खड़ी की जा सकती। यूनानी फलित ज्योतिष तथा परवर्ती भारतीय साहित्य में जिस रूप में ग्रहों का उल्लेख है, उस रूप में अर्थशास्त्र में उनका उल्लेख नहीं है; और इससे इसी पक्ष की पुष्टि होती है कि अर्थशास्त्र और पहले का बना हुआ है। जैसा कि प्राप्त द्रव्यों (अंक-चिह्नित सिक्कों और पाटलिपुत्र तथा अन्यान्य स्थानों में मिले हुए बरतनों) से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है, जिस देश में सिकंदर और चंद्रगुप्त के समय से शताब्दियों पूर्व ताँबे के

* J. B. O. R. S. १९१९. पृ० ६६४. इंडियन एंटीक्वेरी; १९१८. पृ० ११२.

सिक्के, चाँदी के सिक्के, मिश्र धातुओं के सिक्के, श्वेत धातु या निकल, जो कि पंजाब में सिकंदर के सामने लाया गया था, काँसे, लोहे, शीशे आदि के द्रव्य बनते रहे हों, उस देश के लोग धातु-विज्ञान से और विशेषत: ताँबे की चीजें बनाने की विद्या से अवश्य ही परिचित रहे होंगे। अभी हाल में राय साहब एम० घोष ने पाटलिपुत्र में मौर्य स्तर में से ढला हुआ लोहा निकाला है। डा० स्पूनर और राय साहब ने पाटलिपुत्र में शीशे की ढली हुई ऐसी मोहरें ढूँढ़ निकाली हैं, जिन पर मौर्य काल और उससे भी पहले की लिपियों के अक्षर बने हुए हैं (J. B. O. R. S. सितंबर, १९२४.)। यहाँ के लोगों को सात धातुओं का पता तो यजुर्वेद के समय में ही था (वाजसनेयि संहिता, १८. १३. और २३. ३७.)।

(९-१०) यह दलील अर्थशास्त्र में दिए हुए उद्धरणों के सिद्धांत के विपरीत है। यदि उससे पहले इस विषय का बहुत कुछ साहित्य तैयार हो चुका था, तो ये उद्धरण बिलकुल स्वाभाविक हैं। यदि सिकंदर से पहले भी इस विषय के ग्रंथ वर्तमान थे, तो कौटिल्य प्रत्येक विज्ञान का आरंभ यूनानी आक्रमण के बाद से नहीं रख सकता था। हमारे विद्वान् अनुसंधानकर्ता ने यह नहीं बतलाया है कि इस प्रकार के विवेचनात्मक ग्रंथों के अस्तित्व के कारण ही यह कैसे कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र का समय बहुत बाद का है और बहुत पहले का नहीं है।

(११) यह बात प्रमाणित नहीं की गई है कि मन्त्री राक्षस एक काल्पनिक व्यक्ति था। एक अज्ञात बात के आधार पर दूसरी अज्ञात बात स्थिर कर लेना कभी तर्क-सम्मत नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाय कि एक मंत्री काल्पनिक था, तो उससे और सब मंत्री भी किस प्रकार काल्पनिक सिद्ध हो सकते हैं? यदि यूनानियों ने कौटिल्य का कोई उल्लेख नहीं किया है, तो यह कौटिल्य का दुर्भाग्य ही है। यूनानियों के उल्लेख न करने से किसी व्यक्ति का विशिष्ट महत्व घट सकता अथवा नष्ट हो सकता है; पर उससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उस व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं था। इसके सिवा पहले आप यह तो बतलाइए कि यूनानियों के अर्थात् मेगास्थिनीज के लिखे समस्त लेख या ग्रंथ आदि कहाँ हैं। किसी नए राजकुल की स्थापना से पौराणिक ढंग की बातों की कल्पना की भी जा सकती है और साथ ही नहीं भी की जा सकती; अथवा किसी एक विषय में तो कल्पना की जा सकती है और शेष विषयों में नहीं भी की जा सकती।

(१२) डा० जोली इस हिंदू सिद्धांत से परिचित हैं कि भारत में कीमिया की विद्या का आरंभ ईसवी सन् से पहले ही हो चुका था*। जो हो, पर अभी तक यह बात प्रमाणित नहीं

---

* अलबेरूनी (१७) में ईसवी सन् से पहले ही व्याडि का नाम दिया हुआ है। व्याडि से पहले भी कुछ लोग अवश्य ही हुए होंगे।

हो सकी है कि सब से पहले इस विद्या का उदय या आरंभ कहाँ हुआ था। कीमिया के संबंध में परवर्ती भारतीय साहित्य में हमें कुस्तुंतुनिया (रूम) का नाम मिलता है; और यदि हम अर्थशास्त्रवाली कीमिया का संबंध परवर्ती कीमिया से स्थापित करें, तो हमें और नीचे उतरकर मुसलमानी काल तक आना पड़ेगा। इसलिये जोली को यह नई कल्पना करनी पड़ेगी कि कदाचित् इसका मूल यूनानी-सीरियक था और ईसवी पहली शताब्दी में उसके आरंभ की कल्पना करनी पड़ेगी। परंतु एक कल्पना या अनुमान से दूसरी कल्पना या अनुमान प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इससे पहले तो यह प्रमाणित होना चाहिए कि कीमिया का आरंभ भारतवर्ष से नहीं हुआ था और भारत ने यह विद्या यूनानी-सीरियक मूल से ही सीखी थी, और कहीं से नहीं सीखी थी। ईसवी सन् ३०० से पहले भारत-वर्ष में कीमिया की विद्या का प्रचलित होना ही यह बतलाता है कि हमें उसके अरबी मूलवाले सिद्धांत को छोड़ देना चाहिए, और यह मान लेना चाहिए कि उसका आरंभ इससे और पहले और कहीं हुआ था; अब वह आरंभ चाहे भारत में हुआ हो और चाहे किसी और देश में हुआ हो। इसके सिवा हम और कोई बात स्थिर ही नहीं कर सकते, क्योंकि वर्तमान अवस्था में इससे अधिक और कुछ सिद्ध ही नहीं हो सकता। परवर्ती साहित्य में रूम और बर्बर का जो उल्लेख है, उसका संकेत किसी दूसरे और बाद के आयात के संबंध में होना चाहिए।

(१३) सिकंदर के समय में भारत में मुहासिरा या घेरा डालने के समय सुरंगों का व्यवहार हुआ करता था। सिकंदर के समय से पहले भी और बाद भी कौटिल्य जीवित था; इसलिये वह इस शब्द का बहुत अच्छी तरह व्यवहार कर सकता था। इसके सिवा सिकंदर के समय से पहले ही कुछ यूनानी भारतीय सीमा पर तथा फारसवालों की अधीनता में पंजाब में रहते थे; क्योंकि भारत में बने हुए फारसवालों के सिक्कों पर यूनानी अक्षर पाए जाते हैं (देखो पहले पृ० ३४१)।

(१४) अशोक के शिलालेख कहीं यह नहीं कहते कि हम शासन-प्रणाली का गजेटियर दे रहे हैं। जब कि हमें मौर्य-काल के और उससे भी पहले के सिक्के, गहने (अर्थात् पाटलिपुत्र में मिली हुई बढ़िया सोने की अँगूठी), ढला हुआ लोहा और शीशे की ढली हुई मोहरें मिल चुकी हैं, तब क्या कोई व्यक्ति यूनानियों के इस कथन को कुछ भी महत्व दे सकता है कि हिंदू लोग धातुओं को गलाना नहीं जानते थे? स्वयं यूनानी ही कहते हैं कि चंद्रगुप्त के सामने बढ़िया गुलदान या गमला रहता था और उसके महल में सोने का एक वृक्ष बना हुआ था। यदि मेगास्थिनीज ने केवल पाँच ही धातुओं का उल्लेख किया है, तो यही कहना पड़ेगा कि जिस प्रकार और और बातों (जैसे सात जातियाँ, लेखन-कला आदि आदि) के संबंध में उसे बहुत कम ज्ञान था, उसी प्रकार इस संबंध में भी उसका ज्ञान बहुत कम था। सात धातुओं का उल्लेख तो खाली यजुर्वेद

में ही है। मेगास्थिनीज की मूल पुस्तक के अभाव में हम यह नहीं कह सकते कि वास्तव में उसने क्या कहा था और भारतवर्ष के किस प्रांत के संबंध में कहा था।

(१५) मेगास्थिनीज स्वयं कहता है कि सड़कों पर दूरी जानने के लिये बहियाँ या रजिस्टर रखे रहते थे और पत्थर भी लगे होते थे। जातकों में ऐसी गोटियों का उल्लेख है जिन पर लेख लिखे रहते थे। मोहरें और अशोक के शिला-लेख भी यह बात प्रमाणित करते हैं कि मौर्य काल में लोग लेखन-कला से परिचित थे और उसका यथेष्ट व्यवहार करते थे। क्या यह संभव है कि लेखन-कला एकाएक सिकंदर के आने के साथ ही प्रकट हो जाती? दो ही पीढ़ियों के बाद अशोक ने सारे भारत में अपने शिलालेख खुदवाए थे; (क्या यूनानी लोग उन लेखों को पढ़ते थे और उनका आशय भारतवासियों को समझाते थे ?) और उसके पिता बिंदुसार ने यूनानी राजा को पत्र लिखा था। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि यह कहना बिलकुल निराधार है कि भारतवासी लेखन-कला से परिचित नहीं थे।

(१६) मेगास्थिनीज ने लिखा है कि बिक्री की चीजों पर कर लगता था। इसमें अर्थशास्त्र में कही हुई चुंगी और दूसरे सब साधारण कर आ जाते हैं। और फिर मेगास्थिनीज का ग्रंथ भी तो हमारे सामने नहीं है।

(१७) यदि मेगास्थिनीज और अर्थशास्त्र की बातों के मिलान से कोई बात प्रमाणित नहीं हो सकती, तो फिर दोनों

की बातों में मिलान न होने से कैसे कोई बात प्रमाणित हो सकती है ?

(१८) पाटलिपुत्र का कोई उल्लेख न होने के कारण कोई बात प्रमाणित नहीं होती। इसमें संदेह नहीं कि कौड़ियों, हीरों, रत्नों और मोतियों के लिये दक्षिण का व्यापार-मार्ग बहुत महत्वपूर्ण था। साथ ही अर्थशास्त्र में काशी, नेपाल, कुकुर, लिच्छवि, मल्ल, कांबोज, कुरु, पांचाल, सुराष्ट्र और मद्र आदि का भी उल्लेख है। उसका दृष्टिक्षेत्र प्रधानतः उत्तरी ही था, अर्थात् उसने उत्तर भारत में बैठकर ही सब कुछ लिखा था।

बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ दक्षिण में मिले हैं। क्या उन सबके रचयिता (जैसे भास आदि) केवल इसी कारण दक्षिण के मान लिए जायँगे ?

(१९) स्वयं अर्थशास्त्र से यह बात सिद्ध होती है कि वह प्राचीन ग्रंथों के आधार पर लिखा गया है और उसमें सूत्र तथा भाष्य दोनों एक ही में मिले हुए हैं। इसलिये प्रत्येक सूत्र, जिसमें स्वयं रचयिता का मूल मत हो, आवश्यक रूप से अपदेश हो गया। जैसा कि फ्लीट ने बतलाया है और प्रत्येक हिंदू जानता है, इस देश में यह प्रथा बहुत प्राचीन काल से बराबर अब तक प्रचलित है कि रचयिता अपने ग्रंथ में स्वयं अपना नाम देता चलता है। विदेशियों को यह बात भले ही ठीक न जँचती हो, पर इस देश के लिये तो यह एक बहुत ही साधारण बात है।

(२०) जैसा कि महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री (अर्थशास्त्र की प्रस्तावना) ने बतलाया है, विशालाक्ष और बृहस्पति के उद्धरण साहित्य में अब तक कहीं कहीं मिलते हैं। हम इसका एक और प्रमाण देते हैं। बंबई के पं० नाथूराम प्रेमी ने नीतिवाक्यामृत की जो टीका प्रकाशित की है, उसमें तथा ऊपर (पृ० १०) कहे हुए मानव अर्थशास्त्र में शुक्र (उषनस्) और बृहस्पति के उद्धरण मौजूद हैं।

इन सब उद्धरणों को देखते हुए कोई कभी यह नहीं कह सकता कि अर्थशास्त्र में जिन आचार्यों का उल्लेख है, वे कल्पित हैं।

जोली ने कुछ निराधार विचारों की उपेक्षा करके बहुत ठीक किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने और लोगों की भाँति यह नहीं कहा है कि अर्थशास्त्र की शैली बहुत प्राचीन ढंग की नहीं है; अथवा उसके भौगोलिक उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उसका रचना काल बहुत बाद का है*।

---

* अर्थशास्त्र में चीन का उल्लेख है, पर यह कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में दरद अथवा हिमालय के दूसरे प्रदेशों के साथ चीन का प्रायः उल्लेख मिलता है; और उसका अभिप्राय गिलगित्त की शीन नामक जाति से है जिसका अब तक यही नाम है; और इस जाति के लोग शहतूत के वृक्ष लगाते और रेशम तैयार करते हैं। देखो Encyclopaedia Brittanica में चीन संबंधी लेख और Linguistic Survey of India (खंड १०. भाग ४. पृ० ५. नोट) में सर जार्ज ग्रियर्सन ने इनका जो पता लगाया है। ["पर मैं यह कहूँगा कि इसमें (मनु १०. ४४.) तथा इस प्रकार के और वाक्यों में उस बड़ी शीन जाति का उल्लेख है जो गिलगित्त में और उसके आसपास अब तक बसती है।"]

(३) रचना-काल ई० पू० चौथी शताब्दी होने के संबंध में कुछ नई दलीलें

अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे प्रमाण भी हैं जिनका निर्वाह केवल उसी दशा में हो सकता है, जब कि हम उसका रचना-काल ई० पू० चौथी शताब्दी ही मानें।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि इन चीन लोगों का मूल क्षत्रियों से ही माना जाता था। वे लोग ऐसी भाषा बोलते थे जो संस्कृत से निकली हुई थी; क्योंकि अर्थशास्त्र में कहा गया है कि चीन देश में जो रेशमी वस्त्र बनते हैं, वे कौशेय और चीनपट्ट कहलाते हैं। न तो कौशेय ही और न पट्ट (सं० पत्र) ही चीनी भाषा का शब्द है। जिस वर्ग में चीन का उल्लेख है, उस वर्ग की और सब जातियाँ हिमालय की ही हैं। इनमें से यह अकेली चीन जाति ही हजारों मील की छलाँग भरकर आधुनिक चीन देश में नहीं पहुँच सकती। उसी प्रकरण (११. २.) में चीन-शीपरों या चमड़ों का उल्लेख है और कहा गया है कि यह बाल्हव से आता था, जो भट्टस्वामिन् के अनुसार हिमालय का एक देश है। गिलगित्त और काश्मीर में अब तक चमड़ा और रेशम दोनों होते हैं।

शिन में च और श (शीन-चीन) का विपर्यय साधारणतः हुआ ही करता है; उदाहरणार्थ पुश्-पुच्।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र (पृ० ७८) में आए हुए आलकंद शब्द का, शब्द-रचना के एक भ्रमपूर्ण सिद्धांत के आधार पर, आधुनिक एलेक्जेंड्रिया के साथ संबंध स्थापित करके भूल की जाती है। एलेक्जेंड्रिया का रूप तो अलसद्दा होता है, जैसा कि मिलिन्द पन्हो में है। अर्थशास्त्र में मूँगे के एक भेद को आलकंदक कहा गया है। संस्कृत में जड़ की तरह हर एक चीज को कंद कहते हैं। मूँगे के कंद को भी कंद ही कहेंगे। या आल का अर्थ है पीला; और आलकंदक का अर्थ होगा— 'मूँगे का वह कंद (जड़) जिसका रंग कुछ पीलापन लिए हुए हो'।

(१) उसमें 'युक्त' शब्द आया है जिसका प्रचार केवल मौर्य काल में ही था; और प्रजातंत्रों या गणों के संबंध की नीति स्थिर करते समय उसमें जो भौगोलिक दृष्टिकोण रखा गया है, उसका संबंध भी केवल मौर्य काल से ही हो सकता है। ई० पू० पहली शताब्दी और ई० प० पहली या दूसरी शताब्दी में कोई ऐसा "राजा" नहीं था (जिसके लिये कौटिल्य ने संघ-वृत्त-नीतिवाला प्रकरण लिखा है) जिसके अधिकार में विदेह से अफगानिस्तान तक का प्रदेश रहा हो।

(२) अब 'युग' शब्द लीजिए जिसका अर्थ पाँच वर्ष है (२. २०.)। ज्योतिष वेदांग में यह शब्द इसी अर्थ में आया है। उसके पहले की शताब्दियों के साहित्य में, जिसमें मानव धर्म-शास्त्र भी सम्मिलित है, यह शब्द इस अर्थ में नहीं आया है।

(३) अब प्रमाण रूप में वह वाक्य लीजिए जिसमें कहा गया है कि वर्षा का आरंभ श्रावण से होता था (श्रावण प्रोष्ठ-पदश्च वर्षा) अर्थात् उसके रचयिता के समय में वर्षा ऋतु का आरंभ श्रावण मास से होता था, आजकल की तरह आषाढ़ के मध्य से नहीं होता था। अब नियम यह है कि प्रत्येक शताब्दी में ऋतु प्रायः डेढ़ दिन पीछे हटती है—

"इस अंतर के कारण सिकंदर या अशोक के समय में वर्षा का आरंभ आजकल की अपेक्षा ठीक एक महीने पहले हुआ करता होगा* ।"

---

* कनिंघम कृत Indian Eras पृ० ३.

(४) इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में उसी स्थान पर लिखा हुआ है—'आषाढ़े मासि नष्टच्छायो मध्याह्नो भवति'। यह बात केवल उत्तर पाटलिपुत्र में ही बैठकर लिखी जा सकती है, दक्षिण में बैठकर नहीं लिखी जा सकती।

(५) राजनीतिक दृष्टि से तो पता चलता ही है कि ग्रंथ की रचना मौर्य काल में हुई थी। इसके अतिरिक्त यह मानने के लिये कुछ और भी आधार हैं कि यह ग्रंथ परवर्ती मौर्य काल में नहीं लिखा जा सकता था। अर्थशास्त्र (३. २०.)* में शाक्य और आजीवक बहुत निम्न कोटि के बतलाए गए हैं और उनकी गणना शूद्र संन्यासियों या त्यागियों के वर्ग में की गई है। पर उस समय उनकी स्थिति ऐसी गिरी हुई नहीं हो सकती थी। अशोक या उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में यह कभी संभव नहीं था कि ऐसे नियम या कानून बनाए जाते जो उन्हें समाज की दृष्टि में गिरानेवाले होते। पतंजलि ने यह कहकर मौर्यों की दिल्लगी उड़ाई है कि वे धन (स्वर्ण) के बड़े लोलुप या उपासक थे। अर्थशास्त्र से भी इस कथन का समर्थन होता है, क्योंकि उसमें लिखा है कि मौर्य राजा लोग धन-प्राप्ति के लिये अर्चा या पूजा किया करते थे †। पर अशोक तो ऐसा काम कभी कर ही नहीं सकता था, क्योंकि

---

* म्यूनिक की हस्तलिखित प्रति; शाम शास्त्री का अनुवाद; पृ० २५१. नोट।

† इंडियन एंटीक्वेरी, १९१८, पृ० ५१.

वह बहुत बड़ा विवेकशील था और उसके विचार इस विषय में परम धार्मिक थे। उसके उत्तराधिकारी भी धार्मिक विचारोंवाले ही थे। इसलिये पतंजलि और अर्थशास्त्र का यह कथन या तो चंद्रगुप्त के संबंध में होगा और या बिंदुसार के संबंध में; और कौटिल्य ने इन दोनों ही राजाओं के समय में राजसेवा की थी।

सनातनी विचारोंवाले ब्राह्मण साहित्य तथा उसके विपरीत नए विचारोंवाले जैन और बौद्ध साहित्यों में भी यही कहा गया है कि कौटिल्य चंद्रगुप्त का मंत्री था। बौद्ध और जैन ग्रंथों में यही कहा गया है कि वह भारी दुष्ट या लुच्चा था, सिक्कों को खराब करनेवाला और धन-लोलुप था, राजाओं को परास्त किया करता था और लोगों की हत्या किया करता था, आदि आदि। इसके विपरीत पुराणों से यह सिद्ध होता है कि वह एक बहुत ही सुयोग्य मंत्री था। भला किसी कल्पित व्यक्ति के गुण-दोषों के संबंध में इस प्रकार की विपरीत और विरोधी बातें कैसे कही जा सकती हैं? हमारी समझ में तो उसकी यह निंदा और उसका भद्दा गोत्र नाम ये दोनों ही उसके ऐतिहासिक अस्तित्व के प्रमाण हैं। यदि हम अर्थशास्त्र को ध्यानपूर्वक देखें, तो हमें पता चल जायगा कि क्यों सनातनी साहित्य में उसकी इतनी प्रशंसा की गई है और क्यों बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में उसकी इतनी निंदा की गई है। वह सनातनियों के विरोधियों का दमन करता था; और इसी लिये वे उसे खराब कहा करते थे।

(६) यदि चंद्रगुप्त के अस्तित्व के संबंध में पुराणों का कथन ठीक उतरता है, तो फिर कौटिल्य के संबंध में भी हम उन्हें क्यों न प्रामाणिक समझें ? और यदि कौटिल्य किसी समय वर्तमान था, तो फिर हम क्यों न यह बात मान लें कि यह ग्रंथ उसी का लिखा हुआ है ? और वह भी विशेषतः ऐसी दशा में जब कि ग्रंथकर्ता से संबंध रखनेवाला ग्रंथ का अंतिम से पहला श्लोक कामंदकवाली प्रति में उपस्थित था और उसने अपनी प्रस्तावना में उसका अन्वय किया है ।

(जोली ने भी बिना कोई कारण बतलाए हुए ही यह माना है कि उस श्लोक की रचना भी उसी समय हुई थी, जिस समय स्वयं ग्रंथ की रचना हुई थी* ।)

(७) यदि यह ग्रंथ वात्स्यायन से भी पहले उपस्थित था और कामंदक ने इसे कौटिल्य का रचा हुआ बतलाया है, तो जो व्यक्ति इसे किसी दूसरे व्यक्ति का रचा हुआ बतलाता है, उसी व्यक्ति पर यह प्रमाणित करने का भार आ पड़ता है कि यह ग्रंथ दूसरे का रचा हुआ है; और साथ ही यह प्रमाणित करने का भार भी उसी पर होता है कि अर्थशास्त्र में दिए

---

* रचयिता का नाम बतलानेवाला पहला श्लोक दंडीवाली प्रति में भी था, जिसने उससे ठीक पहले ग्रंथ का परिमाण दिया है और कहा है कि इस ग्रंथ की रचना मौर्य के लिये विष्णुगुप्त ने संक्षिप्त रूप में की थी; और उसने अर्थशास्त्र के प्रायः वही शब्द उद्धृत किए हैं जो उस श्लोक में और उससे पहलेवाले वाक्य में दिए गए हैं ।

हुए जिस प्रमाण का समर्थन वात्स्यायन और कामंदक, दंडी और मेधातिथि, पंचतंत्र और तंत्राख्यायिका से होता है, वह प्रमाण ठीक नहीं है।

(८) यदि कोई व्यक्ति किसी धर्मशास्त्र की रचना करके उसे किसी ऋषि का रचा हुआ बतलावे, तो इसमें उसका कोई हेतु हो सकता है; पर इस प्रकार की पुस्तक की रचना करके उसे किसी दूसरे की रचित बतलाने में कोई हेतु नहीं हो सकता। और फिर कौटिल्य कोई ऋषि नहीं था। अर्थशास्त्र संबंधी जो ग्रंथ पहले बने थे, उनके रचयिता ऋषि थे। यदि कोई पंडित यह ग्रंथ लिखकर उसे किसी दूसरे का लिखा हुआ बतलाना चाहता, तो वह उसे किसी ऋषि का रचा हुआ बतलाता और कोई ऐसा नाम बतलाता जिससे समाज का बहुत बड़ा अंश (बौद्ध और जैन) घृणा न करता होता।

(९) पुराणों में चंद्रगुप्त का एक दूसरा नाम नरेंद्र भी दिया हुआ मिलता है*। केवल इस बात का ही प्रमाण नहीं है कि रचयिता का नाम ग्रंथ में दिया हुआ है, बल्कि इस बात का भी प्रमाण है कि राजा नरेन्द्र का नाम भी उसमें दिया हुआ है; क्योंकि अर्थशास्त्र में इस बात का आदेश किया गया है कि लक्षणों पर नरेंद्रांक अंकित होना चाहिए (५. ३. पृ० २४७. साथ ही देखो नरेंद्रांक २.१०.)।

(१०) केवल आरंभिक मौर्यों का साम्राज्य ही ऐसा

* इंडियन एंटीक्वेरी, १९१८. पृ० ५५.

हो सकता था जो महाविसि (= वेद का महावृष)* के आयात और निर्यात (अर्थशास्त्र २.११.), अफगानिस्तान (Arachosia) की दाख की शराब मृद्वी, शिबि के नाप और तौल के उपकरणों, एक ही समय में मेकला और मगध, एक ही साथ उत्तरापथ और दक्षिणापथ का ध्यान रख सकता था और जो गंधार देश को बदनाम करने के लिये (पाटलिपुत्र से ही) दंड की व्यवस्था कर सकता था (देखो पहले पृ० २५७ का दूसरा नोट)। और अर्थशास्त्र में जितना अधिक आर्थिक तथा सैनिक ज्ञान भरा पड़ा है, वह सब ज्ञान किसी बहुत उच्च कोटि के मंत्री को ही हो सकता था। स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने के लिये और ऐसे पुरुषों को जिनके परिवार का भरण-पोषण करनेवाला कोई न बच रहता हो, भिक्षु या साधु बनाने के लिये दंड की व्यवस्था (२.१.) केवल पहले दो सम्राटों के आरंभिक मौर्य शासन में ही हो सकती थी। किसी राजा की अविवाहिता कन्या को किसी राजकुमार के लिये ले लेना (जब कि शुंग काल में ही अर्थात् मानव धर्मशास्त्र में नियोग तक की निंदा की गई है), जिन महाकाव्यों का हमें ज्ञान है, उनसे भिन्न महाकाव्यों का ज्ञान आदि आदि बातें यह सूचित करती हैं कि इस ग्रंथ की रचना बहुत पहले और शुंग काल से भी पूर्व हुई थी।

पृ० ७.—ईसवी चौथी और पाँचवीं शताब्दी के ग्रंथ और कामंदकीय का रचना काल।

---

* मैकडॉनल और कीथ २.१-२.१४२.३४६.

राजनीतिरत्नाकर के उद्धरणों से सूचित होता है कि उस समय कोई नारदीय राजनीति नामक ग्रंथ भी था (देखो राजनीतिरत्नाकर की प्रस्तावना, १९२४. पृ० ५.) ।

महाभारत सभापर्व में नारद राजनीतिक ज्ञान के आचार्य कहे गए हैं और कामंदक को उनका पता नहीं है । इस प्रकार संभवतः नारदीय राजनीति की रचना छठी शताब्दी से पहले और कामंदक के उपरांत हुई होगी ।

जोली और विंटर्निज ने (जोली का अर्थशास्त्र, पृ० ४६.) कामंदक को आठवीं शताब्दी में रखा है, पर उसका समय आठवीं शताब्दी नहीं ठहराया जा सकता । वह महाभारत से पहले का है, क्योंकि (१) महाभारत में नारद का उल्लेख है । (२) जिस समय महाभारत (शांतिपर्व) लिखा गया था, उस समय तक महर्षियों की लिखी हुई अर्थशास्त्र संबंधी पुस्तकें नष्ट हो चुकी थीं, पर कामंदक ने उन पुस्तकों का उपयोग किया था, जैसा कि ऊपर (पृ० ६ का अंतिम नोट) बतलाया गया है । (३) नारद की साधारण शैली (देखो नारदस्मृति*) गुप्त काल की सूचक है । (४) इस संबंध में भवभूति के ज्ञात काल से हमें और अधिक सहायता मिलती है । महा० पं० गणपति शास्त्री ने (अर्थशास्त्र २. प्रस्तावना पृ० ५.) बहुत योग्यता-

---

* देखो नारद की सिक्कों या मुद्रा के संबंध की व्यवस्था (परि० ५६-६०) जिसका प्रसार पंजाब तक है और जो दीनार तक से परिचित था ।

पूर्वक सिद्ध कर दिया है कि कामंदक के ग्रंथ से भवभूति परिचित था। वह कामंदक को केवल जानता ही नहीं था, बल्कि उसने उसके संबंध में ऐसे ढंग से लिखा है जिससे सूचित होता है कि उसके पाठक भी, बुद्धरक्षित और अवलोकित की भाँति, कामंदकी से भी बहुत भली भाँति परिचित थे, उसे मान्य ग्रंथ समझते थे और उसकी बातें अच्छी तरह समझ सकते थे। कामंदक ने अपना ग्रंथ भवभूति (आठवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध) से कुछ शताब्दियाँ पूर्व प्रकाशित किया होगा। महाभारत के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि कामंदक कम से कम ईसवी पाँचवीं शताब्दी में हुआ होगा। उसकी इससे पहले की सीमा संभवतः तंत्राख्यायिका है, जो कामंदक से परिचित नहीं है; अर्थात् तंत्राख्यायिका का समय कामंदक से कुछ पूर्व का है। अर्थशास्त्र और कामंदक के बीच में समय का बड़ा अंतर है; क्योंकि अर्थशास्त्र में के कई विषयों को कामंदक ने पुराना समझकर छोड़ दिया है; और कामंदक ने कई ऐसे ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का उल्लेख किया है, जिनका अर्थशास्त्र में कहीं उल्लेख नहीं है।

गुप्त काल में चंद्रगुप्त मौर्य की स्मृति फिर से जाग्रत होती है, क्योंकि उस काल में राजपरिवार के माता-पिता चंद्रगुप्त के नाम पर ही तीन बार अपने पुत्रों के नाम रखते हैं। गुप्त राजवंश के एक चंद्रगुप्त के समय में विशाखदत्त ने जो नाटक लिखा था, उसमें उसने चंद्रगुप्त मौर्य की तुलना विष्णु से की

थी (इंडियन एंटीक्वेरी, १९१३. पृ० २६५.)। कौटिल्य में जो चंद्रगुप्तीय राजनियम बतलाए गए हैं, वे नारदस्मृति में भी प्राय: ज्यों के त्यों दिए गए हैं। कामंदकीय नीतिसार में चंद्र-गुप्त का अर्थशास्त्र पद्यबद्ध करके गृहीत किया गया है। उसमें चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की तरह पाटलिपुत्र से एक बहुत बड़ा साम्राज्य स्थापित करने की कामना की गई है, जो बाद में कुछ अंशों में पूरी भी हुई थी। कालिदास ने, जो गुप्त काल में हुए थे, कहा है कि पृथ्वी केवल मगध के सम्राट् के कारण ही राज-न्वती अर्थात् "न्यायशील राजावाली" होती है।* (रघुवंश)।

पृ० ८.—अठारहवीं शताब्दी के ग्रंथ।

इस प्रकार के ग्रंथों में वाचस्पति मिश्र का राजधर्म भी सम्मिलित किया जा सकता है (देखो राजनीतिरत्नाकर की प्रस्तावना, पृ० यू)। नीतिवाक्यामृत की टीका (जिसका समय उसकी प्राप्त हस्तलिखित प्रति के सं० १४६३ से पहले का ही होगा; उक्त ग्रंथ की प्रस्तावना) भी इस वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है। यह टीकाकार सनातन से चले आए हुए धर्मशास्त्र के सिद्धांतों तक ही परिमित नहीं रहता है। यह सोमदेव के समस्त मूल साधनों का उल्लेख करता है; और सच पूछिए तो यह टीका अर्थशास्त्र का एक संक्षिप्त रूप ही है।

---

* इस कथन में कालिदास ने काल संबंधी एक भूल की है। मगध में एकराज का शासनारंभ बहुत बाद में वसु के समय से हुआ था (जरनल बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १); परंतु वह इस घटना को रघु के समय की बतलाता है।

पृ० ६.—पुष्कर।

विष्णुधर्मोत्तर (२) के राजनीतिविज्ञान संबंधी कथोपकथन में भी पुष्कर का नाम आया है। संभवतः यह कोई कल्पित और आदर्श पुरुष था; वास्तव में कोई ग्रंथकार नहीं था।

पृ० ११.—देशी भाषाओं के ग्रंथ।

हितोपदेश और पंचतंत्र के आधार पर लल्लूलाल ने हिंदी में राजनीति नामक एक ग्रंथ लिखा था।

पृ० १६.—गाँवों पर जुरमाना।

देखो वशिष्ठ धर्मसूत्र ३.४.—

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचराद्विजाः।
तं ग्रामं दंडयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः॥

पृ० २७.—न सा सभा।

यह नारद (१.१८.) में भी दिया हुआ है।

पृ० ३३.—गण।

वेदों में गण शब्द "सैनिकों का समूह" के अर्थ में आया है। यथा—

व्रातं व्रातं गणं गणम्। (ऋग्वेद ३.२६.६.)

पृ० ६३.—प्रजातंत्रों के अंक और लक्षण।

स्वयं लञ्छ शब्द भी लक्ष से हो सकता है, जिसे ग्रियर्सन ने Spontaneous nasalisation कहा है (ज० रा० ए० सो० १९२२. पृ० ३८१. पादटिप्पणी।)

'अंक' के लिये अर्थशास्त्र ५.३. पृ० २४७. में देखो—कृत-नरेंद्रांकम् शस्त्रावरणमायुधागारम् प्रवेशयेत् ।

पृ०.८२.—फैसलों का लिपिबद्ध होना (नजीरों की पुस्तक)।

जातक में भी इस प्रकार की नजीरों की पुस्तक का उल्लेख है। देखो जातक (३.२९२.) जिसमें इस बात का उल्लेख है कि न्यायालय की नजीरें लिखी जाती थीं। "विनिच्चये पोत्थकम् लेखापेत्वा।" कदाचित् वशिष्ठ भी १६.१०. में नजीरों का ही उल्लेख करता है।

पृ० ८२.—अष्टकुलक।

देखो Epigraphic Indica १५.१३६. जिसमें बतलाया गया है कि अष्टकुल-अधिकरण नगर की पंचायत या प्रबंध समिति के अधिकारी या अफसर होते थे; और आगे चलकर इस ग्रंथ के दूसरे भाग का परिशिष्ट घ तथा जानपद और पौर संबंधी प्रकरण।

पृ० ८४.—लेच्छई।

रिच्च से लिच्छ भी हो सकता है और लिक्ख भी; पर लिच्छवि (विशेषतः जैन हिज्जे लेक्खइ) के लिये हम ऐसे रूप पाते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि इसका मूल लिक्षु से है, जिसका अर्थ लीक (क्षुद्र कीट) है। मनु का दिया हुआ निच्छवि रूप किसी प्रांतीय बोली में का होगा; और इस प्रकार की प्रवृत्ति विशेषतः पूर्वी भारत में होती है।

पृ० ९३ का दूसरा नोट—शवति।

शव = संस्कृत। च्यव, आवेस्ता का श्यव।

पृ० ११७.—जौहर।

जैसा कि कुछ लोगों ने बतलाया है, या तो यह शब्द जतु-घर (महाभारत का जतुगृह या लाख का बना हुआ महल, जो पांडवों को फँसाने और जलाने के लिये बनाया गया था) से निकला है और या इससे भी अधिक उपयुक्त इसकी उत्पत्ति जमघर से जान पड़ती है जिसका अर्थ है मृत्यु या यमराज का घर। कान्हड़ दे प्रबंध (एक प्राचीन राजस्थानी ग्रंथ) पृ० ६४ में जौहर शब्द का रूप जमहर मिलता है। (मुझे यह बात डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने बतलाई है।)

पृ० १२६.—"समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से मत देने का अधिकार था;"—नागरिक और अनागरिक।

पतंजलि के एक कथन से यह बात स्पष्ट है कि गण में दास और शिल्पी या कारीगर हुआ करते थे; और ऐसे लोगों के लिये नामों के उन विशिष्ट रूपों का व्यवहार नहीं हो सकता था जिनसे यह सूचित होता था कि वे किसी विशिष्ट गण के नागरिक हैं—नैतत्तेषां दासे वा कर्मकरे वा (देखो ऊपर § ३१. पृ० ४८ का दूसरा नोट)। इससे सूचित होता है कि दासों और कारीगरों को मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं होता था। मौचिकर्ण लोग अपने राज्य में कोई दास नहीं रखते थे। (इसी लिये मेगास्थिनीज का यह प्रवाद प्रचलित है कि भारत में दास बिलकुल नहीं होते थे।)

पृ० १३१.—का पहला नोट। कौणिंद और कनेत।

सर जार्ज ग्रियर्सन का भी यही मत है कि कनेतों को ही कुणिन्दों का प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी नहीं समझना चाहिए (Linguistic Survey of India खंड ९. पृ० ६. नोट)। कनेत रूप ही शुद्ध है और मैंने स्वयं सिमी (शिमला) में इस बात की जाँच की थी।

पृ० १४१.—वाहीकों का शारीरिक संघटन।

वाहीकों की शारीरिक गठन के संबंध में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके सनातन धर्म के परित्याग और नवीन धर्म ग्रहण करने के कारण कदाचित् वे लोग महायान संप्रदाय के बौद्ध हो गए थे। महाभारत ने वाहीकों की बहुत निंदा की है; और उनके संबंध में एक व्यंग्यपूर्ण गीत उद्धृत किया है, जिसमें यह बतलाया गया है कि उनकी स्त्रियाँ भारी डील डौलवाली होती थीं और मांस उनका प्रिय खाद्य पदार्थ था। "इस शाकल नगर में मैं कब फिर वाहीकों का गीत गाऊँगा और फिर कब मैं सुंदर वस्त्र धारण करके गौर वर्ण की विशाल शरीरवाली स्त्रियों के साथ मिलकर बकरी, सूअर, गौ, मुर्गे, गधे और ऊँटों का ढेर सा मांस खाऊँगा? जो लोग मांस नहीं खाते, उनका जीवन व्यर्थ है।" "इस प्रकार वहाँ के निवासी मद्यपान करके गाते हैं। ऐसे लोगों में धार्मिक भाव किस प्रकार पाया जा सकता है?"

जिस समय कर्णपर्व का ४४वाँ अध्याय लिखा गया था, जान पड़ता है कि, उस समय तक वे लोग सनातन धर्म का परित्याग करके कोई दूसरा नया धर्म—कदाचित् बौद्ध धर्म—ग्रहण कर चुके थे; क्योंकि उसमें लिखा है—"वाहीक लोग जो कभी यज्ञादि नहीं करते और जिनका धर्म नष्ट हो चुका है, वेदरहित हैं और उन्हें ज्ञान नहीं है"। शतपथ ब्राह्मण के समय (१.७. ३. ८. ग्रियर्सन कृत Linguistic Survey of India ४. नोट ८.) वे वैदिक धर्म के ही अनुयायी थे और उपनिषद् काल में भी उनका वही धर्म था; क्योंकि एक उपनिषद् में कहा गया है कि श्वेतकेतु धर्म संबंधी शास्त्रार्थ करने के लिये पंजाब गया था। और पाणिनि के समय में भी उनका धर्म वैदिक ही था।

पृ० १५०.—मद्र देश।

...य मध्य युग में पंजाब और विशेषतः उसका उत्तरी भाग मद्र... द्र देश कहलाता था। गुरु गोविंदसिंह ने अपने विचित्र नाटक में कहा है कि वे अपनी जन्मभूमि पटने से मद्र देश या पंजाब में लाए गए थे।

पृ० १७८.—शलाका।

संभवतः अँगरेजी के Pin शब्द से शलाका का पूरा पूरा आशय नहीं निकलता। विशेषतः हिंदुओं के पासे या अक्ष-शलाका का तो उससे बिलकुल ही अर्थ नहीं निकलता। शलाका वास्तव में लकड़ी के चौकोर और लंबोतरे टुकड़े की होती थी जो बहुत आसानी से मुट्ठी में आ सकती थी।

पृ० २४६.–यौधेय सिक्कों पर का लेख भगवतो स्वामिन(:)। शुद्ध लेख ब्रह्मण्य-देवस्य (C. C. I. M. १८१-८२. C. A. I. पृ० ७८.) जान पड़ता है। ब्रह्मण्य किसी यौधेय राजा का नाम नहीं है (रैप्सन; जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी; १६०३. पृ० २६१.), बल्कि देवता का नाम है, कुछ सिक्कों में जिसके छः सिर दिखलाए गए हैं और जो कार्त्तिकेय हैं, जैसा कि स्वयं रैप्सन ने निश्चित किया है।

पृ० २५३.—मालव सिक्के।

एक ही स्थान पर कई ऐसे सिक्के पाए गए हैं जिन पर एक ही एक नाम मिलता है और जिन पर साधारणतः मालव गण का कोई लेख नहीं मिलता। ऐसे सिक्के मालवों के बतलाए जाते हैं (C. C. I. M.१६३.१७४—१७७.) कदाचित् वे उस राज्य या शक्ति के सूचक हैं जिसने [illegible] दबा लिया था। वे नाम भी एक प्रकार से पहेली [illegible] हैं। उदाहरणार्थ मरज, जमपय, पय, मगज। ये सब नाम दूसरे शब्दों के संक्षिप्त रूप जान पड़ते हैं। जैसे मरज = महाराज; मिलाओ महाराय (पृ० १७७.)। जम और यम शब्द प्रायः देखने में आते हैं (पृ० १७४. १७६. जमपय और तब फिर केवल पय)। मपोजय, मपय और मगज (पृ० १७५.१७६.) कदाचित् महा (महाराज) जय, मा (महाराज) पय और म (महाराज) गज हैं। इसी प्रकार मगजस = म (महाराज) गज (गजस), गज गजव = गजप; मगो (इसे ग पढ़ना चाहिए) जव = म.

गजप; मपक = म. पक; मा (इसे म पढ़िए) शप = मा० सर्प; मगच्छ = म. गच्छ; मजुप = म. जुप (यूप) भपंयन (प्लेट २०-२४.) को मैं भंपायन पढ़ता हूँ।

पृ० २५४.—५५.—देश की अपेक्षा स्वतंत्रता का अधिक प्रिय होना।

देखिए मनु ७.२१२.

"राजा को अपनी रक्षा के लिये निःसंकोच भाव से अपना देश तक छोड़ देना चाहिए, चाहे वह देश कितना ही अधिक स्वास्थ्यकर जलवायुवाला, उपजाऊ और पशु, धन आदि से परिपूर्ण क्यों न हो।" (बुहलर)

पृ० २५७ का दूसरा नोट—सनकानीक। उदय गिरि के वैष्णव गुहामंदिर भिलसा (ग्वालियर) में गु० सं० ८२. (ई० सन् ४०१-२) का एक शिलालेख मिला है जो चंद्रगुप्त द्वितीय के एक मांडलिक सनकानीक महाराज का है। वह एक महाराज का पुत्र और एक महाराज का प्रपुत्र था। Gupta Inscriptions. पृ० २५.

पृ० ३००.—(§ १८७) गणों का मानव-विज्ञान।

देखो आर० चंद कृत Indo-Aryan Races. (राजशाही, १९१६.) पृ० २४, २५. २४०, २४१.